

80

जनवरी-जून, 2021



मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

ISSN 0974-0066

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.no.-15

संरक्षक

प्रो. जनक दुलारी आही
कुलपति

प्रधान सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

सम्पादक

प्रो. भवतोष इन्द्रगुरु
प्रो. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव
डॉ. आशुतोष कुमार मिश्र

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. छबिल कुमार मेहेर



डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (मध्यप्रदेश) - 470003

दूरभाष : (07582) 297133

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

सम्पादकीय परामर्श मण्डल

- प्रो. ए.एन. शर्मा
- प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी
- प्रो. अशोक अहिरवार
- प्रो. दिवाकर राजपूत
- प्रो. डी.के. नेमा
- प्रो. नागेश दुबे
- डॉ. अनुपमा कौशिक
- डॉ. प्रकाश जोशी

मध्य भारती

मानविकी एवं समाजविज्ञान की द्विभाषी शोध-पत्रिका

अंक-80, जनवरी-जून 2021

ISSN 0974-0066 (पूर्व-समीक्षित अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका)

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

UGC Care List, Group-C (Multi disciplinary), Sl.no.-15

प्रकाशित रचनाओं के अभिमत से डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है तथा यहाँ प्रकाशित आलेखों की 'प्लेजियरिज्म' (Plagiarism) सम्बन्धी शुचिता की जिम्मेदारी लेखकों की है।

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

मध्य भारती

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर - 470003 (म.प्र.)

सदस्यता शुल्क	आजीवन	रु. 2000/-
	प्रति अंक	रु. 150/-
व्यक्तिगत	व्यक्तिगत	रु. 200/-
	संस्थागत	रु. 4000/-

दूरभाष : (07582) 297133

ई-मेल : madhyabharti.2016@gmail.com

आवरण : डॉ. छबिल कुमार मेहेर

मुद्रण :

अमन प्रकाशन

कटरा नमक मंडी, सागर (म.प्र.)

अनुक्रमणिका

साहित्य में व्यक्ति और समाज का रूपांतरण राजेन्द्र यादव	7
भोजपुरी लोक में वैकल्पिक इतिहासबोध की वाचिक परम्परा राघवेन्द्र प्रताप सिंह	16
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-बोध विवेकानन्द उपाध्याय	24
छत्तीसगढ़ की प्राचीन कला संस्कृति मोहन लाल चढ़ार	31
शिक्षा, बच्चे एवं मानसिक स्वास्थ्य : एक सामयिक सन्दर्भ संजय शर्मा एवं विवेक जायसवाल	36
भारत में जनहित याचिकाओं की प्रासंगिकता और उपलब्धियां राघवेन्द्र प्रताप सिंह	42
मानवाधिकारों के संरक्षण एवं संवर्धन में नागर समाज की भूमिका मिथिलेश कुमार	49
भारत के ग्रामीण विकास में ग्रामीण पर्यटन का योगदान राजबहादुर अनुरागी	56
बालरामायण में सामाजिक सद्भाव रामहेत गौतम	65
हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्याकरणिक-चिन्तन चन्दन तिवारी	73
सिलसिला ए चिश्ती और हिन्दुस्तानी मौसिकी आकाश जैन	81

गोवा मुक्ति आन्दोलन में सागर की सहोदरा राय की भूमिका <i>बी.के. श्रीवास्तव</i>	93
रामविलास शर्मा की इतिहास दृष्टि <i>आशुतोष</i>	101
Paris Climate Agreement, COVID-19 and India's Dilemma of Competing Priorities <i>Shri Prakash Singh & Akshay Kumar Singh</i>	107
E-Content : Teaching Through Web <i>Harel Thomas</i>	121
Internal Marketing to Ethical Internal Marketing <i>Astha Dewan</i>	131
Women in Gandhi's Swaraj with Special Reference to Raja Rao's Kanthapura <i>Nishtha Saxena</i>	137
Girish Karnad's Yayati : A Tale of an Old Man's Lechery and an Un-heroic Filial Sacrifice <i>R. T. Bedre</i>	146
Rama Mehta's Inside the Haveli : A Study in Relation to the Feminist Perspectives <i>Rashmi Singh</i>	151
A Neuro Scientific Perspective on Universal Harmony <i>Preeti Wadhwani</i>	158

Poststructuralist Method : A Study in Cross-Cultural Application <i>Vandana Rajoriya</i>	166
A Utopian Setting with Non-Utopian Characters : A Study of Parent-Child Relation in Boy Meets Boy by David Levithan <i>Neha Pillay and Shashank Gupta</i>	176
Exemptions and Limitations Under Patent Laws in India : An Analytical Study <i>Jagdish Wamanrao Khobragade</i>	181
History in Fiction : A Note on Rohinton Mistry's Representation of Post-Independence India <i>Devendra Rankawat</i>	189
The Unnoticed Rock Art of Simdega, Jharkhand : An Introductory Archaeological Study <i>Seema Mamta Minz, Mshkoor Ahmad Quadri, Baleshwar Besra</i>	197
Foundations of Aesthetics : Abhinavagupta and Hegel Reconsidered <i>Shraddha Singh</i>	204
Medicinal Plants of Jammu and Kashmir <i>Romasa Shukla</i>	211
A Descriptive Study of Ethnic Media & Indianness Among the Indian Diasporic Communities in Fiji <i>Anuj Kumar Singh</i>	224

Understanding the Life-style and Cultural Aspect of Sahariya Tribal Women : An overview (with special reference to Shivpuri district of M.P.)	231
---	-----

Deepak Kumar Rajak

Comparison of Thumbprint of Office Workers and Mines Workers with the help of Trasoscan Imaging System	237
--	-----

Chhote Raja Patle and Devasish Bose

पुस्तक-समीक्षा चिन्मय भारत की जातीय अस्मिता और जयशंकर प्रसाद अम्बिकादत्त शर्मा	245
--	-----

साहित्य में व्यक्ति और समाज का रूपांतरण

राजेन्द्र यादव

“रचनाकार का कर्म अपनी भावनाओं में अपनी प्रेरणा में, अपने आंतरिक संस्कारों में समाज सत्य मर्म को ढालना उसमें अपने को पाना है और पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है।” - शमशेर बहादुर सिंह

पाश्चात्य आलोचक क्रोचे के अनुसार “व्यक्ति के मन में बाहरी संसार के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न अनेक भाव चित्र रहते हैं, उसमें अनुभूति की तीव्रता के कुछ क्षण ऐसे आते हैं; जब व्यक्ति इन छायाचित्रों को अपने पर प्रकट करने के लिए विवश हो जाता है।” व्यक्ति की इसी विवशता में साहित्यिक सृजन का मूल प्रेरणा केन्द्र स्थित होता है। जिसके द्वारा रचना में व्यक्ति और व्यक्ति में समाज का रूपांतरण होता है। इस तरह जब व्यक्ति के चित्त में घूमने वाले छाया चित्रों को अपने पर प्रकट करता है तो मानो आवेगों और आंदोलनों को बस में कर लेता है।

गहन अनुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा और मस्तिष्क में आनन्द की प्रसव वेदना अविभूत होती है, उसी का उच्छलन रचना होती है। साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति वह मूल तत्व है, जिसके कारण कोई व्यक्ति, साहित्यकार और उसकी रचना साहित्य बन पाती है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से नहीं बल्कि मानव जीवन से है, उसके आसपास से है, उसके समाज से है। बाहरी दुनिया, समाज के कुछ प्रभाव घटनाएँ या दृश्य जो बहुत गहरे स्तर पर व्यक्ति मन को प्रभावित करते हैं और अनुभूति के चरम पर पहुँचकर अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं। यह रचनाकार के मनोहृदय में फिर पुनः प्रविष्ट होता है और अपने अनुभव को मस्तिष्क के साथ विचार स्थिति में रखकर अभिव्यक्त कर वह एक नये रूप में नये अर्थ में रचना में व्यक्ति तथा व्यक्ति में समाज को ध्वनित करता है।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम एक नहीं अनेक हैं किन्तु आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ द्वारा होती है उसे ‘साहित्य’ कहते हैं। आमतौर पर रचना में देखा जाए तो रचनाकार ही अधिक दृष्टव्य होता है किन्तु ऐसा नहीं कि उसमें समाज नहीं होता है। व्यक्ति अकेला कोई इकाई नहीं है और वह अकेला समाज भी नहीं है, तब रचना में व्यक्ति अकेला कैसे हो सकता है? उसके साथ उसका जीवन उसके अनुभव सुख-दुख आदि की अनुभूतियाँ भी संलग्न रहती हैं, जो एक व्यक्ति में ही उसका परिवार, गाँव और समाज बसाए होती हैं। यही जीवन का समाज रचनाकार के हृदय को गहरे अनुभूति के धरातल पर प्रभावित करता है, जिसके परिणामस्वरूप रचना होती है और उस रचनाकार की रचना में हमें रचनाकार से सम्बद्ध उसका समाज,

उसकी पड़ताल, उसका अन्वेषण, उसके निष्कर्ष आदि भी दिखाई देते हैं। यह इस बात को स्वतः सिद्ध करते हैं कि रचना में एक व्यक्ति ही शामिल होता है, किन्तु उस व्यक्ति में समाज आवश्यकतानुसार रचना के द्वारा रूपांतरित होता है। इस तरह एक रचनाकार में रचना के सृजन के मूल में समाज, रचनाकार का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्राकृतिक समाज रूपांतरित होकर रचना के केन्द्र में उसका विषय बनता है। मुक्तिबोध अपने एक लेख 'सौन्दर्य-प्रतीति' में लिखते हैं कि "हम जिस समाज, संस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रहते हैं, उन सब का प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है। हमारी आत्मा में जो कुछ है वह समाज प्रदत्त है - चाहे वह निष्कलुष अनिघ सौन्दर्य का आदर्श ही क्यों न हो। हमारा व्यक्तित्व हमारी आत्मा है। आत्मा का सारा सार-तत्त्व प्राकृत रूप से सामाजिक है।"¹ अतः रचना में व्यक्ति के द्वारा उसकी चेतना के माध्यम से उसके सम्पूर्ण परिवेश का रूपांतरण होता है।

साहित्य और जीवन

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अटूट है। अतः साहित्य जीवन से अलग नहीं है। हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं - "साहित्य को एक जीवन्त गतिशील प्रक्रिया और रचनाकर्म को सामाजिक व्यवहार का एक विशिष्ट रूप मानने के बाद रचनाकार, रचना, पाठक और उनके सामाजिक संदर्भ का आपसी सम्बन्ध नए रूप में हमारे सामने आएगा। इसके बाद ही समाज की व्यापक इतिहास प्रक्रिया के अंतर्गत मनुष्य के सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवहार के अंग के रूप में साहित्य की विकासशीलता का अनुशीलन हो सकता है।"² प्रसिद्ध कथाकार और हिन्दी साहित्य के स्तम्भ प्रेमचन्द्र ने साहित्य को जीवन की आलोचना माना है। उन्होंने लिखा है - "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें सच्चा चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, जो हममें गति और संघर्ष और बैचेनी पैदा करे।"³ जिसमें सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो ऐसा साहित्य समाज से, जीवन से अलग कैसे हो सकता है। साहित्य और जीवन एक सिक्के के दो पहलू हैं।

हैनरी हडसन के अनुसार "साहित्य जीवन के भावों और विचारों को भाषा के द्वारा व्यक्त करने का माध्यम है।" मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "Porty at bottem is a criticism of life" साहित्य और जीवन दोनों का क्षेत्र बहुत व्यापक है, किन्तु मैं कह सकता हूँ साहित्य और जीवन दोनों एक दूसरे में समाहित होते हैं। अतः साहित्य सीधा जीवन से आता है इसीलिए साहित्य में किसी-न-किसी रूप में जीवन ही व्यक्त होता है। जीवन या समाज से परे साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आध्यात्म, दर्शन, भक्ति, प्रेम, योग कुछ भी जीवन से परे नहीं सब जीवन के ही अंग हैं। साहित्य प्रत्येक देश के मानव मन के भावों, विचारों, अनुभूतियों का चित्र होता है। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के समाज और जीवन का दर्पण होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य और कुछ नहीं, जीवन की ही आत्म कहानी है, तो अन्यथा न होगा।

रचना का परिवेश

यह सत्य है कि जिस प्रकार व्यक्ति अपने इतिहास का निर्माण उसी परिवेश विशेष में करता है जिसमें वह रहता है अथवा जिससे वह प्रतिबद्ध है, उसी प्रकार साहित्य की रचना भी रचनाकार के परिवेश में ही रूपाकार ग्रहण करती है। रचना के समय के परिवेश की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक स्थितियों तथा उसमें मान्य सांस्कृतिक और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ-साथ रचनाकार के परिवेश की आर्थिक परिस्थितियाँ भी रचना को प्रभावित करती हैं। इन सबका मिला-जुला प्रभाव रचनाकार के मनोमस्तिष्क पर पड़ता है और वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाता है, जहाँ रचनाकार संवेदनशील होकर उस समग्र प्रभाव को किसी-न-किसी रूप में

व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यहाँ यह बात महत्वपूर्ण है कि रचना परिवेश और काल के धरातल पर रचित जरूर होती है, किन्तु वह परिवेश और काल की ही वस्तु नहीं होती। अपितु वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी हो सकती है। “देशकाल की सीमा में व्यक्ति का सम्बन्ध एक विशिष्ट और विशेष संस्कृति से होता है परन्तु कविता इस सीमा से परे जाकर भी एक विशिष्ट आनन्द देती है। जिस कवि में संस्कृतियों के जितने ही आयाम अधिक होंगे, वह कवि उतनी ही बहुमुखी प्रतिभाओं का धनी होगा।”⁴ हालाँकि रचनाकार सावधान और संवेदनशील होता है। उसकी संवेदनशीलता सामान्य व्यक्ति से व्यापक होती है और वह अपने समस्त परिवेश से लगातार जुड़ा रहता है। रचनाकार केवल अपने तक सीमित नहीं होता, उसका कल्पित संसार और स्थूल संसार दोनों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस तरह वह समाज तथा प्रकृति के सम्पूर्ण परिवेश से रचना की सामग्री का रूपांतरण करता है।

रचनाकार का समाज

समाज एक व्यापक इकाई है जिसमें रचनाकार जीता है, लेकिन यह इकाई अनेक वर्गों में विभाजित रहती है। “रचनाकार भी समाज के किसी वर्ग से सम्बद्ध होता है। उस वर्ग विशेष की विशिष्टताएँ, न्यूनताएँ, परम्परा, रूढ़ियाँ, विश्वास प्रचलन उसे निरन्तर प्रभावित करते चलते हैं। इन सबसे रचनाकार की मानसिकता का निर्माण होता है। इससे उसकी दृष्टि एक निश्चित आकार ग्रहण करती है। रचनाकार के परिवार का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ता है।”⁵ अतः रचनाकार भी उस समाज का अभिन्न अंग होता है, जिसमें रहकर वह आरम्भ से लेकर अंत तक जीवन जीता है। इस अर्थ में केवल लेखक ही समाज को उसकी अच्छाईयों-बुराईयों को समझता है, समाज में उसके साथ जीने वाले सभी लोग अपने समय के समाज से पूर्णतः परिचित होते हैं। लेखक या रचनाकार समाज को उसकी पूरी संवेदना के साथ आत्मसात कर अभिव्यक्त करता है। इसलिए रचनाकार की अनुभूति पुनः समाज में प्रसारित होती है। रचनाकार केवल निजी अनुभवों को ही आत्मसात नहीं करता बल्कि वह दूसरे लोगों के अनुभवों को भी अपने भीतर समेटता है और अभिव्यक्त करता है। ये अनुभव ही उसकी रचना और संवेदना को समाज से जोड़कर समृद्ध बनाते हैं। अतः मैं कह सकता हूँ कि रचनाकार अपने समाज को ही रचना में अपनी कल्पना और बुद्धि के संयोग से उद्घाटित करता है। “रचना का परिवेश वह समाज है जिसमें, जिसके साथ रचनाकार जीता है और जिससे वह प्रभावित होता है। जिसके दबावों-तनावों के बीच उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियाँ रूप लेती हैं, पनपती हैं और विकसित होती हैं।”⁶

रचनाकार के समय का समस्त राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक परिवेश भी रचना को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करता है। इसके साथ-साथ शिक्षा, इतिहास, दर्शन, भाषा आदि भी परिवेश के मुख्य अंग होते हैं, जो रचना को भी प्रभावित करते हैं। “रचनाकार जिस संस्कृति में जीता है उस का विश्व दर्शन भी उसके परिवेश का एक अंग होता है” क्योंकि वह उसकी मानसिकता को बनाता है, वह रचना का ढांचा खड़ा करता है जिसके भीतर उसके मनोभावों का घात-प्रतिघात एक ऐसा तनाव पैदा करता है, जो रचना की सर्जना का कारण बनता है। समाज और उसके परिवेश के सभी प्रभाव रचनाकार द्वारा रचना में व्यक्त हों, जरूरी नहीं, वे अदृश्य रूप में भी काम करते रहते हैं और रचना को परिवेश की ध्वनि से परिपूर्ण करते हैं। हम परिवेश को रचना में व्यक्त होने तक ही सीमित नहीं रख सकते, क्योंकि समाज के परिवेश की बहुत-सी बातें सिर्फ अनुभूति तक ही अनुभूत होती हैं और उसी रूप में रचना में व्यक्त होती हैं, किन्तु उनकी उपस्थिति का संकेत रचना में प्रतिष्ठित रहता है। रचना में व्यक्त और अव्यक्त परिवेश अलग-अलग ढंग से कार्य करते हैं और उनकी क्रियाशीलता के क्षेत्र और उन की विधियों को समझ लेने पर पूरे परिवेश के साथ रचनाकार का

सम्बन्ध एक नया रूप ले लेता है और नवीन आधार भूमि पर स्थापित हो जाता है। एक बात मैं स्पष्टतः कह सकता हूँ कि जहाँ तक रचना कर्म का सवाल है हमारे परिवेश की चेतना एकाधिक स्तरों पर सक्रिय होती है। इन क्रियाओं को समझना ही सही मायने में परिवेश को समझना है।

रचना के परिवेश के अन्तर्गत समाज के साथ-साथ प्राकृतिक परिवेश भी सम्मिलित होता है। प्राकृतिक परिवेश से मनुष्य के सम्बन्ध का विस्तार से विचार हुआ है। पश्चिम की चिन्तन परम्परा और उन्नीसवीं सदी तक का तथाकथित वैज्ञानिक चिन्तन, जिसने मनुष्य और प्रकृति के बीच विरोध का ही सम्बन्ध देखा, यह चिन्तन हमें जिस विनाश के कगार पर ले आया उसे आज सभी देख रहे हैं। प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के साथ भाषिक परिवेश भी रचना में प्रमुख रूप से ध्वनित होता है। भाषिक परिवेश अपनी बहु आयामी कठिनाईयों के साथ रचना कर्म से जुड़ा हुआ है और रचनाकार को अन्य परिवेशों से गहराई के साथ व्यक्त करने में सहायता करता है। अतः रचना में रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा सम्पूर्ण समाज का परिवेश अभिव्यक्ति की आधार सामग्री है जिसके अभाव में रचना संभव ही नहीं है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति

डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि, “साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति है विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि द्वारा व्याख्यायित जीवन की नहीं, वरन् साहित्यकार की आत्म अनुभूतियाँ दूसरे शब्दों में आत्मसात् जीवन की अभिव्यक्ति है।”⁸ उनका मानना है कि रचनाकार दृष्टा, सृष्टा और भोक्ता तीनों होता है। वह अंतः और बाह्य परिवेश समाज में जो देखता है एवं अनुभूत करता है, उसे ही रचना के रूप में रूपांतरित करता है। हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं कि, “रचनाकार की अनुभूति सबकी अनुभूति होती है।” रचनाकार अपने स्व में समस्त समाज की अनुभूतियों को अनुभूत करता है। इस तरह वह अपने परिवेश के साथ एकाकार होता है। रचनाकार के जीवन के उतार-चढ़ाव उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के मील का पत्थर होते हैं। जो रचना में उसके द्वारा प्रसारित होते हैं। अनुभूति के बाह्य प्रस्फुटन के लिये रचनाकार में एक प्रकार की प्रसव वेदना होती है जिसे आनंद की संज्ञा दी गई है। यही रचनाकार के भीतर बाह्य समाज के रूपांतरण की दशा होती है रचना की अभिव्यक्ति के समय ही व्यक्ति के हृदय में अनुभूतियाँ बाह्य समाज के रूप में तरंगायित होती हैं। साहित्य का जन्म पूर्णरूपेण समाज से ही सम्बन्ध रखता है। निर्मल वर्मा का अभिमत है कि, “जिस तरह एक व्यक्ति का अतीत उसके वर्तमान में बसा होता है और वर्तमान में समस्त सम्भावनाओं के संकेत मिलते हैं, जो उसके भविष्य में होने वाला है। ठीक उसी तरह से एक साहित्यिक कृति में काल का सम्पूर्ण बोध सिनेमा के स्क्रीन की तरह लगा रहता है, जिसके तहत ही मनुष्य का हर बीता हुआ अनुभव और आने वाली हर सम्भाव्य घटना एक सुसंगत और व्यवस्थित पैटर्न उद्घाटित करती है।”⁹

अनुभूति, अभिव्यक्ति और सन्दर्भ अलग-अलग क्रियाएँ हैं किन्तु इनका एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध है, जो कभी टूट ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध के अभाव में रचना का प्रणयन सम्भव नहीं। ये तीनों तत्व रचनाकार के व्यक्तित्व के द्वारा एक सूत्र में बँध जाते हैं। और यह विभिन्न प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम से रचना में उद्भूत होता है और अनुभूति को साकार करने की, व्यंजित करने की कोशिश करता है। जैसे निराला की ‘सरोज स्मृति’ में कवि का वस्तु-जगत, भाव-जगत बनकर अभिव्यक्त हुआ है। रचनाकार के हृदय का संसार के साथ जितना गहरा सम्बन्ध होगा, रचना में उतनी ही गहराई से अनुभूति अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्फुटित होगी। “मर्म की उपलब्धि का क्षण कविता के उत्कर्ष का क्षण, पर इस मर्म के नेपथ्य में सक्रिय

कारण, यानी वह सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया, जिसमें पड़कर जिन्दगी के सच को अर्जित किया गया है, उसके वस्तुगत चित्रण में ही कविता यानी रचना की पार्दर्शिता है। कवि अपनी दुनिया की तमाम गोपन चीजों पर पड़े पर्दे उठाकर, उन्हें रौशन करके ही अपने सच को धारदार बना सकता है।¹⁰

इस तरह रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा बाह्य संसार अनेक रूपों, रंगों में अभिव्यक्त होता है। रचनाकार जीवन और जगत की अनुभूतियों को पहले हृदय में सृजित करता है, फिर इस विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तथ्यों को भावनाओं के विषय बनाकर उन्हीं मूल रूपों व्यापारों में परिणत कर अभिव्यक्त करता है। “रचनाकार ही विचारों अनुभूतियों की छुपी हुई शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यरूप में रचना के माध्यम से प्रकट करता है। रचनाकार समाज में रहकर ही अपनी रचनाओं की सामग्री ग्रहण करता है, अपने जीवन के प्रत्येक अंश में वह जो कुछ देखता है, सुनता है, जीता है और इन सबसे जो अनुभूत करता है, उससे उसकी एक धारणा निर्मित होती है; जो अभिव्यक्ति का कारण बनती है।”¹¹ रचनाकार का संवेदनशील हृदय उसके विस्मय, प्रेम और कल्पना के संसार की प्रत्येक वस्तु की अनुभूति के साथ अपना सम्बन्ध अनुभव करता है। समाज के सन्दर्भ, उसकी नियति, स्थिति, उसकी भयावहता, उसका सौन्दर्य, प्रेम, दुख, हर्ष और बदलाव भी अनुभूति के स्तर पर रचनाकार के लिए उसके हृदय की अभिव्यक्ति का विषय बनते हैं। एक ओर रचना अपने समय के सामाजिक प्रभाव को ग्रहण करती है तो दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करती है।

सामाजिक संदर्भों से ही रचनाकार के हृदय में जो अनुभव और घटनाएँ संकलित हो जाती हैं, वही साहित्य का रचना आधार ग्रहण करती हैं। समाज से, उसकी घटनाओं से, अनुभूतियों से दूर रहकर रचना की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। रचना के लिए रचनाकार का समाज दृष्टा के साथ-साथ समाज का भोक्ता होना भी आवश्यक है और यही स्थिति उसे समाज की वास्तविकताओं, सूक्ष्म संवेदनाओं और रहस्यों को समझने में सहायक होती है। जिसके फलस्वरूप उसकी बुद्धि और ज्ञान संपादित संशोधित होते रहते हैं और समाज अनुभूतियों के द्वारा रचना में दर्ज होता रहता है। रचनाकार अपनी अनुभूतियों के चेतन प्रतिबिम्ब रचना में उद्घाटित करता है। डॉ. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, “साहित्य का अस्तित्व समाज से अलग नहीं होता, इसीलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्य सामाजिक रचना है, साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है, साहित्यिक कर्म की पूरी प्रक्रिया सामाजिक व्यवहार का ही एक विशिष्ट रूप है। इसीलिए साहित्य का इतिहास समाज के इतिहास से अनेक रूपों से जुड़ा हुआ होता है।”¹² एडोल्फ सांचेज का मानना है कि, “महान कला मानव जीवन की सार्वभौम सत्ता की प्रतिष्ठा करती है।”¹³ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रचना यानी साहित्य और समाज दो महत्वपूर्ण इकाईयाँ हैं और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का मानव संवेदना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। निश्चित रूप से रचना व्यक्ति की वह कलात्मक चेतना है, जो शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होकर आकार ग्रहण करती है और जिसमें भावसत्य और वस्तुसत्य दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त होता है। इस तरह व्यक्ति या रचनाकार के भीतर की समस्त अनुभूतियाँ रचना की प्रेरणा बन जाती हैं।

रचना में आत्माभिव्यक्ति

डॉ. नगेन्द्र का अभिमत है कि “साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है।... आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई रचनाकार और उसकी रचना साहित्य बन पाती है।” (निबंध नवनीत, पृ. 63) उनका मानना है कि साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से नहीं है, साहित्य का सम्बन्ध सीधा जीवन से है। आत्माभिव्यक्ति अनेक रूपों में व्यक्त होती है इसमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के माध्यम से

व्यक्त होती है उसे साहित्य कहते हैं। उनका मानना है कि रचनाकार भी एक व्यक्ति होता है। जब वह व्यक्ति अपने अनुभवों को शब्द और अर्थ के द्वारा अभिव्यक्त करता है तो वह साहित्य का निर्माण करता है। इसमें अनुभूति शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनिवार्य और प्रमुख होता है। रचनाकार को आत्माभिव्यक्ति के सृजन में सृजन का सुख मिलता है अब वह रचना चाहे साहित्य की कृति हो या मूर्ति या चित्र यहां सभी में अभिव्यक्ति की स्थिति और प्रक्रिया एक ही होती है। श्रेष्ठ आत्माभिव्यक्ति को रचनाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण सफलता माना गया है।

पश्चिमी मनोविज्ञानी फ्रायड, एडलर, युंग आदि ने तो रचना के मूल में कामवृत्ति को माना है उनके अनुसार “समस्त कलाओं की आधार भूमि काम की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन है।” अतः समस्त कलाओं का मूल काम है। यह सर्वथा सत्य नहीं है। एक संवेदनशील व्यक्ति अपने आस-पास की प्रत्येक घटना के प्रति सजग होता है। वह अपने परिवेश से अभिन्न रूप से हृदय और बुद्धि दोनों रूपों में जुड़ा रहता है रचनाकार और उसका परिवेश उसकी आत्म अनुभूति में जीवंत होता है। इस प्रकार रचनाकार प्रत्येक घटना, परिस्थिति से प्रभावित होकर अपने आत्मसंघर्ष को आत्माभिव्यक्ति के रूप में रचना में सृजित करता है।

रचना और सृजनात्मकता

साहित्य मानव जीवन की जातीय स्मृतियों का अंकन है, उसमें मनुष्य के इतिहास और उसके द्वारा किये गये समस्त सामाजिक क्रियाकलापों का लेखा-जोखा होता है। रचना मनुष्य की आत्म-उपलब्धि है। इसलिए वह मानवीय आचरण के सर्वोत्कृष्ट पक्ष को प्रस्तुत करती है। रचना रचनाकार के उच्चतर अनुभवों का कलात्मक प्रकाशन है।

देखा जाय तो साहित्य समाज से आता है और पुनः समाज को प्रभावित करता है। रचनाकार अपनी कृति के द्वारा जिस समानान्तर समाज को रचना में सृजित करता है, वह जीवन के प्रति उसकी सापेक्ष कल्पना दृष्टि है। इसमें वह जिस समय की रचना में तल्लीन होता है, उस समय के समाज मूल्यों का निर्धारण भी करता है।

साहित्य समाज का एक सांस्कृतिक अंग होता है। वह उस व्यवस्था से समाज से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। साहित्य का सम्बन्ध शब्द से है और शब्द सृजन व्यापार का प्रारम्भिक बिन्दु है। शब्द से सृष्टि का जन्म हुआ है। जैसे-नाद ब्रह्म को सृष्टि का आरम्भ माना गया है। रचना की सर्जना सृष्टि की सर्जना से जुड़ी है, अग्निपुराण में तो कवि को 'ब्रह्म सहोदर' कहा गया है। संसार का रचनाकार ईश्वर है, साहित्य का रचयिता मनुष्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि संसार एक सतत् कविता है, तो उससे ही उद्भूत भाषागत कविता मनुष्य की सृजन चेष्टा का उच्चतम परिणाम है।

साहित्य की समस्त सृजनात्मक शक्तियाँ समाज से ही प्रस्फुटित होती हैं। रचनाकार तो मात्र एक माध्यम होता है वह सामाजिक गतिविधियों, क्रिया-कलापों को यद्यपि स्वयं भोक्ता बनकर अपने कला माध्यमों के द्वारा प्रस्तुत करता है, किन्तु उसकी रचना निरी वैयक्तिक नहीं रहती। उसके अनुभव उसकी संवेदना उसकी भाषा सामाजिक चेतना से परिपूर्ण होते हैं, इसी कारण रचना में सम्प्रेषणीयता का गुण आता है। फलतः उसकी रचना समाज की होती है। संवेदना, शिल्प और भाषा इन तीनों स्तरों पर रचना समाज की सृजनात्मक शक्तियों से पूर्ण होती है। अनुभूति मनुष्य का नैसर्गिक और प्रकृति प्रदत्त गुण है। इसलिए वह दूसरे के अनुभव जगत को विस्तारित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्ति करके व्यापक समाज के अनुभव जगत में प्रवेश कर सकता है और अपने अनुभव जगत को विस्तारित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से बाहर आकर समाज के अनुभव जगत का हिस्सा बना सकता है।

व्यक्ति की सीमाओं को लांघकर समष्टि में समाहित होना ही सृजनात्मकता का अनिवार्य लक्षण है। जरूरी केवल यह है कि लेखक का व्यक्तित्व सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न हो। ऐसी सम्पन्नता वही लेखक पा सकता है, जिसकी जीवन के प्रश्नों में गहरी रुचि हो, जिसमें तीखी और बड़ी जिज्ञासायें हों और जिसमें प्रश्नों का समाधान पाने की छटपटाहट हो। साहित्य मनुष्य को अकेला नहीं रहने देता, मनुष्य साहित्य के माध्यम से निरंतर आत्मविस्तार करता रहता है। अपने आत्मविस्तार की प्रक्रिया में वह निरंतर समाज के करीब आता जाता है।

साहित्य में सामाजिक मूल्य

मुक्तिबोध के अनुसार “जो परिवार के मूल्य होंगे, वे जीवन में होंगे और साहित्य में भी उतरेगे। हाँ! यह सही है कि साहित्य में आकर इनकी रूपरेखा बदल जायेगी लेकिन उनके तत्व कैसे बदलेंगे। जिन्दगी के जो रूप हैं, जो रवैये हैं, जो एटीट्यूट्स हैं, वे साहित्य में अवश्य प्रकट होंगे।”¹⁴ इस प्रकार मुक्तिबोध ने साहित्य को मूल्य समन्वित रचना माना है। साहित्य के रास्ते ही जीवन के तत्व और मूल्य अभिव्यक्ति ग्रहण करते हैं। निश्चित रूप से साहित्य, सामाजिक जीवन से प्रेरित और संबद्ध होता है। इसी के द्वारा जीवन के मूल्य साहित्य में स्थान पाते हैं। साहित्य में सामाजिक मूल्यों को समकालीन राजनीति, अर्थ, धर्म तथा संस्कृति भी गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। आज का युग विज्ञान का युग है। इस वैज्ञानिक युग ने मानव जीवन में अभिन्न जगह बना ली है। इसलिए विज्ञान का भी सामाजिक और साहित्यिक परिवेश पर असर होना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि मूल्य भी दो प्रकार के होते हैं- व्यावहारिक मूल्य और आदर्श मूल्य। इनमें व्यावहारिक और सामाजिक मूल्य साहित्य के मूल्यों का रूप धारण करते हैं, अतः कहा जा सकता है कि साहित्य के मूल्य जीवन और समाज के मूल्यों के समानान्तर चलते हैं। किन्तु मूल्यों की निर्माण संस्था समाज ही है, रचनाकार इन मूल्यों का परीक्षण परिशोधन करके उनके परिष्कृत रूप को रचना में अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

रचना और बाह्य संसार

बाहर का संसार ज्यों ही हमारे भीतर प्रवेश करता है, वह एक दूसरे ही संसार में परिवर्तित हो जाता है। इस दूसरे जगत में बाहर के जगत के विभिन्न रूप रंग और ध्वनि आदि ही नहीं होते हैं। अपितु उसमें व्यक्तिगत रुचि हमारा अच्छा बुरा अनुभव, हमारा भय, विस्मय और हमारा सुख-दुख आदि भी उसमें शामिल हो जाता है। यह बाहर का संसार हमारे मानसिक भावों के साथ मिलकर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। जिसे हम कविता या रचना या साहित्य कहते हैं। रचनाकार अपने बाह्य संसार को अपनी मानसिक भावनाओं में आत्मसात् कर उनसे एकाकार कर उन्हें पुनः अभिव्यक्त करता है, जिसमें वह स्वयं भी व्यक्त होता है। रचनाकार के हृदय में बाहर का समाज और प्रकृति जिस सीमा तक ध्वनित होती है, रचना भी उसी परिधि में विचरण करती है। अतः साहित्य एक प्रतिभाशाली व्यक्ति की रचनाशीलता का उत्कृष्ट लिपिबद्ध लेखा है, जो उसके निजी व्यक्तित्व के साथ-साथ समकालीन समाज के सन्दर्भों, प्रकृति से उसके सम्बन्धों को रचना के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। व्यक्तिगत साधना को भी सामूहिक साधना में बदल देने का कार्य साहित्य करता है।

निस्संदेह साहित्य समूचे और सर्व सामान्य मनुष्य से सम्बन्ध रखता है। रचनाकार का मनुष्य होना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि रचना का सम्बन्ध मनुष्य से होता है। क्योंकि रचनाकार भी प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। मनुष्य, प्रकृति और समाज से अलग होकर रचना करना संभव नहीं है। क्योंकि आध्यात्म की सत्ता भी मनुष्य, प्रकृति और समाज से पूर्णतः अलग नहीं होती। इस प्रकार रचना जीवन और जगत की क्रीड़ा स्थली होती है, जिसमें रचनाकार अपनी जीवनानुभूति और जगत से बचकर नहीं निकल सकता।

निष्कर्ष

यह सर्वविदित है कि समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है और परिवार की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति। अतः व्यक्ति परिवार और समाज दोनों का केन्द्र बिन्दु है। इसलिए व्यक्ति, परिवार और समाज दोनों का सदस्य होता है और दोनों से गहरे स्तर पर प्रभावित भी होता है। परिवार और समाज के मूल्य और मान्यताएँ, आवश्यकताएँ और कठिनाइयाँ, उत्तरदायित्व, अधिकार और कर्तव्य, प्रेम और स्नेह, दया, घृणा और जुगुत्सा, हास-परिहास विनोद, विसंगतियाँ और विरोध, अभाव आदि एक व्यक्ति के स्तर पर रचनाकार के जीवन को भी प्रभावित करते हैं और रचनाकार की अनुभूति का कारण बनते हैं। उपरोक्त कारकों को संतुलित निर्धारित करने का कार्य संस्कृति और साहित्य का है। संस्कृति और साहित्य दोनों परिवर्तनशील होते हैं। साहित्य अन्य कार्यों के अलावा समाज और संस्कृति के पहरेदार की भूमिका भी निभाता है। समाज का सत्य व्यक्ति सत्य से टकराकर अभिव्यक्ति का कारण बनता है। इसलिए रचनाकार का संघर्ष अप्रत्यक्षतः समाज के मूल्यों, मान्यताओं और विषमताओं, विसंगतियों का संघर्ष बन जाता है। जैसे निराला, मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंतकुमार आदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों की रचनाओं में इस संघर्ष ने मार्मिक और तीखी अभिव्यक्ति पायी है। रचनाकार यदि जीवन के उज्ज्वल पक्षों को रचना में अभिव्यक्ति देता है तो उसके यहाँ जीवन की विद्रूपतायें और विसंगतियाँ भी अभिव्यक्ति पाती हैं। मुहरों की लालच में लिखे गये रीतिकालीन साहित्य के कुछ भाग को छोड़कर सामान्यतः रचनाकार जो देखता है अनुभूत करता है, उसको अपनी समझ के धरातल पर हृदय और बुद्धि से एकाकार कर भरसक सच लिखने या रचने की कोशिश करता है और अपनी क्षमता भर वह अनुभूति को शब्दों में परिवर्तित करता है। यही वह प्रक्रिया है जहाँ रचना में व्यक्ति के साथ समाज का आवश्यक रूपान्तरण होता है। निस्संदेह जीवन और जगत की प्रत्येक अनुभूति रचनाकार के मनोमस्तिष्क पर अपने प्रभाव अंकित करती है और यही प्रभाव रचना के सृजन का कारण बनते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि आदिकाल, रीतिकाल, भक्तिकाल, छायावाद और आधुनिक हिन्दी काव्य, उपन्यास, नाटक और कहानी आदि साहित्य युगों की रचनाओं पर तत्कालीन समाज और संस्कृति के प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य में व्यक्ति और समाज का रूपांतरण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समाज में रचनाकार का रूपांतरण नहीं होता, बल्कि रचनाकार में समाज का रूपांतरण होता है, जो रचना के सृजन में व्यक्ति और समाज के रूपांतरण के साथ अभिव्यक्ति पाता है।

हिन्दी विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ -

1. पक्षधर, पत्रिका, संपादक - विनोद तिवारी, अंक-23, वर्ष-11, जुलाई-दिसम्बर 2017, पृ. 12
2. साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2008, पृ. 86
3. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना, जय श्री शुक्ला, पृ. 10
4. अज्ञेय कवि, डॉ. ओम प्रकाश अवस्थी, ग्रंथम, रामबाग, कानपुर, 1977, पृ. 58
5. साहित्य की सामाजिक भूमिका, देवेश ठाकुर, संकल्प प्रकाशन, मेरठ, पृ. 34-35

6. साहित्य का परिवेश, अज्ञेय, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1985, पृ. 104-105
7. वही, पृ. 105
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना, रत्नाकर पाण्डेय, भूमिका से
9. शताब्दी के ढलत वर्षों में, निर्मल वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली, 2006, पृ. 45
10. निराशा में सामर्थ्य, पंकज चतुर्वेदी, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2013, पृ. 112
11. साहित्य शास्त्र, रामकुमार वर्मा, भूमिका से
12. साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2008, पृ. 7
13. साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना, जयश्री शुक्ला, पृ.10
14. साहित्य की सामाजिक भूमिका, देवेश ठाकुर, संकल्प प्रकाशन, मेरठ, पृ. 72

भोजपुरी लोक में वैकल्पिक इतिहासबोध की वाचिक परम्परा

राघवेन्द्र प्रताप सिंह

अतीत की घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन ही इतिहास है। इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति इति+ह+आस से हुई है, जिसका अर्थ है- 'इस प्रकार हुआ था'। यह भी अतीत सम्बन्धी अध्ययन को ही इंगित करता है। अंग्रेजी भाषा में इतिहास के लिए 'History' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'History' शब्द की व्युत्पत्ति यूनानी शब्द हिस्तोर से हुई है।¹ हिस्तोर उस विशेषज्ञ को कहा जाता था जो झगड़ों का निपटारा करता था। 'History' शब्द का प्रयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति हेरोडोटस थे, जो एक यूनानी इतिहासकार थे। इतिहास की व्याख्या इतिहासकारों ने अलग-अलग तरीके से किया है। कोई इतिहास को कहानी मानता है तो कोई मनुष्यों के उपलब्धियों की कहानी। किन्तु वास्तव में इतिहास मानव समाज के कार्यों एवं उपलब्धियों का क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक लेखा-जोखा है। आक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार 'इतिहास में किसी देश, समाज तथा मनुष्य से सम्बन्धित सभी घटनाओं का उल्लेख होता है।'²

नवीन विचार तथा तथ्यात्मक बदलाव के कारण आधुनिक इतिहास लेखन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहे हैं। नगर, राज्य या राष्ट्र के राजनैतिक इतिहास के स्थान पर उनके सांस्कृतिक पक्ष पर भी ध्यान दिया जाने लगा है। इतिहास के अध्ययन का विषय अब राष्ट्र, जाति अथवा कोई सामाजिक संस्था न होकर सम्पूर्ण सभ्यता ही इतिहास के अध्ययन की विषय-वस्तु बनती जा रही है।³

इतिहासकार क्रोचे के अनुसार अतीत की जानकारी देने के कारण और वर्तमान काल का पथ प्रदर्शक होने से यह विषय महत्वपूर्ण होने के साथ ही मानव जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी है। अतः इतिहास अतीत का कौतुहल मात्र नहीं है, अपितु वह वर्तमानकालिक जीवन के कौतुहलों का समाधान प्रस्तुत करता है।⁴ आचार्य नरेन्द्र देव ने उचित ही कहा है कि संसार को मलिन होने से बचाने के लिए इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता है। वे चाहते थे कि लोग इतिहास से संस्कार ग्रहण करें, अपने आस-पास के सामाजिक जीवन को अच्छे संस्कार देकर समाज में इतिहास बनाने की सामर्थ्य विकसित करें।⁵ वास्तव में इतिहास जीवनोपयोगी तभी हो सकता है जब हम उससे शिक्षा प्राप्त करें। एक विषय के रूप में हम भले ही इतिहास के कटु सत्यों का निरूपण अवश्य करें किन्तु हमारा आदर्श इतिहास के वे ही तत्व हो सकते हैं, जो हमारी समस्याओं के समाधान में सहायक हों; जो आगे बढ़ने को प्रेरित कर सकें और जो हमें हमारे प्राचीन गौरव का स्मरण दिला सकें।

इतिहास अतीत की स्मृति है। अतीत में वास्तव में क्या घटित हुआ? इतिहासकार किस दृष्टि से अतीत का पुनर्निर्माण कर रहा है? यह भी कि अतीत के सम्बन्ध में लोगों की क्या अवधारणा है? इन प्रश्नों पर

भी विचार किया जाना चाहिए। इतिहास को मात्र तथ्यों के संकलन द्वारा सूचना का स्रोत बन जाने तक ही सीमित नहीं होना चाहिए, इसे प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर गढ़ा जाना चाहिए। इसी कारण इतिहासकार कार्ल बेकर कहते हैं ऐतिहासिक तथ्यों का इतिहासकार के लिए तब तक कोई अस्तित्व नहीं रहता जब तक वह उनकी पुनर्संरचना न करें।¹ इतिहासकार के लिए वर्तमान परिदृश्य के अतीत की व्याख्या करना किसी चुनौती से कम नहीं होता है। तथ्यों के संकलन, अध्ययन, विश्लेषण तथा प्रतिपरीक्षण के आधार पर उन्हीं तथ्यों के प्रयोग से वह अतीत की व्याख्या करता है।

इतिहास-लेखन में स्रोतों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। प्राचीन मनुष्य द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुयें व उनके अवशेष जैसे गुहा, स्तूप, मंदिर, दुर्ग, शिलालेख, मुद्रायें, औजार, वर्तन इत्यादि इतिहास के पुरातात्विक स्रोत होते हैं। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक साहित्य, दस्तावेज, रीति-रिवाज, लोक-परम्परायें, लोक कला, लोक साहित्य के माध्यम से भी हमें सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है। इन सामग्रियों को इतिहास का स्रोत कहा जाता है। स्रोतों का वर्गीकरण लिखित-अलिखित में किया जाता है। लिखित के अन्तर्गत साहित्य के साथ-साथ लेख भी आते हैं तथा अलिखित के अंतर्गत पुरातात्विक सामग्रियों के साथ-साथ मौखिक स्रोतों को भी रखा जा सकता है। यहाँ हम स्रोतों पर विशद चर्चा इसलिए नहीं करना चाहते कि यह हमारे इस चर्चा का मुख्य विषय नहीं है।

अतीत सम्बन्धी कुछ पठित या कंठस्थ जानकारी मौखिक रूप से समाज में परम्परागत रूप में विद्यमान रहती है। ये सूचनाएँ लिखित रूप में नहीं होतीं तथा पीढ़ी दर पीढ़ी परम्पराओं के कारण स्वतः संरक्षित होती रहती हैं। इन सामग्रियों को 'मौखिक स्रोत' कहते हैं।² मौखिक साधनों में लोकगीत, लोककथाएँ, दोहे, गाथागीत तथा लोकोक्तियों आदि का समावेश होता है। ये अतीत के अलिखित पुस्तकालय हैं। इसके साथ ही व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह द्वारा अनुभव किये गये यथार्थ से सम्बन्धित विवरण, प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा किसी घटना विशेष का वर्णन, अनुश्रुति, जनश्रुति, साक्षात्कार, भाषण व वक्तव्य भी मौखिक स्रोतों के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। मौखिक स्रोत अनुभव प्रसूत होने के कारण ज्ञान केन्द्रित होते हैं। यह इतिहास की प्राचीनतम परम्पराओं में से एक है।

अब प्रश्न यह है कि इतिहास का यह अंश लोक में कैसे मान्य हुआ? हम जानते हैं कि साहित्य लेखन में और मुद्रा या अभिलेख में रचनाकार बहुत सारी बातों से प्रभावित हो सकता है किन्तु लोक-मान्यता एवं लोक-प्रसिद्धि केवल सार्वजनीन सत्य को ही मिल पाती है। यह लोक परम्परा इतनी सुदृढ़ होती है कि मुँह-मुँही (Mouth to Mouth) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती रहती है। इस तरह समाज में स्वतः स्थापित होकर समाज को बोधि प्रदान करती रहती है। यहाँ हम यह विचार कर सकते हैं कि इस वाचिक स्थानांतरण में मानवीय भावनाओं का स्थानांतरण कैसे और कितना हुआ? अनुकूल या मन को भाने वाली बातों को नमक-मिर्च लगाकर प्रस्तुत करना मानवीय प्रवृत्ति रही है। वास्तव में हमें कथ्य और तथ्य के समीकरण को अन्य स्रोतों के माध्यम से भी साधना होगा। तभी हम इन मौखिक स्रोतों का प्रयोग इतिहास लेखन में कर सकते हैं। यही प्रक्रिया मौखिक स्रोतों के इतिहास में स्थापित करने में मददगार हो सकती है। वास्तव में जनश्रुतियाँ-लोकोक्तियाँ समय का सत्य होती हैं। हमें उनकी साम्यता अन्य स्रोतों से करके एक ऐसे इतिहास को प्रकाशित करने की आवश्यकता है जिससे हम सत्य के सर्वाधिक निकट या सत्य होने का दावा कर सकें। मौखिक परम्परा के साक्ष्यों के साथ-साथ लिखित और अवशेष सामग्री का विश्लेषण इतिहासकार को सत्य के निकट ला सकता है। यह सत्य की निकटता ही इतिहासकार का लक्ष्य होना चाहिए।

भारत में मौखिक/श्रुति परम्परा का एक सुदीर्घ इतिहास रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते समय कहते हैं कि यह ज्ञान मुझे परम्परा से मिला है जिसे मैं आज तुमसे कह रहा हूँ।⁹ वेदों का अध्ययन तो मौखिक रूप से ही करने की परम्परा रही है। महात्मा बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश भी मौखिक ही थे जो उनके महापरिनिर्वाण के पश्चात् विभिन्न संगीतियों के द्वारा लिपिबद्ध किये गये। इसमें दो मत नहीं कि प्राचीनकाल से ही मौखिक परम्परा ज्ञान संचरण का महत्वपूर्ण साधन रही है। मौखिक स्रोतों की सबसे बड़ी विशेषता इसको सर्वजन द्वारा अपनाया जाना है। ये लोकभाषा, लोकपरम्परा आदि क्षेत्रीयता से प्रभावित रहती हैं। अतः इस प्रकार के स्रोतों को क्षेत्रीय इतिहास की ही दृष्टि से देखा जाना उचित होगा। किसी भी घटना के सम्बन्ध में प्रत्यक्षदर्शी लोगों की उस स्थान से सम्बद्धता एवं ऐसे व्यक्तियों द्वारा उसे प्रचारित-प्रसारित या संरक्षित करने की संभावनाएँ समीपस्थ क्षेत्रों में अधिक रहती हैं। यही कारण है कि मौखिक स्रोतों का प्रयोग कर क्षेत्र विशेष के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्र कर क्षेत्रीय इतिहास लेखन में इसका सफल प्रयोग किया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहासकारों में अग्रणी कल्हण ने अपने ग्रन्थ राजतरंगिणी को कश्मीर का महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ माना है। राजतरंगिणी का रचनाकाल 1148-49 ई. के आस-पास है। इसमें कल्हण ने भू-वैज्ञानिक युग से लेकर स्वयं अपने युग तक के कश्मीर के इतिहास का विवरण दिया है। इस युग के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए उन्होंने पौराणिक स्रोतों, अनुश्रुतियों तथा मिथकों का भी सहारा लिया है। आधुनिक इतिहासकार कर्नल जेम्स टॉड ने 'एनल एण्ड एण्टीक्यूटीज ऑफ राजस्थान' के माध्यम से मध्य एवं पश्चिमी राजपूताना के इतिहास लेखन के कार्य में मौखिक स्रोतों का प्रयोग किया है। कर्नल टाड ने राजपूत राजाओं की प्रशंसा में चारण-भाट द्वारा गाये जाने वाले प्रशस्ति गीतों के साथ-साथ जनश्रुतियों, कथा-कहानियों आदि का संकलन कर इसमें छिपे ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग राजपूताना के इतिहास लेखन में किया। अपने ग्रंथ की प्रस्तावना में टाड कहते हैं कि दोषों के होने पर भी भारतीय भाटों से बहुत सी सामग्री प्राप्त की जा सकती है। मंदिरों के दान, भेंट और उसके निर्माण एवं सुधार के सम्बन्ध में जो लेख मिलते हैं उससे भी बहुत सी ऐतिहासिक सामग्रियाँ मिलती हैं।

मौखिक इतिहास की महत्ता एवं क्षेत्रीय इतिहास अध्ययन के रूप में इसकी संभावित भूमिका को देखते हुए विश्व के अनेक क्षेत्रों में मौखिक स्रोतों के संकलन के प्रयास हुए। मौखिक स्रोतों या परम्पराओं के क्षरण या समाप्ति की संभावनाओं को नकारने के लिए इडनवर्ग विश्वविद्यालय एवं वेल्स फोक संग्रहालय द्वारा विलुप्त होते मौखिक परम्पराओं के रिकार्डिंग (अभिलेखीकरण) का प्रयास 1950 के दशक में प्रारम्भ किये गये।⁹ यूरोप के अलावा अफ्रीकी देशों में भी मौखिक परम्पराओं के संरक्षण एवं अध्ययन की दिशा में कार्य हुए। 1971 में ओरल हिस्ट्री जर्नल की प्रथम प्रति तैयार की गई।¹⁰ भारत में मौखिक इतिहास को सहेजने का कार्य थोड़ी देर से प्रारंभ हुआ। 1966 ई. में नेहरू मेमोरियल म्यूजिम में ओरल हिस्ट्री का एक सेक्शन स्थापित किया गया। मौखिक इतिहास से सम्बन्धित संगठनों का निर्माण भी इस दिशा में इतिहासकारों के गंभीर होने का सूचक है। 1996 ई. में अमेरिका में ओरल हिस्ट्री एसोसियेशन की स्थापना हुई। वहीं भारत में 2013 ई. में ओरल हिस्ट्री एसोसियेशन ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई।

इतिहास ने हमेशा शासकों की सेवा की है और करता रहेगा। सत्ता पोषित इतिहास के प्रतिपक्ष में लोक जो रचता है वह सत्ता जनित इतिहास का काउंटर होता है। सत्ता जनित एवं पोषित इतिहास कभी जन का इतिहास होता ही नहीं है। सत्ता की अपनी इच्छायें-अभिलाषायें होती हैं, जन का अपना जीवन संघर्ष होता है। दोनों के तार एक हो ही नहीं सकते। उदाहरणस्वरूप हम 1857 ई. की क्रान्ति को लें, तो हम देखते हैं कि एक

ही घटना की बानगी अलग-अलग दृष्टिबोध के कारण बिल्कुल ही भिन्न तरीके से की गई है। सत्ता समर्थक इतिहासकारों तथा शासक वर्ग की नजर में यह केवल एकमात्र सैनिक विद्रोह था लेकिन भारतीय जनता की दृष्टि में यह एक महान घटना थी, जिसने वर्षों से भारतीयों के मन में दबे विद्रोह की चिंगारी को भड़का कर ज्वालामुखी बना दिया था। अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध यह स्वतंत्रता का पहला बिगुल था। घटना तो एक ही है फर्क सिर्फ नजर एवं नजरिये का है। अंग्रेज इतिहासकार विन्सेन्ट स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'भारत के इतिहास' में लिखा है कि विद्रोह यद्यपि प्राथमिक रूप में बंगाल आर्मी की फौजी बगावत था, जो चर्बीदार कारतूस से फौरन उमड़ उठा था। जबकि भारत एवं भारतीयों की नजर में अंग्रेज सत्ता को उखाड़ फेंकने का यह गदर था। वास्तव में यह गदर ही था जिसमें भारत के समस्त वर्गों राजा-रंक, प्रजा, हिन्दू-मुसलमान, पुरुष-स्त्री सभी अपने-अपने तरीके और सामर्थ्य के अनुसार अपनी-अपनी आहूति इस राष्ट्र यज्ञ में दे रहे थे। किवदंतियाँ और गाथायें लोकमानस से उपजती हैं। लोक की मानसपुत्री होने के कारण वे बहुत प्रिय, अंतरंग और अपरिहार्य होती है। उसमें जनता का दुःख-दर्द, लालसाएं, सपने, सब कुछ अभिव्यक्त होते रहते हैं। वे जन्में भले ही किसी एक व्यक्ति के मन में परन्तु होती हैं एक समूह के सामान्य अवचेतन की उपज और एक मुँह से दूसरे तक की यात्रा के दौरान ही उसका रूप संवरता है। उन पर किसी जालिम की नहीं चलती। उन्हें कोई बंद या निर्वासित नहीं कर सकता। उनके समानांतर कृत्रिम ढंग से दूसरी भी आरोपित की जाती रही हैं पर खोटे सिक्के हर जगह नहीं चलते।¹¹

द्रष्टव्य है कि सन् 1857 के भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की प्रथम अलख को प्रदीप्त करने में भोजपुरी लोकगीतों का महत्व अप्रतिम रहा है। वास्तव में 1857 ई. का संग्राम एक जनसंग्राम था और जिसकी गूँज हमें भोजपुरी लोकगीतों में सुनाई पड़ती है परन्तु इतिहास की यह गूँज सत्ता-पोषित इतिहास लेखन में दिखाई नहीं पड़ती। ईस्ट इण्डिया कंपनी के कुराज के कारण तबाही, बर्बादी और यातना की जिस दारुण दशा को जनता झेल रही थी। उससे मुक्ति और सुराज की स्थापना में 1857 के विद्रोह के वीर सेनानी कुँवर सिंह भोजपुरी लोकगीतों में नायक बनकर उभरे।

लिखि लिखि पतिया के भेजलन कुँअरसिंह,

ए सुन अमरसिंह भाय हो राम ।

चमड़ा टोड़वा दाँत से हो काटे कि,

छतरी के धरम नसाय हो राम । 11 ।।

बाबू कुँअर सिंह और भाई अमरसिंह,

दोनों अपने हैं भाय हो राम ।

बतिया के कारण से बाबू कुँअर सिंह,

फिरंगी से हो रेढ़ बढ़ाय हो राम । 12 ।।

दानापुर से जब सजलक हो कम्पू,

कोइलवर में रहे छाय हो राम ।

लाख गोला तुँहु कै गनि के मरिहीं,

छोड़ बरहरवा के राज हो राम । 13 ।।

रोवत बाड़े बाबू हो कुँअर सिंह,

मुखवा पर धर के रुमाल हो राम ।

ले ली लड़इआ हम तो बूढ़ा हो समय में,

अब कवन होइहे हवाल हो राम । 14 ।।

इस गीत में विद्रोह का कितना सटीक कारण दिया गया है।¹² वीरवर बांबू कुँवर सिंह अप्रतिम योद्धा थे। वृद्धावस्था में भी स्वतंत्रता का जोश उनमें उफान ले रहा था। यहाँ तक कि अंग्रेजों से युद्ध के समय जब उनके हाथ में गोली लग गई तब उन्होंने उस हाथ को काटकर माँ गंगा को समर्पित कर दिया -

रामा गोली आई लागल दहिना हथवा रेना
 रामा हाथ होइ गइल बेकरवा रेना
 रामा जानिकर हाथ बेकरवा रेना
 रामा काटि दिहले लेके तरवारवा रेना
 रामा कहेले जे लेहु गंगा हथवा रेना
 रामा कहिकर उतना बचनवा रेना
 रामा डाल दिहले गंगा जी में हथवा रेना
 रामा वीर भगत के इहे निशानवाँ रेना
 रामा गंगा जी के रहल नजरानवाँ नेरा।

वीर कुँवरसिंह की लड़ाई जनता की लड़ाई थी। अंग्रेजों ने कुँवर सिंह पर 10,000 का ईनाम रखा था, लेकिन किसी ने भी कुँवर सिंह को धोखा नहीं दिया। स्त्रियाँ अपने पतियों को आग्रहपूर्वक उनकी लड़ाई में भेजती थीं। यदि कोई आनाकानी करता तो कहतीं कि चूड़ी पहनकर घर में बैठ जाय। मैं आपकी इज्जत रख लूँगी -

लागे सरम-लाज घर में बइठ जाहु,
 मरद से बनि के लुगईया ए हरी,
 पहिरी सारी चूरी, मुँहवा छिपाई लेहु,
 राखि लेबी तोहरी पगरिया ए हरी।

बाबू कुँवर सिंह के वीरतापूर्ण कृत्यों ने उन्हें लोक गाथाओं में अमर बना दिया, तभी तो अमर बलिदानी बाबू कुँवर सिंह को आज भी भोजपुर क्षेत्र के लोग होली के अवसर पर ढोल-झाल लेकर उनकी वीरता के गीत गाते हैं। इन गीतों के माध्यम से लोक चेतना में कुँवर सिंह आज भी जिन्दा हैं और लोगों को प्रेरित कर रहे हैं। देवस्मरण, स्थान स्मरण के बाद भोजपुर में लोग निश्चित रूप से कुँवर-समरण भी करते हैं।¹³

ऐसा नहीं है कि भोजपुरी लोकगीतों में स्थानीय नायकों की ही चर्चा की गई हो। स्वतंत्रता संग्राम के राष्ट्रीय चेहरों जैसे-महत्मा गाँधी, सुबासचन्द्र बोस, राजेन्द्र प्रसाद और जवाहर लाल नेहरू आदि भोजपुरी चेतना में उतनी ही प्रखरता के साथ विद्यमान रहे जितने स्थानीय नायक। हम यहाँ केवल भोजपुरी लोकगीतों का उद्धरण देकर अपनी बात को विराम देंगे -

मोरे चरखा के टूटे न तार
 चरखवा चालू रहे
 गाँधी महात्मा दूल्हा बने हैं
 दुल्हन बनी सरकार। चरखवा चालू...।
 सबरे बलंठियर बने बराती
 नउधा बने थानेदार। चरखवा चालू...।
 सब पटवारी गारी गाँवे
 पूड़ी बेले तहसीलदार। चरखवा चालू...।

गाँधी महात्मा नेग माँगे
दहेज में माँगे सुराज । चरखवा चालू... ।
गवरमेंट ठाड़ी बिनती करै
जीजा गवने में देबो सुराज । चरखवा चालू... ।¹⁴

गाँवों की अशिक्षित महिलाएं सुराज आन्दोलन, बड़ी लड़ाई और आजादी से जोड़कर अपनी जीवनयात्र के प्रमुख पड़ावों की चर्चा किया करती थीं। इसी पृष्ठभूमि पर आधारित इस गीत में दादी अपनी पौत्री से संबंधित कुछ घटनाओं का उल्लेख करती हैं¹⁵ -

“धनि धनि भाग तोहार मोर बिटिया हो,
धनि धनि भगिया तोहार ।
जा ही दिन ए बेटी तोहरो जनमवाहो,
गान्हीजीके नारावा सुराज । ।
बाबा तोहार बेटी गइलें जेहलिया हो,
चाचा तोहार देखलें घरबार ।
भईया तोहार बेटी गइलें लड़ईया हो,
धनि धनि भगिया तोहार । ।
अम्मा तोहार बेटी चरखा चलवली हो,
चाची तोहार ओटली कपास ।
भउजी तोहार बेटी गइली नईहरवा हो,
धनि धनि भगिया तोहार । ।
जाही दिन ए बेटी तोहरो बिआहवा हो,
देसवा हो गईल आजाद ।
देसवा के छोड़ि भगलें पापी अंगरेजवा हो,
धनि धनि भगिया तोहार । ।
बाबा तोहार बेटी छूटलें जेहलिया हो,
देसवा के मेटल अन्हार ।
भईया तोहार छोड़ि अईलें लड़ईया हो,
धनि धनि भगिया तोहार । ।
अम्मा तोहार छोड़ली चरखा चलावल हो,
चाची छोड़ली ओटल कपास ।
भउजी तोहार चलि अइली नईहर छोड़ि,
धनि धनि भगिया तोहार । ।

इस गीत में स्वराज के संघर्ष के साथ-साथ तद्द्युगीन परिस्थितियों का चित्रण प्रयास-अनायास दोनों ही तरीकों से हुआ दिखाई देता है। बिटिया का जन्म उस दिन हुआ था जिस दिन गाँधी जी स्वराज आन्दोलन प्रारम्भ किये थे। परिवार का मुखिया आन्दोलन में जब जेल चला जाता है, तब उसका छोटा भाई पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करता दिखाई पड़ रहा है। कन्या का भाई द्वितीय विश्वयुद्ध की लड़ाई लड़ने गया। इन

परिस्थितियों में भाई की पत्नी मायके चली जाती है। जिस दिन कन्या का विवाह होता है उसी दिन देश को आजादी मिलती है। देश छोड़कर अंग्रेज जा रहे हैं लेकिन अपने दुष्कृत्यों के कारण जाते हुए भी लोकगीत में पापी की उपाधि से नवाजे गये हैं। लड़की का पिता आजादी के दिन जेल से घर आता है, भाई लड़ाई से वापस आता है। मायके से भाई की पत्नी वापस आती है। इन्हीं सबके बीच कन्या की माँ जो चरखा चलाती है तथा चाची जो कपास ओटती है। अब दोनों यह कार्य छोड़ देती है। पूरा घर-परिवार इकट्ठा हो स्वराज का उत्सव मना रहा है। यह चरखा चलाने और कपास ओटने को छोड़ना यह सूचित करता है कि जनता के हृदय में राजनीतिक स्वराज के साथ-साथ आर्थिक स्वतंत्रता का भी बोध था।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि लोक साहित्य में देश की सांस्कृतिक चेतना की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। युग-युग का जन-जीवन इसमें परिलक्षित हो रहा है। जन संस्कृति का जैसा चित्रण इसमें दिखाई देता है वैसा अन्यत्र पाना अत्यंत कठिन है। लोक में कौन सी बात कैसे, कब और किस प्रकार प्रस्तुत होकर आगे की घटनाओं का कारण बन जाती है। इसको समझने के लिए मैं केवल यहाँ एक उदाहरण रखना चाहूँगा जिसमें विस्मृत हो चुके पारस्परिक संघर्ष को पुनः जागृत कर दिया- उत्तरप्रदेश के बलिया जिले में हल्दी एक छोटा सा गाँव है। जहाँ कुछ दशकों पहले हैहय वंशी क्षत्रिय शासन करते थे, जिनके वंशज आज भी हैं। इनकी बिहार राज्य के डुमराँव के राजघराने से बड़ी तनातनी रहती थी। बलिया जिले के बैरिया के निवासी जमींदार बहोरन पाण्डेय डुमराँव नरेश के मैनेजर थे। एक बार बहोरन पाण्डेय पालकी में बैठकर हल्दी गाँव से होते हुए कहीं जा रहे थे। उस समय ग्रामीण बालकों को खेल में गाते हुए इन्होंने सुना -

राजा भइले रजुली, बहोरन भइले धुनिया।

मारेले दलगंजदेव, दलकेले दुनिया।।

अर्थात् डुमराँव के राजा रजुली-बहुत छोटा है और बैरिया के जमींदार बहोरन पाण्डेय जुलाहा-धुनिया है। हल्दी के राजा दलगंजनदेव के प्रताप के कारण सारी पृथ्वी काँपती है। लड़कों के इस गीत को सुनकर बहोरन पाण्डेय अत्यंत क्रुद्ध हो उठे और उन्होंने डुमराँव नरेश से बच्चों के गीत की कथा कह सुनाई। इस गीत को सुनते ही डुमराँव के राजा अत्यंत क्रोधित होकर हल्दी पर आक्रमण कर उसे परास्त कर दिया। यह एक स्थानीय घटना थी जिसमें हल्दी और डुमराँव के राजाओं के पारस्परिक संघर्ष का पता चलता है।¹⁶

अब हम यहाँ इस घटना के वर्णन गीत की भाव तुलना अगर अभिलेखों में वर्णित घटनाओं की भाषा से करें तो राजा के रजुली अर्थात् छोटा कहने की परिपाटी तथा धरती को अपने पराक्रम से काँपाने के रूपक पहले से चले आ रहे थे। चाहमान नरेश सोमेश्वर के बिजोलिया अभिलेख में कहा गया है-

जाबालिपुरं ज्वालापुरं कृता पालिकापि पल्ली इव

नड्वलतुल्यं रोषान्द्रदूलं येनशौर्येण।।

अर्थात् विग्रहराज ने जाबालिपुर को ज्वालापुर बना दिया, पालि को एक छोटा तुच्छ ग्राम बना दिया और नड्डुल (नाडौल) को बेंत की तरह झुका दिया। किसी शासक के पराक्रम से धरती के कंपकपाने का सन्दर्भ अत्यंत प्राचीन था, जो लोक में भी प्रचलित रहा होगा। गुप्त नरेश स्कन्दगुप्त के भितरी स्तम्भ लेख में कहा गया है कि जब हूणों का आक्रमण हुआ तब हूणों के साथ युद्ध क्षेत्र में उतरने पर उसकी भुजाओं के प्रताप से पृथ्वी काँप गयी तथा भीषण आवर्त (बवण्डर) उठ खड़ा हुआ- 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्या धरा कम्पिता।'।

इस प्रकार के अनेकों दृष्टांत मौखिक परम्परा में भी अपने-अपने ढंग से प्रचलित रहे और अपने ऐतिहासिक सन्दर्भों को स्वयं में समेटे रहे। भोजपुरी का तो इसमें विशिष्ट स्थान है, तभी तो डॉक्टर ग्रियर्सन को

यह कहने के लिए विवश होना पड़ा कि - “भोजपुरी उस उत्साही जाति की व्यावहारिक भाषा है जो परिस्थिति के अनुरूप अपने को बदलने के लिए हमेशा तैयार रहती है और जिसका प्रभाव हिन्दुस्तान के हर भाग पर पड़ा है। हिन्दुस्तान में सभ्यता फैलाने का यश बंगालियों और भोजपुरियों को प्राप्त है। इस काम में बंगालियों ने अपने कलम से काम लिया है और भोजपुरियों ने अपने डंडे से। भोजपुरियों की इस वीर प्रकृति में विरहा, लोर की आदि वीररस प्रधान लोकगीतों के उत्थान का रहस्या छिपा हुआ है।”¹⁷

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. राधेशरण, इतिहास और इतिहास लेखन, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2003, पृ. 1
2. पूर्वोक्त
3. गोविन्दचन्द्र पाण्डे, इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, संस्करण 2012, पृ. 48
4. वही, पृ. 167
5. कौलेश्वर राय, इतिहास दर्शन, दिल्ली, संस्करण 2018, पृ. 54
6. कार्ल बेकर, अटलांटिक मंथली, अक्टूबर, 1910, पृ. 528
7. विलियम रोजेन बर्ग, संपा. आचिण्टस डाक्यूमेंटेशन एण्ड इंस्टीट्यूशन ऑफ सोशल मेमोरी, द यूनिवर्सिटी ऑफ मिसिसिगन प्रेस, 2007, पृ. 221-222
8. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुर्निश्वाकवेडब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता यो नष्टः परन्तप ।। गीता, अध्याय-4, श्लोक 1-2
9. ग्राहम स्मिथ, द मेकिंग ऑफ ओरल हिस्ट्री लेख, सेक्शन 1-2 (इंटरनेट)
10. पूर्वोक्त
11. लाल बहादुर वर्मा, इतिहास के बारे में, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. तृतीय, 2000, पृ. 49
12. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी ग्राम गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन 2000, प्रयाग, पृ. 26
13. बलभद्र, भोजपुरी साहित्य देश के देस का, सर्वभाषा ट्रस्ट नई दिल्ली, 2020, पृ. 68
14. यह गीत मेरे मित्र कथाकार आशुतोष द्वारा उपलब्ध कराया गया ।
15. यह गीत डॉ. अजीत कुमार सिंह, रिटायर्ड, उ.प्र. शासन द्वारा मुझे फेसबुक के माध्यम से उपलब्ध कराया गया है। उनको यह गीत उनकी स्वर्गीया चाची श्रीमती मनबर्ता देवी सुनायी थी, जिसे उन्होंने लिपिबद्ध किया था ।
16. कृष्णदेव उपाध्याय, लोकसाहित्य की भूमिका, साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, 1957, पृ. 246
17. कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी ग्रामगीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, संस्करण 2000, पृ. 13

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास-बोध

विवेकानन्द उपाध्याय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सम्पूर्ण लेखन हिंदी के स्वत्व-बोध और जातीय चेतना की आत्मप्रतिमा है। उन्होंने सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना के साथ निबंध लेखन और अनुवाद के क्षेत्र में भी ऐतिहासिक कार्य किया। कविता क्या है नामक निबंध, हिंदी साहित्य का इतिहास, सूर तुलसी जायसी पर व्यावहारिक आलोचना, रस मीमांसा जैसी सैद्धांतिक रचना और बुद्ध चरित जैसा अनुवाद उनके रचना कर्म की उच्चता, गहराई तथा व्यापकता के प्रमाण हैं। आचार्य शुक्ल अपने जीवनकाल में ही किंवदंती बन चुके थे। उनकी साहित्यिक सीपनाएँ उनके जीवनकाल में ही बहस के दायरे में आ गई थीं। एक प्रकार से उनकी सीपनाओं, मान्यताओं और वर्गीकरण को लेकर पक्ष-विपक्ष में खूब लिखा गया। डॉ. ओमप्रकाश सिंह ने लिखा है, “एक दौर था जब साहित्यिक दुनिया से आचार्य शुक्ल को खारिज करने की भरपूर कोशिश की गई। ऐसे ही प्रयास का एक हिस्सा था- पत्र पत्रिकाओं में दबी पड़ी उनकी असंकलित रचनाओं को प्रकाश में न आने देने की कोशिश। आचार्य शुक्ल के लेखन के एक बड़े भाग से हम लगभग सात-दशक तक अपरिचित रहे। ऐसा कम हुआ है कि किसी रचनाकार की परवर्ती रचनाओं से आगामी पीढ़ी इतनी लंबी अवधि तक अपरिचित रही हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रचनाओं के साथ ऐसा हुआ है, इसके अनेक प्रमाण हैं।”¹

साहित्येतिहास क्या है? इसका पता देते हुए आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है, “ऐतिहासिक बोध, राष्ट्रीय अथवा भाषागत विशेषताओं का विचार, फिर पार्थक्य में अन्तर्निहित संपृक्तता का अभिज्ञान, तथा युग की प्रवृत्तियाँ और विकास की चेतना जब प्रत्यतत्त्वानुसंधान वृत्ति से समन्वित होते हैं, और शताब्दियों से एकत्र होती हुई सामग्री का वे अपने युग की इदानन्तता की दृष्टि से उपयोग करते हैं, तब साहित्येतिहासका निर्माण होता है।”² आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ के निर्माण की आवश्यकता, चिंता तथा संरचना की ओर संकेत करते हुए अपने इतिहास ग्रंथ के लेखकीय वक्तव्य में लिखा है, “इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तबसे उसके साहित्य के विचार-शृंखला- बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन-जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य स्वरूप में जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न-भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात-आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथ राशि सामने लगी हुई थी, पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिसके अनुसार

सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता ।..... सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना— यह भी न देखना कि खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं, किसी वृत्त संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता ।”³

उपर्युक्त उद्धरण से उन आवश्यकताओं और चिंताओं पर प्रकाश पड़ता है जिनसे शुक्ल जी का हिंदी साहित्य का इतिहास उत्पन्न हुआ है। सबसे पहली बात कि विश्वविद्यालय की शिक्षा में हिंदी साहित्य के इतिहास की आवश्यकता जिसका अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। अर्थात् शुक्ल जी का इतिहास किसी अतीत की आवश्यकता से उत्पन्न नहीं हुआ था। इसलिए स्वाभाविक रूप से ही शुक्लजी का इतिहास अपने वर्तमान को संबोधित है और उससे गहराई से संबंधित भी। दूसरी बात यह कि शिक्षित जनता की चित्तवृत्ति की चिंता। साहित्य पढ़े-लिखे लोगों का रुचि कर्म है इसलिए साहित्य और उसके इतिहास में उसके पाठक को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। इसलिए वह इतिहास तत्कालीन भारत की शिक्षित जनता को संबोधित है जैसे कि छायावाद की जागरण की चेतना वाली कविताएँ और प्रेमचंद के निबंध और उनका कथा साहित्य। तीसरी बात सुसंगतकाल विभाजन और कालों का प्रवृत्ति परक वर्गीकरण।

इतिहास में निरंतरता और परिवर्तन का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है। शुक्लजी विभिन्न युगों में विभिन्न प्रवृत्तियों की जब चर्चा करते हैं तो उसकी परंपरा का मूल तक जाकर उल्लेख करते हैं। दूसरी शुक्ल जी की काव्य दृष्टि हमेशा उनकी रचनाओं में प्रमुख रही। उन्होंने काव्य को धर्म और दर्शन से अलग किया और कभी भी दोनों को गडमड नहीं होने दिया। उनके लिए वेद उपनिषद आदि ग्रंथ साहित्य नहीं हैं तथा छंदबद्ध होने के बाद भी वे काव्य के अंतर्गत नहीं आते।

प्रो. ओमप्रकाश सिंह ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की ग्रंथावली के संपादन करते हुए उसकी भूमिका में लिखा कि आचार्य शुक्ल हिंदी के पहले व्यवस्थित आलोचक हैं। सिर्फ आलोचक ही नहीं शुक्ल जी हिंदी भाषा और साहित्य के पहले व्यवस्थित इतिहासकार भी हैं। साहित्य का इतिहास राजनीतिक- सांस्कृतिक इतिहास से बहुत बहुत गहराई से संपृक्त होता है। इसका प्रमाण है आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास ग्रंथ। साहित्यिकता और ऐतिहासिकता दोनों के ही छोरों को स्पर्श करता हुआ वह ग्रंथ अंततः भारत की बौद्धिक आत्मा को संबोधित और समर्पित है। आचार्य शुक्ल ने अपने समय में प्रवेश के लिए इतिहास में प्रवेश किया और साहित्य परंपरा का एक अविच्छिन्न रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। अमरीकी के संस्कृत विद्वान प्रो. शेल्डन पोलक ने पिछले एक हजार वर्षों के भारतीय इतिहास को देसी भाषाओं की सहस्राब्दी (वर्नाक्युलर मिलिनेयम) की संज्ञा दी है। हिंदी साहित्य का इतिहास पिछले एक हजार वर्षों का इतिहास है। शुक्ल जी जनता नहीं बल्कि शिक्षित जनता की चित्तवृत्तियों की चिंता कर रहे हैं। इस भाषा और साहित्य की लोकधारा उनके साहित्य के इतिहास से बाहर हो गयी। हिंदी साहित्य के इतिहास की मौखिक परंपरा पर अभी भी शोधकार्य किए जाने तथा उसका इतिहास प्रस्तुत किए जाने की आवश्यकता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल भक्ति आंदोलन के उद्भव और विकास के बारे में लिखते हैं, “देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकासन रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक सीपित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे हिंदू

जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"⁴

शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि का स्रोत शास्त्र अर्थात् केवल पुस्तकें ही नहीं थी। लोक परंपरा से भी उन्होंने काफी कुछ प्राप्त किया था। काव्य में रहस्यवाद को लेकर शुक्ल जी के मत की आलोचना आज भी की जाती है और उनके जीवनकाल में उनके सामने ही की जाती थी। शिवमंगल सिंह सुमन ने प्रसादजी की पुण्यतिथि की अवसर पर आयोजित कार्यक्रम की ऐसी ही एक घटना का हवाला दिया है जिसमें वक्ता शुक्लजी की रहस्यवाद संबंधी मान्यताओं का विरोध करने लगे। शुक्लजी ने उस अवसर पर जो वक्तव्य दिया वह रहस्यवाद संबंधी शुक्ल जी की मान्यताओं को बहुत असरदार तरीके से स्पष्ट कर देता है। उन्होंने कहा, "मैंने न आज तक कहीं लिखा, न कहा कि भारत में रहस्यवाद नहीं था। भारत में रहस्यवाद था भावनात्मक भी और साधनात्मक भी। तंत्र और हठयोग के अंतर्गत उसका समावेश था। उपनिषदों में तो उसकी प्रतिच्छाया है ही। पर उपनिषद आदि दर्शन के ग्रंथ हैं। उस समय तो धर्म, संप्रदाय, दर्शन, आयुर्वेद आदि सभी शास्त्र पद्य में, श्लोकों में ही लिखे जाते थे। मैंने तो केवल इतना ही कहा है कि भारतीय काव्य में रहस्यवाद नहीं था। काव्य से मेरा तात्पर्य वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सर्जकों की कृतियों से था। क्या यहाँ बैठे विद्वानों में से कोई आदि कवि वाल्मीकि से लेकर पंडित राज जगन्नाथ तक एक भी पंक्ति रहस्यवाद की दिखला सकते हैं।"⁵ सुमनजी कहते हैं कि ऐसा लगा जैसे दो-ढाई घंटे के भाषणों की बलुही दीवार आँधी के एक झोंके से ही ध्वस्त हो गई।

शुक्ल जी की साहित्य समझ और इतिहास दृष्टि पर सबसे मार्मिक और ध्वंसात्मक प्रहार जैनेन्द्र ने किया है। अक्सर प्रो. नामवर सिंह भी शुक्ल जी के इतिहास ग्रंथ और बोध पर जैनेन्द्र की इस मान्यता की चर्चा किया करते थे। शुक्ल जी की ग्रंथावली के विमोचन के अवसर पर भी उन्होंने इसका उल्लेख किया। शुक्ल जी के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ के बारे में जैनेन्द्र का मत है, "हिंदी साहित्य का इतिहास है और उसकी कड़ी हरिश्चंद्र से नहीं, सदियों शताब्दी दूर से मिलती चली आती है इस बात को शुक्ल जी से पहले किसी ने जाना भी था तो उसका दान नहीं दिया था। शुक्ल जी ने वह दृष्टि प्रस्तुत की। इतिहास और भी लिखे गये हैं, पर वे संकलन से कुछ भी अधिक हैं तो शुक्ल जी की दी हुई दृष्टि पर ही आधारित हैं, ब्यौरों में फर्क हो, सामग्री के पेश करने के ढंग में कुछ अंतर हो, लीक वही है। फिर भी कहना होगा कि इतिहास उन्होंने जुटाया है, जगाया नहीं है। अर्थात् सब मिलाकर उनका इतिहास कोई संदेश नहीं देता।"⁶ साहित्यिक रचनाएँ खुद अपना संदेश होती हैं। वे अपने रूप और अंतर्वस्तु से अलग कोई संदेश दें यह आवश्यक नहीं होता। फिर भी जैनेन्द्र के लिए अलग से संदेश का क्या अर्थ है वही बता सकते हैं। अगर शुक्लजी का इतिहास कोई संदेश न देता तो इस तरह कालजयी न होता। इसी तरह वे कहते हैं, "इतिहास शुक्ल जी के आगे चित्रवत् ही आ सका वह उनके निकट एक फाइल के रूप में था। इस प्रकार का इतिहास भविष्य के लिए मार्गदर्शक नहीं होता, न कोई विधायक स्फूर्ति दे सकता है। साहित्य का इतिहास संस्कृति का व्यक्त इतिहास है। क्या शुक्ल जी को इसकी पहचान थी।"⁷ यहाँ भी प्रश्न वही है पर दूसरे ढंग से उठाया गया है। शुक्लजी का हिंदी साहित्य का इतिहास बहुत गहराई से अपने वर्तमान से संपृक्त है। इसकी बानगी सर्वत्र देखी जा सकती है। अगर हम याद करें कि विद्यापति के प्रसंग में जब शुक्ल जी कहते हैं कि आजकल आध्यात्मिक रंग के चश्मे बहुत सस्ते हो गए हैं तो यह बात भले ही विद्यापति के प्रसंग में कही जा रही है लेकिन संकेत अपने वर्तमान की ओर ही है। शुक्ल जी जिस युग में हुए वह नवजागरण की नैतिकता का युग था। त्याग, तप और संयम का युग था। इसलिए शुक्ल जी के लिए

विद्यापति की पदावली में राधाकृष्ण का नाम आने मात्र से वह आध्यात्मिक हो जाती ऐसा नहीं था। इसी तरह तुलसीदास के रामचरित मानस में के प्रसंग में चल रही किंवदन्ती के अनुसार स्वयं भगवान शिव ने रामचरित मानस पर सत्यं शिवं सुन्दरम् अंकित किया था - को अस्वीकार करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि सत्यं शिवं सुन्दरम् कोई वेद- उपनिषद का वाक्य नहीं है बल्कि अंग्रेजी के दू टू गुड एंड ब्यूटीफुल का अनुवाद है। ऐसा लगता है कि जैनेन्द्र एक तो साहित्य के इतिहास को साहित्य की एक विधा जैसा मानते हैं। दूसरी बात यह कि वे साहित्य के इतिहास लेखन की जटिलताओं से संभवतः परिचित नहीं लगते क्योंकि जितने सरलीकृत ढंग से जैनेन्द्र ने शुक्ल जी के इतिहास को खारिज किया है वह बहुत अर्थपूर्ण नहीं लगता। हो सकता कि कुछ और लोगों को भी लगता हो कि शुक्लजी ने इतिहास को सिर्फ इकट्ठा किया जगाया नहीं। लेकिन अगर शुक्ल जी इतिहास न जगाया होता तो हिंदी आलोचना आज जिस वृहत् सांस्कृतिक विमर्श में तब्दील हो चुकी है, वह संभव न होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल केवल साहित्य का आलोचक नहीं थे बल्कि वे अशोक वाजपेयी के शब्दों में भारत के एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी भी थे। उनकी सार्वजनिक बुद्धि जीविता का विकास और विस्तार परवर्ती हिंदी आलोचना में हुआ है। जैनेन्द्र संभवतः उन सूत्रों को पकड़ नहीं पाए। इसी तरह तुलसीदास के प्रसंग में भी वे शुक्ल जी की भूल रेखांकित करने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं, “तुलसी को जो भीतर तक निपट भीगे भक्त थे, शुक्ल जी ने नाना बनाव में देख – दिखा डाला है। उनको विद्वान माना, नीति दाता माना, समाज सुधारक, लोक संग्रहक, लोक नेता माना। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यह कृपा आलोचक की अकृपा है।”⁸ लेकिन उनकी इस आपत्ति का स्रोत कविता के बारे में उनकी समझ से है जो उनके अगले ही वाक्य में व्यक्त हुई है। वे कहते हैं, “समझदार आदमी कवि को अपनी समझदारी की नाप-काट में देखने को लाचार हो, पर कवि कर्म समझदारी का कर्म नहीं है, वह तो प्रीति के आवेग द्वारा संभव होता है।”⁹ प्रीति के आवेग से कविता के जन्म का सिद्धांत किसी ठोस जमीन पर आधारित नहीं है। कविता प्रीति का व्यापार मात्र नहीं है वह एक बेहद गंभीर बौद्धिक कर्म है जिसका प्रभाव तत्काल श्रोता या पाठक पर पड़ जाता है। कविताएँ ही हैं जो मंत्र में बदल जाती हैं और सुनने वालों को अपनी अपनी चमक से भीतर तक आलोकित कर जाती हैं। यह कार्य केवल प्रीति के आवेग से ही संभव नहीं है।

दूसरी बात यह कि वे साहित्य के आनंद वाले प्रतिमान को साहित्य के इतिहास पर भी लागू कर देते हैं। एक तो साहित्य का इतिहास कोई साहित्यिक विधान ही है। दूसरी बात यह कि शुक्लजी का हिंदी साहित्य का इतिहास परवर्ती लेखकों के हिंदी साहित्य के इतिहास के मुकाबले आज भी ज्यादा सरस है। तमाम जानकारीयों और ज्ञान के नए अनुशासनों से संपन्न होने के बावजूद वैसा सरस साहित्य का इतिहास हिंदी में दुबारा नहीं लिखा जा सका। रही बात इतिहास जगाने की तो हिंदी में आलोचना का व्यवस्थित ढाँचा अगर शुक्ल जी द्वारा न मिला होता तो हिंदी भाषा और साहित्य को आज भी जो प्रमुखता प्राप्त है वह नहीं होती क्योंकि हिंदी में रचनात्मक लेखन के साथ व्यावहारिक और सैद्धांतिक आलोचना का भी आवश्यक विकास होता रहा। अगर आलोचना कर्म पिछड़ जाता तो हिंदी की साहित्य गतिविधि आज इतनी संपन्न नहीं होती। इसके लिए हिंदी संसार सदैव ही शुक्ल जी का ऋणी रहेगा। वस्तुतः यह हमारे समकालीन विमर्श की बहुत बड़ी विसंगति है कि हम जिस चीज से असहमत होते हैं उसे प्रायः इतिहास के कूड़ेदान में डलवा देने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी शुक्ल जी का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं, “शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुखी नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र,

संस्कृति और मनोविज्ञान की वस्तुन्मुखी मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबंध-कथानक और जीवन सौंदर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते।¹⁰ लेकिन सवाल यह कि शुक्लजी का मूल्यांकन क्या सिर्फ इसी आधार पर करना उचित है कि उन्होंने क्या नहीं किया। यह सवाल तो उनके बाद आने वाले आलोचकों से भी पूछा जा सकता है कि वे खुद तो शुक्ल जी कमियों से मुक्त तथा ज्यादा ज्ञानवान थे तो वे शुक्लजी से बेहतर तो छोड़िए उनके जैसी सरस कोई आलोचनात्मक कृति क्यों नहीं प्रस्तुत कर पाये। लेकिन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी का यह कथन इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि वे न केवल शुक्लजी के विद्यार्थी थे बल्कि बाद में चलकर अपने समय में हिंदी के अग्रणी आलोचक भी थे। शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथ की रचना के प्रसंग में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अवश्य ही उल्लेखनीय बात कही है। वे कहते हैं “पं. रामचंद्र शुक्ल ने जो इतिहास लिखा है, उसे पं. रामचंद्र शुक्ल ही लिख सकते थे, जिन दिनों वह इतिहास लिखा गया था, उन दिनों हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए जैसे सामग्री की आवश्यकता होती है, वैसे उपलब्ध नहीं थी। थोड़े से कवि-वृत्त संग्रह अवश्य वर्तमान थे, परंतु उन्हें इतिहास नहीं कहा सकता।”¹¹ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने समस्या पर बिलकुल सही जगह अँगुली रखी है क्योंकि हिंदी में व्यवस्थित आलोचना का जो पहला प्रयास किया वह शुक्ल जी ने किया। यद्यपि द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की साहित्य संबंधी मान्यता की ओर संकेत करते हुए कहा कि वे साहित्य को केवल शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों के निरूपण का शास्त्र ही मानते थे। इसी कारण शुक्ल जी ने संत साहित्य के प्रति बहुत सदयता नहीं दिखाई। द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के काल विभाजन के गुणों की तारीफ करते हुए लिखा है, “शुक्ल जी के काल विभाग में एक बड़ा भारी गुण यह है कि वह प्रवृत्तियों को स्पष्ट इंगित करते हैं, पर कभी-कभी दूसरी प्रवृत्तियाँ जो थोड़ी कम शक्तिशाली होती हैं, गौण बन जाती हैं।”¹² इतना ही नहीं द्विवेदी जी ने शिवमंगल सिंह सुमन के पूछने पर कि बंगला में आचार्य शुक्ल की समानता का कौन समीक्षक है तो द्विवेदी ने जवाब दिया, “सच पूछिए तो बंगाली में संप्रति शुक्ल जी की ऊँचाई और गहराई का एक भी समीक्षक नहीं है। यद्यपि अन्य भाषाओं के साहित्य की पूर्ण जानकारी के बिना इस संबंध में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ, पर जहाँ तक मैं जानता हूँ भारत की किसी भी भाषा में आचार्य शुक्ल सरीखा सम्यक, समालोचक सुलभ नहीं है।”¹³ जो लोग द्विवेदी जी को शुक्ल जी के विरोध में खड़ा करने की कोशिश करते हैं उनके लिए उपर्युक्त उद्धरण काफी होगा।

आचार्य नामवर सिंह ने शुक्ल जी के लेखन के आलोचक विवेक, प्रज्ञा, रचनात्मकता और नैतिकता की चर्चा की है। साथ ही दिखाया है कि शुक्ल जी की आलोचना का वस्तुगत आधार काव्यभाषा है। वे कहते हैं, “रीतिकाव्य की समीक्षा के प्रसंग में आचार्य शुक्ल की मर्मग्राहिणी प्रज्ञा का एक और महत्वपूर्ण पक्ष सामने आता है और वह है काव्य भाषा संबंधी चिंता।”¹⁴ लेकिन शुक्ल जी की काव्यभाषा संबंधी चिंता को अन्य आलोचकों की काव्य भाषा संबंधी चिंता से अलग कुछ इस प्रकार है। आचार्य नामवर सिंह के शब्दों में, “अधिकांश कवियों की समीक्षा उनकी भाषा से या तो आरंभ होती है या समाप्त। शायद ही कोई महत्वपूर्ण कवि हो जिसकी भाषा पर शुक्लजी ने टिप्पणी न की हो। तारतमिक तुलना इस भाषा विवेचन की भी विशेषता है।”¹⁵ शुक्ल जी के शब्दों में रीतिकाल के कवियों की काव्यभाषा की विशेषताएँ कुछ इस प्रकार हैं। जैसे - बड़े कवियों में देव का विशेष गौरव का सीन है लेकिन कहीं कहीं शब्द व्यय बहुत अधिक और अर्थअल्प, भूषण की

भाषा में ओज है लेकिन अव्यवस्थित है। बिहारी की भाषा चलती होने पर साहित्यिक है। वाक्य रचना व्यवस्थित है। शुक्ल जी ने तुलसीदास की तरह पदमाकर की भाषा में अनेक रूपता की चर्चा की है। रहीम की कविता की लोकप्रियता का वस्तुगत आधार यह है कि उन्हें जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव था। इसी तरह घनानंद की आलोचना के प्रसंग में भी शुक्ल जी उनकी भाषा की तारीफ करते हुए कहते हैं कि भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।

आचार्य नामवर सिंह ने शुक्ल जी के आलोचनात्मक ग्रंथों की सबसे बड़ी विशेषता बताते हुए तन्मयता का प्रश्न उठाया और कहा है, “तन्मयता केवल किसी महान काव्य या उपन्यास का ही गुण नहीं है बल्कि एक कालजयी आलोचनात्मक कृति भी उसी प्रकार तन्मय करने की क्षमता रखती है। यदि इस कथन की सच्चाई में किसी को संदेह हो तो वह आचार्य शुक्ल की श्रेष्ठ समालोचना-कृतियों को पढ़ ले।”¹⁶

रामविलास जी ने शुक्लजी द्वारा रहस्यवाद के विरोध के कारणों की वस्तुगत वैचारिक पहचान स्पष्ट करने की कोशिश की है। वे कहते हैं, “यद्यपि शुक्ल जी गोचर जगत को ब्रह्म की व्यक्त सत्ता मानते हैं, फिर भी काव्य के लिए वह अगोचर ब्रह्म की जरा भी आवश्यकता नहीं समझते। यही वह वस्तुवाद की भूमि है जहाँ से वे रहस्यवाद या भाववाद के झूठे दावों का खंडन करते हैं।”¹⁷ आचार्य शिवकुमार मिश्र का लेख भक्ति काव्य और आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी के दार्शनिक चिंतन तथा समकालीन चिंताओं को रेखांकित करता है जहाँ शुक्ल जी की आलाचना दृष्टि और विश्व दृष्टि निर्मित हुई। वे कहते हैं, “जाहिरा तौर पर शुक्ल जी की जीवन दृष्टि या विश्व दृष्टि मूलतः भाववादी या प्रत्ययवादी है। वे जगत को अव्यक्त या ब्रह्म का व्यक्त रूप मानते हैं, ब्रह्म की आनंद कला की बात करते हैं, अवतारवाद पर उनकी आस्था है, भक्ति भले ही उसका आलंबन ईश्वर का व्यक्त रूप हो, उनके लिए धर्म की रसात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति है। किंतु शुक्ल जी यहीं आकर ठहर नहीं जाते अथवा यही उनकी विश्व दृष्टि का निर्णायक बिंदु नहीं है। मूलतः प्रत्ययवादी होते हुए भी व्यवहारतः वे वस्तुवाद के निकट खड़े दिखायी देते हैं अर्थात् एक बार जगत को अव्यक्त का रूप बता चुकने के पश्चात् वे अपने सारे चिंतन को इस व्यक्त जगत तक ही सीमित कर देते हैं।”¹⁸ विश्वनाथ त्रिपाठी ने आचार्य रामचंद्र शुक्ल की भाषा शीर्षक अपने लेख में शुक्ल जी की भाषा संबंधी मान्यताओं ही नहीं बल्कि उसके स्रोतों को भी स्पष्ट किया है और उनकी आलोचना में स्पष्टता और गहराई का कारण वे शुक्ल जी के भाषा संबंधी ज्ञान को ही मानते हैं। वे कहते हैं, “हिंदी के श्रेष्ठ आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचक बनने की भारी तैयारी की थी। वे हिंदी भाषा की प्रकृति के जानकार भाषाविद् थे। भारतीय काव्य शास्त्र के प्राचीन आचार्य भाषाविद् होते थे। यह आकस्मिक या संयोग नहीं बल्कि आवश्यक था।...हिंदी भाषा के लगभग एक लाख शब्दों का अर्थ लिखने का अर्थ क्या होता है। उन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ, संदर्भ, प्रयोग, व्यवहार-विधि जानना और बताना। इन्हीं शब्दों से तो साहित्य बनता है।...शुक्ल जी की भाषा जो इतनी तथ्य निरूपिणी है, इसका एक महत्वपूर्ण कारण उनका कोशकार होना है।”¹⁹

आचार्य शुक्ल का इतिहास-ग्रन्थ अनेक अर्थों में हिंदी का गौरव-ग्रन्थ है। आज भी हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन की परम्परा हो या हिंदी साहित्य का इतिहास शुक्लजी के बिना इन पर कोई बात मुकम्मल तौर पर नहीं हो सकती। उन्होंने न केवल हिंदी साहित्य के इतिहास का एक स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया बल्कि उस स्वरूप का एक तार्किक आधार सिद्धांत भी स्पष्ट किया है। साहित्य और आलोचना की शक्ति और उसकी विविध व्यंजनाओं से आधुनिक युग का वह काल ही सूक्ति निर्माण की सरसता और प्रचुरता के लिहाज से अत्यंत समृद्ध रहा। शुक्ल जी उनका संपूर्ण लेखन भारत की जनता को संबोधित है। ऐसा लगता है कि शुक्लजी अपने समय से शास्त्रार्थ और संवाद कर रहे थे, जिसमें वाद-विवाद की अनेक संभावनाओं के गवाक्ष भी मौजूद हैं।

शुक्ल जी का इतिहास ग्रंथ पठनीयता की भी दृष्टि से अत्यंत समादृत कृति है। जिसमें उनकी निबंध-कला तथा उनकी व्यावहारिक आलोचना का अद्भुत समन्वय उपस्थित है। उनके इतिहास ग्रन्थ के अध्ययन मात्र से ही सामान्यतः शुक्ल जी के गद्य और उनकी व्यावहारिक आलोचना की ऐतिहासिक हासिल से रूबरू हुआ जा सकता है। शुक्लजी अपने समय के सर्वाधिक प्रखर, तार्किक एवं सुव्यवस्थित लोक बुद्धिजीवी हैं जो प्रत्येक सचेत पाठक और अध्येता को आमंत्रित करते हैं कि आओ मेरे सहारे अपनी साहित्यिक बोध की शक्ति का परीक्षण करो। उनका इतिहास-बोध हिंदी के जातीय-बोध से स्पंदित और निर्मित हुआ है।

एम.एम.वी., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी - 221005

सन्दर्भ -

1. ओमप्रकाशसिंह, भूमिका आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. (अ)
2. आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, प्रथम संस्करण भूमिका पृ. 3
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रथम संस्करण का वक्तव्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं 2047 वि.
4. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास पृ. 34
5. वही पृ. 67
6. जैनेन्द्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 88-89
7. वही पृ. 89
8. वही. पृ. 90
9. वही पृ. 90
10. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 124
11. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 125
13. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 129
14. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, शिवमंगल सिंह सुमन द्वारा उद्धृत, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं-ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 69
15. नामवर सिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 229
16. नामवर सिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 229
17. नामवर सिंह, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 234
18. रामविलास शर्मा आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 197
19. शिवकुमार मिश्र, आचार्य रामचंद्र शुक्ल वैचारिक परिभूमि, (सं- ओमप्रकाश सिंह) प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012 पृ. 229

छत्तीसगढ़ की प्राचीन कला संस्कृति

मोहन लाल चढ़ार

छत्तीसगढ़ की प्राचीनतम सांस्कृतिक विरासत, ऐतिहासिक, पुरातात्विक व भौगोलिक पृष्ठभूमि अत्यन्त प्राचीनतम है। इस क्षेत्र का भू-भाग प्राचीनकालीन साहित्य में विन्ध्यपाद, महाकान्तार, कोसल, दक्षिण कोसल, दण्डकारण्य, धान का कटोरा इत्यादि विविध नामों से पहचाना जाता था। यह क्षेत्र भारत की प्राचीन विभिन्न आदिवासियों की संस्कृतियों से परिपूर्ण माना जाता है। विन्ध्याचल एवं सतपुड़ा पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य में स्थित वनाच्छादित इस भू-भाग की जीवनदायिनी, इन्द्रावती, शिवनाथ, खारुन, अरपा, पैरी, हसदों, कन्हार, जोन्क, रिहांद आदि नदियाँ अपने जल से अभिसिंचित करती हैं। वन एवं खनिज की प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण यह भू-भाग प्रागैतिहासिक काल से मानव की क्रीड़ा स्थली रहा है। यहाँ पर स्थित पर्वत श्रृंखलाओं में गौरलटा, समरीपाट, नन्दीराज, बदरगढ़, मैकलश्रेणी, मैनपाट, देवगढ़, घाटी डोगर, अबुझमाड़, रामगढ़, मातिरिगा, सिंहावा में पाषाणकालीन शैल चित्रकला काफी संख्या में मिलती है। जो इस प्रदेश की प्राचीनतम कला के साथ-साथ संस्कृति पर व्यापक प्रकाश डालती है। इस क्षेत्र में वहाँ निवास करने वाली अनेक आदिवासियों में एक प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा शैल चित्रकला के माध्यम से दिखाई देती है।¹

छत्तीसगढ़ में प्रागैतिहासिक से लेकर ऐतिहासिक काल की शैल चित्रकला सिंघनपुर, कबरा पहाड़, विक्रमखोल, चितवाडोंगरी बसनाझर, कर्मागढ़, लेखामाड़ा, जोगीमठा, आलोर इत्यादि स्थलों से बड़ी मात्रा में प्राप्त हुई हैं। यहाँ से प्राप्त शैलचित्रों की विषय-वस्तु के रूप में तत्कालीन पाषाणकालीन मानव की कलाप्रियता तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ तत्कालीन समाज की विविध गतिविधियों की विधिवत जानकारी होती है। शैलचित्रों के माध्यम से शिकार, आखेट तथा खाद्य-संग्राहक जीवन-पद्धति तथा सामाजिक गतिविधियों पर प्रकाश पड़ता है। आखेट में प्रयोग होने वाले पाषाण उपकरण नदियों व पर्वतों के समीपवर्ती क्षेत्रों से मिले हैं। रायगढ़ जिला के विभिन्न क्षेत्रों जैसे सिंघनपुर, कबरा पहाड़, बसनाझर, औंगना, कर्मागढ़, बेनीपाट, खैरपुर तथा नवागढ़ी-पहाड़ी के प्रागैतिहासिक शैलचित्र भारतीय पुरातत्व, कला संस्कृति की महत्वपूर्ण पहचानबनाये हुए हैं।²

छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश के आदिवासियों में अपने शरीर पर गोदना गोदवाने का प्राचीन कालीन परम्परागत कला का उत्तम उदाहरण मिलता है। घर के मुख्य द्वार के आसपास नोहडोरा चित्रकला बनायी जाती है इसमें पेड़ पौधों, फल, पत्ते, पशु-पक्षियों, बेलबूटे, मिथकीय कथाचित्र, देवी देवताओं के चित्र मिट्टी की दीवालों पर उभार कर महिलाओं द्वारा बनाये जाते हैं। चौककला एक चित्रकला का प्राचीन परम्परागत रूप है

इसका प्रचलन भी इस क्षेत्र के आदिवासियों में मिलता है। इसके अन्तर्गत चौक पूरने (माण्डने) से पहले गोबर की लिपाई करके उसके ऊपर भीगे चावल के धोल अथवा चावल के सूखे आटे से यह चित्रणकला बनायी जाती है। उक्त सभी चित्रकलाएँ वैवाहिक अवसरों मांगलिक अवसरों व त्यौहारों पर बनायी जाती है। जिसमें कलाकारों के हाथों का संतुलन एवं रंगों का संयोजन काफी महत्वपूर्ण होता है। गोदना के चित्रों, चौककला व नोहडोरा चित्रकला का साम्य पाषाणकालीन शैल चित्रकला से काफी कुछ मिलता-जुलता है।

छत्तीसगढ़ आदिवासी बहुल क्षेत्र होने के कारण अपनी मौलिक सांस्कृतिक परम्परा को युगों-युगों से जीवित बनाए हुए है। इस वन का सम्बन्ध रामायणकाल एवं महाभारत काल से भी है। छत्तीसगढ़ की प्राचीन लोक-संस्कृति एवं कलाएँ आज समाज में विद्यमान हैं, जो प्राचीन भारतीय कला, संस्कृति, संगीत, नृत्य, किवदन्तियों के रूप में अपनी अलग पहचान रखती हैं। बस्तर क्षेत्र प्राचीन दण्डकारण्य वर्तमान कांकेर तथा दंतेवाड़ा इत्यादि में आदिवासियों की जनसंख्या काफी अधिक पायी जाती है। यहाँ निवास करने वाली आदिवासी जातियों में मुख्यतया गौड़, माड़िया, मुरिया, धुरवा, परजा, भतरा, दोरला, हलवा तथा गड़वा हैं। उनकी अपनी अलग ललित कलाएँ, संस्कृति और रीति-रिवाज व परम्पराएँ हैं। यहाँ की सभी जनजातियाँ में किसी न किसी प्रकार की अपनी अलग एक कला है। इनकी कला का माध्यम भी भिन्न-भिन्न हैं। इनकी मूर्तियाँ मिट्टी, लकड़ी और धातुओं से बनाई जाती हैं। यहाँ की लोक परम्परा व संस्कृति में प्राचीन कालीन कला एवं चित्रकारी आज भी मौलिक रूप में विद्यमान हैं।³

छत्तीसगढ़ की जनजातियों की सामाजिक एवं आर्थिक संरचना में उनकी सांगीतिक एवं कलात्मक विशेषताएँ उल्लेखनीय है। इस क्षेत्र की जनजातियों में कोल, मुण्डा तथा गौड़ महत्वपूर्ण हैं। उराँब जनजाति (सरगुजा-रायगढ़), माड़िया गौड़ (बस्तर), कमार जनजाति (रायपुर, गरियावंद सिहावा) तथा छत्तीसगढ़ के कुछ क्षेत्रों में बैगा, कोरवा, पाण्डु, भूइयों, भतरा, परजा, अघरिया परधान, मुरिया माड़, मिन्ज, हलवा आदि जनजातियाँ बसी हुई हैं। इत्यादि आदिवासी जातियाँ बड़ी मात्रा में पायी जाती है। इन सबके अपने अपने सामाजिक रीति-रिवाज और धार्मिक विश्वास हैं। इनकी अपनी एक सामाजिक संरचना है। जिसके अन्तर्गत भोजन, वस्त्रभूषण, अवास, सामाजिक संगठन, जन्म संस्कार, विवाह, मृतक संस्कार, बोली एवं मनोरंजन इत्यादि से संबंधित सामाजिक गतिविधियाँ संचालित होती हैं। बहु-विवाह प्रथा का प्रचलन भी यहाँ देखने को मिलता है।⁴

आदिवासी समुदाय के पुरुष वस्त्रों में धोती, बनियान, कमीज पहनते हैं। स्त्रियाँ ब्लाउज एवं घुटने तथा साड़ी पहनती हैं। इस क्षेत्र की महिलाएँ आभूषण के रूप में गोदना गुदवाती है एवं चाँदी के आभूषण पहनती है। आदिवासी जाति के लोगों के मकान प्रायः कच्चे बने मिलते हैं। आदिवासियों का एक स्वयं का सामाजिक संगठन होता है।⁵ इस क्षेत्र के आदिवासियों में टोटम (जाति का पहचान चिन्ह) के नाम पशु पक्षियों, पौधों, मछली, फल, पत्थर की चट्टान इत्यादि पर आधारित होते हैं। जैसे डूंगडूंग, हंसदा या आईद-एक लम्बी मछली, कुल या मुरु-कछुआ, केरकेट्टा-एक पक्षी, बिलुंग-निमक, सोरेंग, सेरेंग, तोरेंग या सौरन-पत्थर या चट्टान, बा-धान, टेहेहों-एक पक्षी, समाद-हरिण, बागे-बटेर, बरलिहा-एक फल, चारहाद, तोपनो या चारहा-एक चिड़िया, मैल अथवा किरो या लकड़ा-बाघ, अड्डों-बैल, अल्ला-कुत्ता, बंडों-जंगली बिल्ली, बरबा या खोया-जंगली कुत्ता, चिडरा या चिडरा-गिलहरी, चिगालो या सिकटा- गीदड़, एडगो-चूहा, गाड़ी-मामूली बन्दर, हलमान-हनुमान, ओस्गा-खेत, रुंडा-लोमड़ी, तिग्गा एक प्रकार का बन्दर, तिकी-छौटा चूहा इत्यादि। इन गोत्रों में तोपनों व किरो हीन समझे जाते हैं। मुरु और समाद श्रेष्ठ माने जाते हैं। श्रेष्ठ गोत्रों के पुरुषा को सभा और समितियों में सभापति बनाया जाता है। उच्च गोत्र का व्यक्ति ही शादी या अन्य समारोहों में पहला कौर खा

सकता है। पक्षियों के आधार पर गोत्र मिलते हैं जैसे बकुला-बगुला, गढवा सारस, गेडे-बतख, खाखा-कौवा, कोकरो-मुगा, केरकेट्टा-एक पक्षी, टोप्पो-पक्षी इत्यादि।⁹ कुछ गोत्र जलचरों के नाम पर मिलते हैं। जैसे एक्का-कलुआ, गोडों मगर, मिंज-एक मछली इत्यादि। छत्तीसगढ़ प्रदेश के आदिवासियों में पितृ-सत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। वर्तमान में भी इस क्षेत्र के आदिवासियों में शिक्षा का अभाव है। यहाँ पर छत्तीसगढ़ी बोली का प्रभाव मिलता है। यह गोत्र परम्परा हमें प्राचीन ग्रन्थों जैसे स्मृतियाँ, ग्रहसूत्र व पुराणों में भी मिलती है।

इस क्षेत्र के आदिवासी जनजातियों के मनोरंजन के साधनों में लोक-नृत्य, लोकगीत लोकवाद्य एवं लोक-कलाएँ, लोक गाथाओं, पहेलियों, कहावतें, कहानियाँ, धार्मिक कथाएँ, विभिन्न खेलों में मुर्गों की लड़ाई, शिकार मड़ई, मेले, हाट बाजार हास-परिहास इत्यादि प्रमुख हैं। इनकाजीवन-यापन कृषि एवं वनोपज, शिकार, पशु-पालन, मजदूरी से चलता है। वनोपज व कृषि कार्य व मजदूरी में महिलाओं का सहयोग प्रमुखता से रहता है। महिलाएँ बांस व अन्य वनस्पतियों के पंखे, टोकरियाँ, स्टूल, चटाई तथा रस्सी इत्यादि बनाती हैं।¹⁰ यह कला संस्कृति के प्रमाण हमें प्राचीन काल से निरन्तर मिलते आ रहे हैं।

छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश के आदिवासियों में नृत्य, गीत अधिक देखने को मिलते हैं। लोक-संगीत एवं लोक-कला का सम्बन्ध उनके प्रमुख त्योहारों से जुड़ा हुआ है। जैसे वर्ष के प्रारम्भ से लेकर फसल कट जाने तक गौड़ जनजाति का प्रमुख करमा नृत्य एवं करमा गीत का आयोजन किया जाता है। सैला नृत्य का आयोजन अक्टूबर से लेकर फरवरी मास तक गौड़, उराँव, बिझवार, भारिया, धनवार आदिवासियों में किया जाता है। बार नृत्य कँवर जाति का प्रमुख नृत्य है। छेरछेरा, सोहराई पर्व (माघ माह), सरहुल, जातरा, फाग, दशहरा (दसई), बिलया (विरहा) नृत्य गीत, झरपट (छेड़-छाड़), डोमकच (दमनच/दमचक) नृत्य-गीत वैवाहिक अवसर पर उराँव कोरवा एवं नगेसिया आदिवासियों द्वारा आयोजित किया जाता है। ददरियागीत इस क्षेत्र का प्रमुख प्रचलित गीत है। ददरिया एक प्रेमगीत है जिसे महिला तथा पुरुष अलग अलग पंक्तिबद्ध होकर सवाल-जबाब के रूप में गाया जाता है। छत्तीसगढ़ के लोक-नृत्यों में सरहुल, सुआगीत नृत्य, पुरवा, करमा, झूमर नृत्य, भतरा, शैला या डण्डा नृत्य, गौर या गवर नृत्य, चैतपरन, परजा-नृत्य, गवर नृत्य, काकसार घोटुल मुरिया, रेला, रीलो, छेरका तथा गेड़ी, करमा, सुवा, हिरकी, गौरापूजा, छेरछेरा, राउत नृत्य, देवार-नृत्य, रामाधुन, नृत्य डण्डा, कमार नृत्य, गौरिया, चंदेनी नृत्य, करमजितिया, सरहुल, टुण्डा, डेलापिसना लुंझकी, देशवाणी, बिरंजिया, सुआनृत्य तथा कोरवा नृत्य संस्कार-गीत, राउत नाचा, पंथीनृत्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।⁸ पंडवानी, भर्तृहरि, चंदेनी जैसे कथा गीत और लोकनाट्यनाचा इत्यादि भारत की लोक कला व संस्कृति में उत्कृष्ट स्थान रखते हैं। आदिवासियों के नृत्य एवं गीत में प्रयुक्त होने वाले लोक वाद्य यन्त्र क्षेत्रिय कलाकारों के द्वारा निर्मित किये जाते हैं। इन वाद्य यन्त्रों में मादर, सिंगवाजा, नगाड़े एवं टिमकी, मंजीरा, खरताल, चुटकी, ठिसकी, बाँसुरी एवं अलगाँझा, तमूरा, चिकारा एवं किंदरी प्रमुख हैं। इस प्रकार छत्तीसगढ़ के लोकनृत्यों, वाद्ययंत्रों में नैसर्गिता, स्वाभाविकता और सजीवता तथा समरसता स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।⁹ यह नृत्य कला, संगीत कला, वाद्ययंत्र कला हमें प्राचीन भारतीय कला व साहित्य में भी मिलती है।

छत्तीसगढ़ के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक मृतक-स्तम्भ बनाये जाते हैं। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु होती है तब उसकी स्मृति में एक मृतक-स्तम्भ स्थापित किया जाता है। यह मृतक-स्तम्भ पत्थर या लकड़ी से निर्मित किये जाते हैं। इनमें दैनिक वस्तुओं तथा जानवरों के चित्र अंकित किये जाते हैं। इन मृतक स्तम्भों के माध्यम से मृतक का सम्मान और प्रेम के साथ साथ आत्मा में विश्वास आदिवासी संस्कृति में देखने को मिलता है। इन मृतक-स्तम्भों में के माध्यम से आदिवासी कला में दनके कुल देवता, गोत्र प्रतीक एवं विभिन्न देवी-देवताओं का चित्रण किया जाता है।¹⁰

छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश के आदिवासियों में खैरवार जनजाति के लोग कत्था बनाने में काफी निपुण होते हैं। यह खैर नामक पेड़ से बनाया जाता है। इस जाति का यह प्राचीनतम व्यवसाय माना जाता है। छत्तीसगढ़ व मध्यप्रदेश के आदिवासियों में अगरिया जनजाति के लोग लौह उपकरण बनाते हैं। यह भारत की प्राचीन लौह कला को आज भी जीवन्त बनाये हुए है। यह लोग कच्चे लौह अयस्क को पिघलाकर उपकरणों का निर्माण करते हैं। अगरिया जाति के लोग लौह शिल्पकला में अत्यन्त निपुण माने जाते हैं।¹¹ यह कला इस क्षेत्र में प्राचीन काल से आज तक विद्यमान है।

छत्तीसगढ़ आदिवासियों में मुरिया तथा माड़िया विवाह के समय मांगलिक प्रतीकों, दीप स्तंभों को लकड़ी, लोहे तथा मिट्टी से बनाते हैं। इस क्षेत्र में लकड़ी से विभिन्न वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। इनमें प्रमुख रूप से मूर्तियाँ, कंघी, तम्बाकू रखने की डिब्बिया, कृषि तथा आखेट या शिकार की वस्तुओं में बाँस की टोकरियाँ, मछली एवं पक्षी पकड़ने के फंदे बनाये जाते हैं, यह उपकरण आदिवासी कला के उत्तम उदाहरण माने जाते हैं। छत्तीसगढ़ का चाँपा क्षेत्र तथा बस्तर क्षेत्र में कोसे तथा सूती कपड़ों पर आदिवासी कला के अच्छे उदाहरण देखने को मिलते हैं। आदिवासी समाज की महिलाओं के पारम्परिक आभूषणों में हार, माला, कड़े काँसे, पीतल व काँच तथा चाँदी से बनाये जाते हैं, इन आभूषणों में प्राचीन कला के जीवन्त दर्शन दिखाई देते हैं।¹²

छत्तीसगढ़ में बस्तर क्षेत्र के आदिवासियों में मुरिया जनजाति के लोगों में घोटुल प्रथा विद्यमान है, इस प्रथा में अविवाहित युवक तथा युवतियाँ नृत्य, संगीत के माध्यम से विवाह पूर्व एक दूसरे को जानने को प्रयास करते हैं। इस प्रथा में युवक व युवतियाँ कुछ समय के लिए एक अलग अवस में रहते हैं। एक दृष्टि से घोटुल प्रथा मुरिया जनजाति के लोगों की एक उच्च संस्कारित प्रथा है।¹³ यह परम्परा प्राचीन कालीन संस्कृति को प्रदर्शित करती है।

छत्तीसगढ़ के विभिन्न क्षेत्रों में पक्की मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने के अनेक कला केन्द्र देखने को मिलते हैं। मिट्टी के कला केन्द्रों में प्रमुख रूप से नगरनार, कुम्हार पारा, नारायणपुर, एड़का तथा जगदलपुर प्रसिद्ध हैं। मिट्टी की मूर्तियाँ, खिलौने, साज सज्जा, पशुपक्षियों की कलाकृतियाँ बनायी जाती हैं। इन पक्की मिट्टी की मूर्तियों में आदिवासी देवी-देवतों में प्रमुख रूप से देवताओं बंजारिन देवी, मावली देवी, गोड़िनी मायी दन्तेश्वरी देवी, जलनी देवी, भण्डारिनी देवी, माड़िनी देवी, बुड़्ढी मायी देवी, हिंगलाजिन देवी, भीमा देव राहुर देव तथा डोकरा देव की मूर्तियाँ बनायी जाती हैं।¹⁴ यह परम्परा प्राचीन काल से निरन्तर चली आ रही है।

छत्तीसगढ़ की आदिवासी संस्कृति विभिन्न ललित कलाओं, त्यौहारों एवं उत्सवों पर आधारित है। यहाँ पर नवाखानी, गंगा दशहरा, सरहुल, छेरका, दशहरा, दीपावली, करमा और कार्तिक एकादशी के पर्व विशेष रूप से मनाये जाते हैं। इस क्षेत्र में देवी-देवताओं के रूप में बूढ़ा देव (शिव) और दूल्हादेव के अलावा दुरपट माता, कुदरगाड़ी, महामाया, दोसवाली देव, भरंग पहाड़ों के देवता, शीतलामाता, आंगादेव, माड़िनमाता, बूढ़ीमाता, भीमसेन, परदेसिन और तेलंगिनमाता, भंगाराम, करनाकोटिन, माटीदेव, दंतेश्वरी, कण्ठीदेव की पूजा की जाती है।¹⁵

छत्तीसगढ़ की आदिवासी संस्कृति ने प्राचीन कालीन ललितकलाओं, संस्कृति, अध्यात्म और इतिहास की सृजनशीलता को जीवन्त बनाए रखा है, जिसके कारण आज इस क्षेत्र की कला संस्कृति देश विदेश तक अपनी उत्कृष्ट पहचान बनाने में सफल हुई है।

इस क्षेत्र के विशाल भू-भाग में प्राचीन विभिन्न ललित कलाओं एवं संस्कृति का अनुपम समन्वय दिखाई देता है। इस क्षेत्र के अनेक कला-मर्मज्ञों, आदिवासी कलाकारों ने छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, ललितकलाओं के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस क्षेत्र की सांस्कृतिक विरासत, कलात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्य बोध और जीवन-पद्धति का वास्तविक स्वरूप यहाँ के सामान्य जन-जीवन में भी स्पष्ट दिखाई देता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग
इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्यप्रदेश

सन्दर्भ -

1. गुप्त, प्यारेलाल : प्राचीन छत्तीसगढ़, रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर, वर्ष 1973, पृ. 12
2. जैन, बालचन्द्र : मानव शास्त्रीय उप-विभाग प्रदर्शिका, महन्त घासीदास स्मारक संग्रहालय, रायपुर, 1960, पृ. 8 से 20
3. लाल, मदन : छत्तीसगढ़ दिग्दर्शन, श्री प्रकाशन, रायपुर 1990, पृ. 14
4. शर्मा, रामगोपाल : छत्तीसगढ़ की जन-जातीय संस्कृति, कला-वैभव, अंक 10-11 (वर्ष 2000-01), इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ. 123-24
5. शुक्ल, हीरालाल : आदिवासी सामन्तवाद, नई दिल्ली, 1987, पृ. 18
6. शुक्ल, हीरालाल : प्राचीन बस्तर दण्डकारण्य का सांस्कृतिक इतिहास, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, 1978, पृ. 54
7. खरे, आशा : छत्तीसगढ़ लोक-गाथा, पण्डवानी, -संगीतिक अध्ययन, कला सौरभ, अंक 10, वर्ष-मार्च 2002, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ., 59 -68
8. मोहम्मद, शरीफ : लोक-नृत्य एवं बदलता परिवेश कला-वैभव, संयुक्तांक, वर्ष 2000-01, भारतीय कला का इतिहास एवं संस्कृति विभाग, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ., 110-113
9. निरगुणे बसन्त : छत्तीसगढ़ की प्रमुख जन-जातियाँ महावीर पब्लिशर्स, इन्दौर, 2004
10. पाण्डेय, श्याम कुमार : छत्तीसगढ़ का इतिहास तथा वास्तु शिल्प म.प्र हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, वर्ष 2002, पृ. 39
11. प्रजापति, महेशचन्द्रराय : छत्तीसगढ़ की शिल्पकला में मृतक-स्मृति स्तम्भों का सांस्कृतिक अध्ययन, अप्रकाशित शोध-प्रबंध विवि. खैरागढ़, 2007, पृ. 87
12. महावर, निरंजन : छत्तीसगढ़ के मृण्मूर्ति शिल्प, चौमासा, म.प्र. आदिवासी लोककला परिषद्, भोपाल, पृ. 97
13. सहसी, वासुदेव : बस्तर का आदिमजन व घोटुल परम्परा, कला वैभव अंक 17, वर्ष 2007-08 इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ. 232-235
14. पंजरेकर, प्रवीण : बस्तर के मृण्मूर्ति शिल्प की तकनीक, कला वैभव, अंक 10-11 (वर्ष 2000-01), इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ., 125-27
15. वाजपेयी, कृष्णदत्त : छत्तीसगढ़ का पुरातत्त्व पं. लोचन प्रसाद पाण्डेय का अवदान, कला-वैभव, संयुक्तांक 13-14, वर्ष 2003-04, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, पृ. 10-17

शिक्षा, बच्चे एवं मानसिक स्वास्थ्य : एक सामयिक सन्दर्भ

संजय शर्मा एवं विवेक जायसवाल

निस्संदेह कोरोना वायरस से उपजे संकट ने सम्पूर्ण मानवता को अपनी सांभ्यतिक विद्रूपताओं से न केवल रूबरू कराया बल्कि नृजाति केन्द्रित-तकनीकी आधारित विकास के मॉडल की उन सभी खामियों को उजागर भी किया, जिसके चलते वैश्विक मानवता एवं प्रकृति के बीच द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी एवं दोहन आधारित संस्कृति विकसित हो रही थी। इस प्रतिस्पर्धात्मक एवं हिंस्र संस्कृति ने मनुष्य एवं प्रकृति के नैसर्गिक एवं सह-अस्तित्ववादी सरोकारों का विनाश करते हुए आधुनिक सभ्यता को वर्तमान महामारी तक पहुँचाया है। सम्पूर्ण मानवता इसका प्रतिउत्तर तथाकथित विकास के मॉडल में न देखकर एक बार फिर सभ्यता के सरलीकरण में देख रही है, जहाँ मनुष्य के आदिम एवं मूल ज्ञान-विमर्श एवं कौशल, मानसिक स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि व्यक्तिगत एवं सामूहिक मानसिक स्वास्थ्य के उपक्रम का शिक्षा- नीतियों एवं कार्यक्रमों में आलोचनात्मक परीक्षण किया जाये।

कोरोना का संकट नव-नियतिवाद की अवधारणा से समझा जा सकता है, जिसके अनुसार मानव के अस्तित्वमूलक संकट को तीन रणनीतियों सुरक्षा, स्वास्थ्य एवं आशावादी दृष्टिकोण के द्वारा दूर किया जा सकता है। कोरोना से उपजे संकट ने सामाजिक-शैक्षिक नीतिकारों को एक अवसर दिया है, जहाँ वे विभिन्न नीतियों, योजनाओं एवं कार्यक्रमों की संदर्भगत विवेचना-विश्लेषण-अध्ययन के लिए इस तरह के प्रारूप का निर्माण कर सकते हैं, जो सार्वजनिक नीति निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

कोरोना महामारी ने मनुष्य के सांभ्यतिक संकट के साथ-साथ, मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य एवं देखभाल का दूसरा बड़ा संकट भी उत्पन्न किया है। कोरोना के कारण उपजे संकट ने सभी वर्गों के सकारात्मक मनोवैज्ञानिक तत्वों जैसे धैर्य, अभिप्रेरणा, सुरक्षा, आशावादिता आदि को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। जहाँ एक ओर वंचित वर्ग के लोगों के पास जीविकोपार्जन और अन्य समस्याओं का सामना दैनिक स्तर पर करते हुए अभाव एवं संभावनाओं की अनिश्चितता से आक्रांत है, वहीं दूसरी ओर मध्यम वर्ग के पास जीवनचर्या को पुनरुत्पादित करते हुए दैनिक जीवन को न जी पाने की चिंता, कुंठा, निराशा एवं आक्रोश है। इसी के साथ उच्च वर्ग के पास विलासिता, सुखवादी एवं आरामतलब जीवन शैली को जीने की स्वतंत्रता के अभाव से उत्पन्न खीज एवं दुश्चिंता भी है। उपरोक्त परिघटनाएं व्यक्ति एवं समाज विशेष के मानसिक स्वास्थ्य एवं कल्याण के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट⁵ के अनुसार दुनिया भर में लगभग 20 प्रतिशत बच्चे और किशोर मानसिक बीमारी से पीड़ित हैं। भारत के संदर्भ में हुए मनोवैज्ञानिक अध्ययन दस्तावेज⁶ बताते हैं कि 16 वर्ष से कम आयु के लगभग 10-15 प्रतिशत किशोर गंभीर प्रकृति के नैदानिक मनोरोग से पीड़ित हैं तथा उनके बीच आत्महत्या की दर दुनिया के बाकी हिस्सों की तुलना में काफी अधिक है। यह लड़कों में 25 प्रतिशत और 10-19 वर्ष की लड़कियों में 50-75 प्रतिशत मृत्यु के लिए जिम्मेदार कारण है।

प्रारम्भिक स्तरीय भारतीय कक्षाओं में हर तीन बच्चे मानसिक तनाव से ग्रसित हैं। हर दस में से एक बच्चा उस मानसिक अवसाद से गुजरता है, जो आगे जाकर मानसिक विकार का रूप ले लेता है। पिछले दस सालों में खुद को नुकसान पहुँचाने की मानसिकता में लगभग 70 फीसदी की बढ़ोतरी हुई है। विद्यालयों में अध्ययन करते हुए हर साल लगभग 80,000 बच्चे गंभीर अवसाद का शिकार होते हैं, पिछले तीन दशकों में बच्चों एवं किशोरों में अवसाद की दर तीन सौ गुना बढ़ी है।

साहित्य के नोबेल पुरस्कार विजेता गब्रियाला मिस्ट्रल⁷ जो बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ शिक्षा में मानवतावादी दृष्टिकोण की पक्षधर थीं, ने बताया कि हमें जिन चीजों की जरूरत है, उनमें से बहुत सारी चीजें इंतजार कर सकती हैं, पर बच्चे नहीं कर सकते और अभी समय है जब हम उन बच्चों को तैयार कर रहे हैं, समाज बच्चों का निर्माण कर रहा है, उनमें रक्त, अस्थियाँ एवं संवेदी अंग बन रहे हैं, तो ऐसे समय में उनकी जो समस्या है या उनकी जो आवश्यकता है, उनका जवाब हम कल पर नहीं डाल सकते। हमें उनके लिए आज ही कुछ करना होगा और अगर हम ऐसा करते हैं, तो ही सही मायने में हम बच्चों के प्रति एक सकारात्मक दृष्टिकोण लेकर आगे बढ़ सकते हैं, किन्तु अफसोसजनक और चौंकाने वाली बात यह है कि बच्चों के लिए पूरी दुनिया में मानसिक स्वास्थ्य (आधुनिक समय में इसके साथ वेल-बीइंग संप्रत्यय भी प्रचलित एवं अवलंबित किया जा रहा है) का संदर्भ वयस्कों के मानसिक स्वास्थ्य के अनुसार ही जाना और समझा जाता रहा है। यह प्रभावी रूप से इसलिए भी स्वीकार्य रहा क्योंकि बच्चों के संदर्भ में होने वाले अधिकांश शोध और अध्ययन प्रायः बच्चों को वयस्कों की लघु-आकृति की संज्ञा एवं विशेषण मानते हुए ही संबोधित होते रहे हैं। बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य को लेकर बनने वाली वयस्कों की समझ अपने मूल स्वरूप में इसी विचार से प्रेरित रही है। इसके साथ ही मनोविज्ञान में मानसिक स्वास्थ्य का सम्पूर्ण विमर्श पश्चिमी ज्ञान-परम्परा में औद्योगिकीकरण एवं उससे निसृत आधुनिकता से संचालित होता रहा है जिसने मानसिक तनाव या अवसाद को एक आर्थिक परिघटना के रूप में ही उद्घाटित और व्याख्यायित करने का उपक्रम किया। औद्योगिकीकरण एवं उसके सहयोगी पूंजीवाद की बड़ी चिंता अपने प्राथमिक स्वरूप में मानसिक स्वास्थ्य के संदर्भ में लागत-मुनाफा के आर्थिक समीकरण से जुड़ी हुई थी, जहाँ कामगारों-श्रमिकों का मानसिक रूप से स्वस्थ होना इसलिए जरूरी था कि वे उत्पादन प्रक्रिया में लाभकारी योगदान सुनिश्चित कर सके, जबकि मनोविज्ञान का सामाजिक पक्ष मानसिक स्वास्थ्य को मनुष्य की महत्वपूर्ण एवं कार्यकारी भूमिका के रूप में रेखांकित करता है। विश्वयुद्धों के दौरान दुनिया ने विज्ञान-सम्मत विकास का वह आयाम भी देखा जो हिंसक और अमानवीय था। पूरी दुनिया एक खास तरह के मानसिक तनाव एवं संकट से गुजर रही थी और उस संकट में मानसिक तनाव की नैदानिकता एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में चिन्हित होने लगी जो मानवीय अस्तित्व की रक्षा के लिए अपरिहार्य थी।

कोरोना संकट से उपजे मानसिक तनाव की गंभीरता को भी हम इस बात से भी समझ सकते हैं कि दुनिया के लगभग 185 देश इस संकट से गुजर रहे हैं। लगभग 89 फीसदी नामांकित बच्चे अपनी शिक्षा संस्थाओं से दूर रहने को मजबूर हैं।⁸ अकेले भारत में ही इस दौरान 1000 विश्वविद्यालय, 40,000 महाविद्यालय और इनमें पढ़ने वाले 3.74 करोड़ विद्यार्थी अध्ययन से दूर हुए हैं।⁹

जिस प्रकार विश्वयुद्धों की त्रासदी एवं उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिस्थितियों ने आधुनिक मानव के ज्ञानात्मक एवं संवेगात्मक आयामों में आमूलचूल परिवर्तन किये थे उसी तरह वर्तमान कोरोना संकट भी एक तरह से मानवता के समक्ष एक अस्तित्वमूलक संकट है, जिसने हमें एक अवसर दिया है जहाँ हम तथाकथित आधुनिक-तकनीकी आधारित विकास की यात्रा पर ठहर कर विचार कर सकें। आधुनिकता के अन्धानुकरण एवं उससे उपजने वाले संकट से गाँधी भी सम्पूर्ण मानवता को लगातार आगाह करते रहे।⁸ गाँधी के ग्राम स्वराज के विचारों से निसृत विकास की रूपरेखा (बुनियादी तालीम) वस्तुतः किसी भी सांभ्यतिक संकट से मानवता की रक्षा करने वाली एक सामाजिक-वैचारिक परियोजना ही थी, जिसे बुनियादी तालीम के हवाले आत्मनिर्भर समाज की रूपरेखा माना गया।⁹ किन्तु इस शिक्षा नीति को देश की आजादी के बाद भारतीय राजसत्ताओं द्वारा स्वीकार और अंगीकार न करना एक सांभ्यतिक भूल कही जा सकती है। आज के कोरोना संकट ने इस बात को और अधिक पुख्ता किया है। आधुनिक शिक्षा का मॉडल मूलतः उपयोगितावादी, व्यक्तिवादी एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रकृति का है, जिसने बच्चे/किशोर के मानसिक तनाव एवं अवसाद को लगातार बढ़ाया है।

इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए हम बात करें और इस पूरे मानसिक स्वास्थ्य के प्रारूप को समझें तो यह स्पष्ट होता है कि मानसिक स्वास्थ्य के संदर्भ में बनने वाली नीतियों और उसके निर्माताओं ने बच्चों को हमेशा एक समांगी रूप में ही परिलक्षित किया है। उनके अनुसार देश के सभी बच्चों की समस्या एक समान है, समरूपता लिए हुए है। बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य एवं देखभाल की समस्या के संदर्भ में धार्मिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-भौगोलिक कारक गौण रह जाते हैं। इसके पीछे मुख्य कारण वयस्कों का बच्चों को बच्चों की ही तरह न देखने और समझने का रवैया है। हम प्रायः बच्चों को वयस्कों का लघुरूप ही समझते हैं। वयस्कों की सबसे बड़ी दिक्कत ये है कि वे बच्चों के बारे में बच्चों की तरह नहीं सोचते और इसीलिए ऐसा लगता है कि जिस तरह के मानसिक अवसाद, समस्याओं एवं तनाव से वयस्क गुजरते हैं, लगभग वैसा ही बच्चों के साथ भी होता होगा और यदि नहीं गुजरते हैं तो उनके पास तनाव नहीं होगा। बच्चों और उनके अनुभवों को उन्हीं की तरह समझने का यह प्रारूप अक्सर हमें रोकता है। यही कारण है कि अभी तक हम बच्चों के लिए, बच्चों के अनुसार नीति बनाने में सफल नहीं हो सके हैं क्योंकि हमने बच्चों एवं उनकी समस्याओं को अलग-अलग आयामों में, अलग-अलग दृष्टिकोण के साथ कभी देखा ही नहीं। हमारे रोजमर्रा के अनुभव यह बताते हैं कि विद्यालय के बाहर के बच्चों की समस्याएं और विद्यालय के अन्दर रहने वाले बच्चों की समस्याएं लगातार फर्क करने वाली हैं। दोनों की समस्याएं अलग-अलग हैं। कोरोना संकट के संदर्भ में भी यह समझना जरूरी हो जाता है कि जहाँ एक ओर विद्यालय बंद होने बाद भी बच्चों पर पढ़ाई का दबाव लगातार बढ़ रहा है। इस दबाव ने ऑनलाइन शिक्षण-अधिगम के माध्यम के रूप में एक नए प्रकार का मानसिक अवसाद उत्पन्न किया है। वहीं दूसरी ओर विद्यालय एवं शिक्षक को तय करना चाहिए कि उसके विद्यालय में बच्चे उस मानसिक स्थिति में हैं या नहीं जहाँ पर उसका पाठ्यक्रम पूरा किया जाना है, उसकी पाठ्यक्रिया पूरी की जानी है, उसे पढ़ाया जाना है। यह सब शिक्षार्थी-शिक्षक-अभिभावक नहीं तय कर रहे हैं बल्कि राजसत्ता और शिक्षा प्रशासक तय कर रहे हैं। बच्चों पर बढ़ता ऑनलाइन शिक्षा का दबाव उन्हें लगातार तनाव में रखता है।

शिक्षा तंत्र में नव-उदारवाद के प्रभावों ने पैराटीचर, गुरुजी, शिक्षामित्र आदि नई पहचान के साथ शिक्षक को परिभाषित किया है। समूचे शिक्षातंत्र में शिक्षक भी लगातार हाशिये पर रहा है। हाशियेकरण की प्रक्रिया ने शिक्षक को लगातार असुरक्षित किया है जिसके कारण शिक्षक की अपनी आवाज लगातार कमजोर और मंद होती गई।¹⁰ बहुत ही लोकप्रिय या सम्मानजनक दिखने वाले यह नाम जब शिक्षकों को दिए गये, तो

उनको उतना ही असुरक्षित किया गया और जहाँ असुरक्षा का भाव होता है, वहाँ असुरक्षित व्यक्ति संवाद स्थापित नहीं कर सकता। मनोविज्ञान की सामान्य समझ यह बताती है कि असुरक्षित व्यक्ति बेहतर मानसिक स्वास्थ्य की तरफ न खुद बढ़ सकता है न किसी और को बढ़ा सकता है। शिक्षकों के पास अपनी आवाज को मुखर करने के सीमित अवसरों ने बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य के संदर्भ में विद्यालय की भूमिका को सीमित कर दिया है। यही वजह है कि हम बच्चों की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दे पा रहे हैं। बच्चों से सम्बन्धित मुद्दों मसलन बच्चों को परीक्षा कब देनी है? बच्चों को किस वक्त पढ़ना है और किस वक्त नहीं, यह भी विद्यालय की परिधि के बाहर तय किया जाता है। इस तरह का बर्ताव बच्चों के साथ मानसिक हिंसा का ही स्वरूप है जहाँ हम वयस्क यह चाहते हैं कि बच्चे अपने आस-पड़ोस की दुनिया से बेखबर होकर, अनुभवों को दरकिनार कर अपनी उन पाठ्यपुस्तकों के साथ संलग्न हो जाएँ जिसमें उनको महज एक पाठ के रूप में मानवता के मूल्यों का बोध कराया जाए। वर्तमान कोरोना संकट के सन्दर्भ में हम पाते हैं यह अनुभवजन्य मानवीय मूल्यों का बोध कराने का पर्याप्त अवसर होता।

इस पूरे प्रारूप को समझने पर उन कारणों का पता चलता है जिनसे इन स्थितियों का निर्माण हुआ है। शिक्षक की मुखरता के अभाव में बच्चों के लिए मानसिक अवसाद एवं तनाव की स्थितियाँ और गहरा जाती हैं। विद्यालय, जिसकी प्राथमिक जिम्मेदारी बच्चों को एक बेहतर मानसिक स्वास्थ्य एवं देखभाल के साथ विकसित करना है उसके लिए यह आवश्यक शर्त है कि स्वयं शिक्षक भी मानसिक रूप से स्वस्थ हो।

कोरोना संकट काल में बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य एवं देखभाल को सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं ने भी प्रभावित किया है। कोरोना महामारी से उपजे शिक्षायी संकट के विकल्प के रूप में ऑनलाइन शिक्षा की प्रक्रिया सामाजिक आधारों पर भी न्यायसंगत नहीं कही जा सकती है तथा यह अपने स्वरूप में विषमताकारी भी है। अधिकांश विद्यार्थियों के पास डिजीटल संसाधनों का भी अभाव है, जिसके कारण ई-कक्षा, ई-स्कूल में उनकी पहुँच एवं सक्रिय भागीदारी बाधित होती है। परिणामस्वरूप आभासी विद्यालय से उनका बहिर्निवेशन हो जाता है। इस स्थिति में पाठ्यपुस्तक एवं परीक्षा की तैयारी के एजेंडे से आभासी विद्यालय संचालित करना उस वर्ग विशेष के हित में है जिनके पास गुणवत्तापूर्ण डिजीटल संसाधन, अनुकूल सामाजिक एवं सांस्कृतिक पूँजी है। लॉक-डाउन के कारण अभिभावकों के पास पर्याप्त समय था जिसमें वह अपनी अभिभावकीय जिम्मेदारियों के साथ अध्यापकीय भूमिका भी निभा रहे थे। इस तरह वर्ग-विशेष अपने बच्चों की औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था कर वंचित वर्गों की तुलना में शैक्षिक पूँजी को हासिल कर उनकी आगे निकल जाने की संभावना बनी। वहीं दूसरी ओर वंचित वर्ग के बच्चे औपचारिक पाठ्यक्रम का अध्ययन न कर पाने की स्थिति में अपने हिस्से की शैक्षिक पूँजी हासिल करने की प्रक्रिया में पिछड़ गए और उन्हें मानसिक तनाव एवं अवसाद से गुजरना पड़ रहा है। वस्तुतः शिक्षा शैक्षिक-सांस्कृतिक एवं सांकेतिक पूँजी के संचयन का माध्यम है जिससे न केवल सामाजिक विषमता का पुनरुत्पादन होता है बल्कि यह पदानुक्रमिक भेदभाव को और गहरा करते हुए स्थायी एवं वैधानिकीकृत करती है।¹¹

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने जहाँ एक ओर शिक्षा देने के एकमात्र केंद्र के रूप में विद्यालय के एकाधिकार को स्थापित किया वहीं दूसरी ओर विद्यालय से इतर ज्ञान-परम्परा की वैधता को लगातार चुनौती दी। यही कारण रहा कि कोरोना संकट के कारण औपचारिक शिक्षा संस्थानों के बंद हो जाने की स्थिति में हम यह सोच ही नहीं पाए कि विद्यालय के बाहर भी ज्ञान एवं कौशल की परम्पराएं उतनी ही विस्तृत और समृद्ध हैं। इन बदली हुई परिस्थितियों का पूरा फायदा पूँजीवादी मानसिकता ने उठाया और देखते ही देखते ऑनलाइन शिक्षा का जाल एक विकल्प के रूप में मान्यता प्राप्त करने लगा। इस ऑनलाइन शिक्षा व्यवस्था के जाल ने

बच्चों एवं शिक्षकों के समक्ष एक नए प्रकार के मानसिक तनाव को उत्पन्न किया, जो बड़े शहरों से लेकर दूर-दराज के छोटे कस्बों तक लगातार फैलता गया। ऑनलाइन शिक्षा संसाधनों के अभाव ने डिजिटल डिवाइड के अतिरिक्त लैंगिक विषमता को भी शिक्षायाी अवरोध के रूप में दृष्टिगत किया, जहाँ लड़कियों के लिए अधिक समय तक ऑनलाइन उपस्थित रहना एवं उपकरणों का उपयोग उनके सामाजिक परिवेश में स्वीकार्य नहीं है। इस नये प्रकार के मानसिक तनाव के लिए हमारी कोई तैयारी नहीं है, न शिक्षा-नीतियों की तैयारी है न शिक्षा विमर्श की तैयारी है न ही जो शिक्षा विमर्श के जानकर हैं, उनकी तैयारी है। मानसिक स्वास्थ्य की यह पूरी अवधारणा जिसमें मानसिक विकारों का अभाव ही मानसिक स्वास्थ्य का द्योतक मान लिया जाता है।¹² अपने आप में सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में अपर्याप्त हो जाती है। क्योंकि आधुनिक तकनीकी ज्ञान प्रतिरूप ने एक दूसरे प्रकार की प्रतिस्पर्द्धात्मक परिस्थिति का निर्माण किया है, जहाँ अब किसके पास इन्टरनेट कनेक्टिविटी बेहतर है? किसके पास अब इन्टरनेट स्पीड बेहतर है? इत्यादि बुनियादी सवाल मानसिक स्वास्थ्य के लिए आधार तैयार करते हैं। इस प्रकार का यह विभाजनकारी मॉडल बच्चों को लगातार तनाव एवं अवसाद की स्थिति में रखता है। जहाँ नये शिक्षा विमर्श में एक शिक्षक बच्चों से यह नहीं जानना चाहता कि उसके घर या पड़ोस में कोरोना ग्रसित व्यक्ति है तो उसकी जिम्मेदारी क्या होगी? बच्चे कोरोना से बचाव करेंगे या अपनी किताबों को संभालेंगे? उनको इन्टरनेट कार्ड की चिंता रहेगी या कामगारों-श्रमिकों की परेशानी को समझेंगे?

दरअसल इन सब समस्याओं के मूल में शिक्षा या सामाजिक सरोकारों को लेकर बनने वाली नीतियों में उस वर्ग की भागीदारी एवं उनकी इच्छा, आकांक्षा एवं अपेक्षा को स्थान नहीं मिलना है। जिसके कारण नीति के लाभार्थी उस नीति के साथ कोई जुड़ाव नहीं बना पाते हैं। जब तक बच्चों और शिक्षकों का उस विद्यालय और समाज के प्रति के जुड़ाव का भाव नहीं होगा, तब तक हम उस मानसिक अवसाद से कभी नहीं निकल पाएंगे। मानसिक तनाव के साथ ही हम और आप विद्यालय जायेंगे और तनाव के साथ ही वापस आएंगे।

इन स्थितियों में उत्पन्न समस्याओं के समाधान हेतु मानसिक स्वास्थ्य एवं देखभाल को केंद्र में रखते हुए ऐसी नीतियों का निर्माण करना होगा जिसमें बच्चे, शिक्षक एवं विद्यालय की केन्द्रीय भूमिका हो। क्योंकि बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य की संवैधानिक जवाबदेही विद्यालय एवं शिक्षक की भी होती है। गौरतलब है कि इन सभी समस्याओं से शिक्षक एवं विद्यालय का अभिकरण ही एक विकल्प प्रस्तुत कर सकने में सक्षम है। वर्तमान में बच्चों को ज्ञान-पाठ्यक्रम पढ़ाने से ज्यादा जरूरी उनको यथार्थ रूप में सामाजिक पाठ्यक्रम के साथ जीवन जीने के लिए प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है। ऐसा करके ही हम उन्हें इस कोरोना संकट काल को एक अवसर के रूप में लेने की स्वाभाविक क्षमता के साथ मानसिक दृढ़ता वाले नागरिक के रूप में तैयार कर सकेंगे।

शैक्षिक अध्ययनशाला,

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

संचार एवं पत्रकारिता विभाग,

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. नृजाति केन्द्रित-तकनीकी आधारित विकास के मॉडल के समर्थक मानव को प्रकृति से अलग और श्रेष्ठ मानते हैं और मानते हैं कि मानव जीवन का एक विशिष्ट मूल्य है जबकि अन्य जीव, वनस्पति, खनिज आदि ऐसे संसाधन हैं जो मानव जाति के लाभ के लिए उचित रूप से शोषित किए जा सकते हैं। सभी प्रकार के विकास के प्रतिरूपों में मानव और उसका

- उपयोगितावादी दृष्टिकोण केन्द्रीयता लिए होता है। (अधिक जानकारी के लिए देखें-कोर्टकैंप, के.वी. और मूर, सी.एफ. (2001) 'इको-सेंट्रीइज्म एंड एन्थ्रोपो-सेंट्रीइज्मरू मोरल रीजनिंग अबाउट इकोलॉजिकल कॉमन्स डिलेमा', जर्नल ऑफ एनवायरनमेंटल साइकोलॉजी, खंड-21, अंक -3, पृष्ठ 261-272
2. नव-नियतिवाद की अवधारणा, मानव जाति को पर्यावरण, जैवमंडल कारकों द्वारा निर्धारित एक निष्क्रिय अभिकर्ता के रूप में संदर्भित करती है। ये सभी बाह्य कारक मानव के दृष्टिकोण, निर्णय लेने की क्षमता और जीवन शैली को नियामक रूप से निर्धारित करते हैं। नव-नियतिवाद, एक प्रकार से पर्यावरणीय नियतिवाद और सम्भाव्यवाद का एक मध्यम मार्ग है।
 3. मानसिक स्वास्थ्य एटलस (2017) जिनेवारू विश्व स्वास्थ्य संगठनय 2018, लाइसेंस: CC BY&NC&SA 3-0 IGO] ISBN 978-92-4-151401-9
 4. नये रास्ते-नई उम्मीद : भारत की राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य नीति -2014, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार , नई दिल्ली, पृष्ठ -1-29
 5. बाल शिक्षा की पक्षधर एवं नोबेल पुरस्कार से सम्मानित गर्ब्रियाला मिस्ट्रल साहित्य की दुनिया में अपनी विश्व प्रसिद्ध कविता 'हिज नेम इस टुडे' के लिए विख्यात हैं। इस कविता के माध्यम से उन्होंने बच्चों के प्रति मानवीय जिम्मेदारी को प्राथमिक मानते हुए 'बच्चों की आवश्यकता को कल के लिए न टालने' को मुहिम बनाया।
 6. दुनिया भर में उच्च शिक्षा पर कोविड -19 का प्रभाव: उच्च शिक्षा संस्थानों के लिए संसाधन (2020), अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय परिसंघ एवं यूनेस्को का दस्तावेज https://www-iau&aiu-net/IMG/pdf/covid&19_and_he_resources-pdf
 7. भारत में उच्च शिक्षा पर कोविड-19 का प्रभाव (2020), अखिल भारतीय उच्च शिक्षा सर्वेक्षण प्रतिवेदन, <https://assets-kpmg/content/dam/kpmg/in/pdf/2020/04/higher&education&in&india&and&covid&19&impact&on&admissions-pdf>
 8. गाँधी, मोहनदास (1909) हिन्दु स्वराज के अध्याय, 'सभ्यता का दर्शन' में आधुनिक सभ्यता विमर्श पर बातचीत करते हैं, जिसे बाद में नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया। पृष्ठ 32
 9. 22-23 अक्टूबर, 1937 को वर्धा में 'अखिल भारतीय शैक्षिक सम्मेलन' आयोजित किया गया, जिसमें आत्मनिर्भर समाज के निर्माण के लिए शिक्षा के उस मॉडल को अंगीकार किया गया जो मूल रूप से समाज शिक्षा आधारित था। रिपोर्ट ऑफ द वर्धा एजुकेशन कमिटी ऑफ द सेंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजुकेशन-1939, पृष्ठ-18
 10. सद्गोपाल, अनिल (2008), पी.पी.पी. का राजनैतिक अर्थशास्त्र, शिक्षा विमर्श, जनवरी-अप्रैल, 2008, दिगंतर पृष्ठ-68
 11. बौर्दियु, पियरे एवं ज्यॉ क्लाडे पेसरो (1977), रिप्रोडक्शन इन एजुकेशन, सोसाइटी एंड कल्चर, सेज इंडिया, पृष्ठ-ix
 12. विश्व स्वास्थ्य संगठन (2013), कॉम्प्रेहेंसिव मेंटल हेल्थ एक्शन प्लान फॉर 2013-2020, 34(10) : 723-4. doi : 10.3109/01612840.2013.831260

भारत में जनहित याचिकाओं की प्रांसगिकता और उपलब्धियां

राघवेन्द्र प्रताप सिंह

भारत में लोकहितवाद या जनहित याचिका समय और परिस्थितियों की मांग थी। वैसे तो लोकहितवाद का उदभव अमेरिका से माना जाता है। इसके साथ साथ कनाडा और इंग्लैंड में भी इसका प्रचलन शुरू हुआ। जहाँ तक भारत की बात है तो यहाँ इसका विस्तार अमेरिका से ज्यादा है। मुख्य बात यह है कि समाज में बहुत से लोग ऐसे भी हैं जो एक दूसरे से जुड़े नहीं हैं और न ही जिनके सामूहिक हित के निमित्त कानून में कोई प्रावधान है। व्यक्ति अपने निजी हितों की सुरक्षा के लिए आहत होने की स्थिति में न्यायालय से न्याय की मांग तो करता है लेकिन यदि सार्वजनिक हित पर कोई संकट आए तो कौन आहत बनकर न्याय की मांग करे। न्याय की परम्परागत व्यवस्था में ऐसी ही स्थिति थी कि सार्वजनिक हित के आहत होने पर कोई न्याय की मांग नहीं करता था। न्यायाधीश कृष्णा अय्यर के अनुसार सामाजिक न्याय एवं समानता की धारणाएं, जिसका प्रभाव निश्चित रूप से न्यायालय के अभिनिर्णयों पर पड़ा है।¹ आज इसका उद्देश्य उन वर्गों को न्याय उपलब्ध करवाना है जिनका सत्ता में कोई प्रतिनिधि नहीं है और जो केवल न्यायपालिका से ही न्याय प्राप्त कर सकते हैं। राजनीतिक संस्कृति और राजनीतिक दलों के अवमूल्यन के नाते उत्तरदायी राजनीति की दृष्टि से व्यवस्था में एक प्रकार की रिक्तता थी इसलिए मानवीय प्रश्नों और मानवीय समस्याओं का समाधान साथ ही सार्वजनिक प्रश्नों पर चर्चा का कार्य न्यायपालिका ने सम्पादित किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में बहुत सी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिसकी वजह से जनहित याचिका का श्रीगणेश हुआ और साथ ही न्यायाधीशों की निजी जीवन दृष्टि भी जनहित याचिका को जन्म देने में सहायक रही है।

संविधान एक समतामूलक समाज के लिए कृत संकल्प है और संविधान का भाग 3 एवं 4 दोनों ही इस लक्ष्य को पूरा करने का एक साधन है। न्याय के संचालन एवं उसके संरक्षण हेतु सामाजिक-आर्थिक कारकों की बहुत बड़ी भूमिका होती है। उच्चतम न्यायालय ने यह अनुभव किया कि आम लोगों की जीवन दशा सुधारने तथा उन्हें मूलभूत अधिकार दिलाने हेतु शासन में सक्रिय भागीदारी जरूरी है। इस सक्रिय दृष्टिकोण को अपनाने के कारण भारतीय न्यायपालिका का बदलता स्वरूप इसकी रचनात्मकता को अभिव्यक्त करता है। सामान्य जन, बेसहारा और शोषित नागरिकों की गरिमा के संरक्षण में न्यायपालिका की सक्रियतावादी भूमिका उभरकर आई है। उपेन्द्र बक्शी के अनुसार न्यायिक सक्रियता का महत्व तब और भी हो जाता है जब राजनीति में अमानवीयता को बढ़ावा, संविधान में मनमाना संशोधन, एवं मानव अधिकार और न्याय, मात्र शब्द बनकर

रह जाये। इस प्रकार से न्यायिक सक्रियता के द्वारा रचनात्मक समायोजन हो। आज न्यायिक सक्रियता न्याय व्यवस्था का एक आवश्यक अंग बन गई है। 2वीं. आर. कृष्णा अय्यर, पी. एन. भगवती जैसे न्यायाधीशों ने न्यायपालिका की कार्य विधि को बदला साथ ही ऐसे बहुत से लोग आगे आये जिन्होंने सामाजिक असमानता, मानव अधिकार, निर्धनता की समस्या, बंधुआ मजदूरी, महिलाओं की समस्या, बच्चों की स्थिति, मानसिक और शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों तथा आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों की समस्याओं की ओर न्यायपालिका का ध्यान आकृष्ट किया जिससे इसके निदान हेतु आवश्यक कदम उठाये जा सके। आज न्यायालयों की न्यायिक सक्रियता के द्वारा विधि निर्माण में नए आयाम ग्रहण कर लिए गए हैं और न्यायालय ने सामाजिक संदर्भ में विधि की व्याख्या करने की एक स्वस्थ प्रवृत्ति को अपनाया है। बार बार यह प्रश्न भी उठाया गया है कि उच्चतम न्यायालय संसद के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप कर अभिनिर्णय के बहाने नए अधिनियमों की रचना कर रही है। इसमें बिल्कुल संदेह नहीं है कि उच्चतम न्यायालय ऐसा कर रही है लेकिन तब, जब संसद उत्पीड़नो को रोकने हेतु विधि बनाने से कतरा रही है। इसलिए न्यायपालिका ने जिसके ऊपर संविधान का प्रहरी होने का भी दायित्व है उसने इस रिक्तता को भरने हेतु अधिनियम स्तरीय निर्देश आज्ञापित किया।

इस प्रकार से न्यायपालिका की सक्रियतावादी भूमिका विषम परिस्थितियों में न्यायालयों द्वारा समस्याओं के समाधान का प्रयास है। इसके साथ ही न्यायालय ने कार्यकारिणी के गैर कानूनी आदेशों से पारित प्रावधानों से रक्षा का भी प्रयास किया है। अफसरशाही अनेक तरह से अधिनियमों एवं उसके प्रावधानों का उल्लंघन करती है जो कि अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता ही है।¹ हाल के वर्षों में न्यायालयों द्वारा नौकरशाही की विधिविहीन कार्यवाहियों की निंदा करते हुए उस पर तत्काल रोक लगाई गई है। इस तरह से न्यायपालिका की सक्रियतावादी भूमिका ने विधिक और संवैधानिक व्याख्या के नए आयाम भी प्रस्तुत किये हैं। आज विधि का शासन कायम रखने हेतु न्यायालयों की सक्रियतावादी भूमिका की नितांत आवश्यकता है। न्यायिक सक्रियतावाद का ही एक स्वरूप लोकहितवाद है। यदि किसी भी व्यक्ति के जीवन, स्वतंत्रता और समानता से सम्बन्धित मौलिक अधिकारों का हनन होता है तो वह रिट याचिका दाखिल कर न्यायालय से सहायता की मांग कर सकता है, इसी अधिकार क्षेत्र में जनहित याचिकाएं भी आती हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 और 142 के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय को आदेश पारित करने का विशेष अधिकार मिला हुआ है। अनुच्छेद 142 के तहत उच्चतम न्यायालय ऐसी महत्वपूर्ण नीतियों में परिवर्तन कर सकता है जो जनता को प्रभावित करती हैं।² भारत का उच्चतम न्यायालय अमेरिका के उच्चतम न्यायालय से अधिक शक्तिशाली है यहाँ पर यह संवैधानिक संशोधन की वैधता का परीक्षण कर सकता है। मेनका गांधीवाद और केशवानंद भारती वाद के बाद इसकी शक्तियाँ और भी बढ़ गई हैं। उच्चतम न्यायालय ने संविधान के मूल ढांचे के आधार पर जो उचित और विवेकसम्मत हो चाहें वह संवैधानिक, विधायी या कार्यकारी निर्णय हो उसी को वैध माना। उचित और विवेक सम्मत की अवधारणा भारतीय संविधान के अनुच्छेद 21 (प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का अधिकार) में प्रयुक्त 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से आई लेकिन आगे चलकर उच्चतम न्यायालय की यही दृष्टि बन गई। अब संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद में उचित और विवेकसम्मत की अवधारणा निहित है और इसका अंतिम निर्णय भी उच्चतम न्यायालय के पास है। इन्हीं सब की वजह से जनहित याचिका का विस्तार भारत में बहुत ज्यादा हुआ। भारत में उच्चतम न्यायालय के पास संविधान की मूल संरचना का निर्धारण करने और साथ ही उचित और विवेकसम्मत का अंतिम निर्धारण करने की शक्ति होने की वजह से न्यायिक पुनरावलोकन का अवसर न्यायिक सक्रियतावाद का अवसर है। उच्चतम न्यायालय का वर्तमान स्वरूप इस बात का साक्षी है कि न्यायालयों की परम्परानिष्ठ सीमित भूमिका का युग अब नहीं रहा। न्यायपालिका पर आज न केवल संविधान के प्रहरी का

दायित्व है बल्कि एक बहुत ही महत्वपूर्ण दायित्व यह भी है कि संभलकर न्यायिक सक्रियतावाद और जनहित के वाद के दायरे को स्वीकार करे। लोक भावना या न्यायोचित व्यवस्था को साकार करने के उद्देश्य से प्रेरित कोई भी व्यक्ति या समूह अनुच्छेद 226 और अनुच्छेद 32 के तहत मूल अधिकारों के हनन पर न्याय हेतु याचिका प्रस्तुत कर सकता है और यही याचिकाएं जनहित वाद बनती हैं।⁵

सार्वजनिक हित की रक्षा की दृष्टि से किया गया कोई भी मुकदमा जनहित याचिका है। इसमें बिल्कुल भी संदेह नहीं है कि उच्चतम न्यायालय ने लोक कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए बेसहारा और शोषित जनों, बंधुआ मजदूरी, स्त्रियों, बाल श्रम, अल्पसंख्यकों और उन पर उत्पीड़न, विकास की प्रक्रियाओं पर कुछ वर्गों की पकड़ की वजह से पर्यावरण का क्षरण, मानवाधिकारों का हनन, नारी की गरिमा पर प्रहार, असंवेदनशील अफसरशाही और प्रशासन की अमानवीयता एवं लापरवाही के नाते हजारों विचाराधीन बंदी दशकों तक कारागार में निरुद्ध—सूची बड़ी लम्बी है, इस सम्बन्ध में बड़ी राहत दी है। भारत में लोकहितवाद का उद्देश्य सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पंगु या बेसहारा लोगों को न्याय प्रदान करने का तरीका है। उपेन्द्र बक्शी ने इसे सामाजिक हितवाद भी कहा है।⁶ जनहित याचिका और न्यायिक सक्रियता का देश के अंदर स्वागत एवं समर्थन भी किया गया है। यह किसी भी नागरिक द्वारा पीड़ितों के पक्ष में किया गया मुकदमा है और न्यायालय खुद भी किसी सूचना पर संज्ञान लेकर शुरू कर सकता है। इसमें कोई जरूरी नहीं है कि पीड़ित पक्ष स्वयं न्यायालय में जाए। इस तरह से भारत में जनहित याचिका शासन अथवा प्रशासन द्वारा अन्याय के शिकार लोगों को न्याय दिलाने हेतु शुरू हुई। बेसहारा लोगों को न्याय के लिए न्यायालयों पर आधारित होना पड़ता है, संसद के कानून में परिवर्तन करने का इन्तजार और कार्यपालिका द्वारा लोक नीति को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया बहुत कठिन है। सक्रियता द्वारा समाज के उस वर्ग को राहत मिलती है जो विशेषाधिकार नहीं रखता। इस संदर्भ में वारेन की न्यायपालिका का अपना एक अलग स्थान है।⁷

आज जनहित याचिकाओं की संख्या निरंतर बढ़ रही है और इनका बढ़ना ही न्यायिक सक्रियतावाद का प्रमाण है। जनहित से सम्बन्धित ये वाद आवश्यक नहीं कि अनुच्छेद 21 से ही सम्बन्धित हो लेकिन अनुच्छेद 21 से सम्बन्धित वादों की संख्या विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 21 से इतर भी बहुत से मामले हैं जिसको जनहित वाद उजागर करता है। मेनका गाँधी बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 21 को एक नया आयाम दिया है और इसके क्षेत्र को काफी व्यापक बना दिया है। अब जीवन का अधिकार मात्र भौतिक अस्तित्व तक ही नहीं है बल्कि इसमें मानव गरिमा को बनाये रखते हुए जीवन जीने का अधिकार है। अनुच्छेद 21 का क्षेत्र अब काफी बृहद हो गया है और न्यायालय ने अन्य अधिकारों को भी सम्मिलित किया है।⁸ इस तरह न्यायालय ने अन्य निर्णयों में भी अनुच्छेद 21 का विस्तार किया है। पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ के मामले में 'एकान्तता के अधिकार' को भी अनुच्छेद 21 के अंतर्गत माना गया है और न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया कि किसी का फोन टेप करना व्यक्ति के एकान्तता के अधिकार का उल्लंघन है और ऐसा तभी करना चाहिए जब राज्य को यह लगे कि सार्वजनिक आपात या जनसुरक्षा के लिए आवश्यक हो।⁹

इसी प्रकार जीविकोपार्जन का अधिकार, शिक्षा पाने का मूल अधिकार, आहार पाने का अधिकार, निःशुल्क विधिक सहायता का अधिकार, शीघ्र परीक्षण का अधिकार, स्वास्थ्य तथा चिकित्सा सुविधा पाने का कर्मचारों का अधिकार, हथकड़ी लगाने के विरुद्ध संरक्षण, अमानवीय व्यवहार के विरुद्ध संरक्षण, स्वस्थ पर्यावरण का अधिकार, लोकसाधारण के समक्ष फांसी देने के विरुद्ध संरक्षण इन सब में न्यायालय के अभिनिर्णय स्वागत योग्य हैं। उच्चतम न्यायालय ने समय-समय पर अपने अभिनिर्णयों के माध्यम से अनुच्छेद

21 की अर्थवत्ता का विस्तार किया है। ए.डी.एम. जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला के मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि आपातकाल में भी कोई व्यक्ति अपने निरोध की विधि मान्यता को न्यायालयों में चुनौती दे सकता है।¹⁰

संविधान का अनुच्छेद 21 राज्य के विरुद्ध जीवन और दैहिक स्वतंत्रता का एकमात्र स्रोत है। कभी कभी उच्चतम न्यायालय ने अनेक प्रकरणों में आवश्यकतानुसार संवैधानिक, विधायनी और कार्यकारिणी तीनों तरह की शक्तियों का एक साथ प्रयोग किया है। जनहित वाद में न्यायालय ने निर्देशों के सहारे कानूनों को बदलना भी शुरू किया है। जेलों में जो हृदय विदारक स्थितियाँ थीं उसको भी न्यायालय ने उजागर करने का काम किया है। इसमें सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन का मामला बहुत ही महत्वपूर्ण है।¹¹ इसी तरह स्त्रियों के मामले में भी न्यायपालिका की सक्रियता को देखा जा सकता है। विशाखा बनाम राजस्थान सरकार¹² के प्रकरण में स्त्रियों की सुरक्षा से संबंधित मामले को न्यायालय ने गम्भीरता से लिया। चूँकि ऐसा कोई अधिनियम नहीं था जो यौन उत्पीड़न को रोक सके इसलिए उच्चतम न्यायालय ने इस रिक्तता को पूरा किया और कहा कि अनुच्छेद 32 के तहत प्रक्रियाएं निर्धारित की गई हैं लेकिन अनुच्छेद 141 के अंतर्गत उच्चतम न्यायालय द्वारा इन्हे घोषित अधिनियम माना जाए और ये भारत के सभी न्यायालयों पर लागू होंगे। उच्चतम न्यायालय ने कभी कभी जब कोई ऐसी समस्या आती है जिसके सम्बन्ध में कोई अधिनियम ही नहीं है तो समस्याओं के समाधान हेतु अनुच्छेद 32 का सहारा लेते हुए अधिनियमों को सृजित करने का भी काम किया है। बाल श्रमिकों के मामले में भी उच्चतम न्यायालय ने दिशा निर्देश देना अनिवार्य और संगत माना क्योंकि इस संबंध में कोई संगत अधिनियम था ही नहीं। एम.सी. मेहता बनाम तमिलनाडु राज्य प्रकरण में न्यायपालिका ने देश में बाल श्रमिकों की समस्या को संबोधित किया है। संविधान के अनुच्छेद 45 में उल्लिखित 14 वर्ष तक के आयु के बच्चों की अनिवार्य शिक्षा की ओर भी ध्यान आकर्षित किया और संविधान के अनुच्छेद 24 के अंतर्गत उल्लिखित किसी बच्चे को अतिदुष्कर कार्यों में नियुक्त नहीं किया जाएगा इसका भी उल्लेख किया। चूँकि इससे सम्बन्धित कोई प्रावधान अधिनियम में नहीं था इसलिए समस्या के समाधान हेतु सरकार को क्या करना चाहिए इस पर भी न्यायालय ने निर्देश दिए। अतः अधिनियमों के रिक्त स्थानों को भरने अथवा न्यायिक निर्णयों के द्वारा उनकी कमियों को पूरा करने के प्रयास में अनेकों प्रकरण उल्लेखनीय हैं जैसे पर्यावरण से सम्बन्धित एम. सी. मेहता बनाम यूनियन ऑफ इंडिया, इसमें उच्चतम न्यायालय ने यह निर्देशित किया कि किस तरह से सड़कों पर चलने वाले वाहनों से हो रहे प्रदूषण से पर्यावरण को संरक्षित किया जाय और सड़कों पर होने वाली दुर्घटनाओं से लोगों को मुक्त किया जाय। गंगा नदी प्रदूषण के मामले में भी न्यायालय ने समय समय पर अनेक दिशा निर्देश दिए हैं।¹³ इसी तरह ताज महल संरक्षण प्रकरण में भी न्यायालय ने ताज महल के आस पास पौधारोपण का आदेश दिया एवं उस क्षेत्र में स्थित उद्दोगों द्वारा कोयले के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाने का निर्देश दिया। दिल्ली में बढ़ते हुए वायु प्रदूषण को रोकने हेतु न्यायपालिका ने पूरे देश में वाहनों में प्राकृतिक गैस और अन्य स्वच्छ ईंधनों को बढ़ावा दिए जाने हेतु निर्देशित किया एवं दिल्ली के रिहायशी इलाके में संचालित उद्योग धंधों को एक औद्योगिक क्षेत्र में ले जाने हेतु आदेश दिया।¹⁴ आज पर्यावरण के प्रति लोगों में जो जागरूकता आई है उसमें न्यायपालिका की बहुत बड़ी भूमिका है। जनहित के मामलों में स्थित अधिनियमों में उच्चतम न्यायालय ने अपेक्षित हस्तक्षेप किया ही है साथ ही नागरिकों अधिकारों के रक्षा के निमित्त भी अधिनियमों में बदलाव किया है। इस सम्बन्ध में मेनका गाँधी वाद महत्वपूर्ण है।¹⁵ कारागार में निरुद्धों और दोषसिद्धों के संबंध में हीरालाल बनाम स्टेट ऑफ बिहार ए.आई.आर.1977, एस.सी. 2236, प्रेम शंकर शुक्ला बनाम दिल्ली प्रशासन ए.आई.आर.1980, एस.सी. 1535, एम.एच. हास्काट बनाम महाराष्ट्र राज्य ए.आई.आर.1978, एस.सी. 1548, सुनील बत्रा बनाम दिल्ली प्रशासन ए.आई.आर. 1978, एस.सी. 1675, हुस्सेनारा खातून बनाम बिहार राज्य,

कदरा पहाडिया बनाम बिहार राज्य. मामलो की बहुत लम्बी सूची है इसमें कारागार प्रशासन की हृदयहीनता और हमारे निर्वाचित शासकों की अमानवीयता परिलक्षित होती है। मामले में विधि और विहित प्रक्रिया का पालन भी नहीं किया गया था। न्यायपालिका ने मामले को संज्ञान में लेकर कार्यपालकीय शक्ति का प्रयोग करते हुए स्थिति को समाप्त किया। न्यायालय ने बच्चों से संबंधित मामलों पर भी बड़ी गंभीरता से विचार किया है क्योंकि ये मामले भी कारागार न्यायशास्त्र से ही सम्बन्धित हैं। इसमें मुन्ना बनाम स्टेट ऑफ उत्तर प्रदेश का वाद महत्वपूर्ण है। महिलाओं से सम्बन्धित कई मामले जैसे संजीत राय बनाम राजस्थान राज्य (महिला श्रमिकों से सम्बन्धित) शीला वर्से बनाम महाराष्ट्र राज्य (महिला कैदियों से संबंधित) में न्याय निर्णयन के कार्यकारिणी पहलुओं के परिशीलन करने की प्रस्थापना का कार्य किया गया है। महिलाओं से सम्बन्धित एक महत्वपूर्ण मामला दिल्ली में नारी निकेतन का था जिसमें उच्चतम न्यायालय ने नारी निकेतन के समुचित रख-रखाव का निर्देश भी दिया था। मामले बहुत हैं लोकहित वाद की युक्तियुक्तता और क्षेत्र काफी बड़ा है इस संदर्भ में लक्ष्मीधर मिश्रा, निदेशक श्रम कल्याण मंत्रालय का कहना है कि यदि कोई लोकवाद नहीं है तो लाखों लोग, महिलायें, बच्चों का हित जो कि गरीबी की में है और भोजन, प्रकाश, पानी वायु, स्वास्थ्य और स्वच्छता के लिये संघर्ष कर रहे हैं, असंरक्षित रह जायेंगे।¹⁶ बंधुआ मजदूरों, रिक्शा चालकों, पेंशन धारकों, पटरीवासियों, अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित कमजोर लोगों के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने त्वरित अनुतोष प्रदान किया है। बंधुआ मुक्ति मोर्चा मामले में तो न्यायालय ने प्रशासक की तरह काम किया। इस प्रकरण में तथ्यों का पता लगाने हेतु जाँच आयोग की नियुक्ति की गई थी और न्यायपालिका ने जो कारण दिया था वह सच है की लोकहित वाद कमजोर वर्ग की ओर से शुरू किया गया था। मामले में न्यायालय ने केन्द्र और राज्य सरकारों को कई मानक अपनाने के अलावा मजदूरों के पुनर्वास के निर्देश भी दिए और मजदूरों के कल्याण की कई योजनाएं प्रस्तुत की। एक अन्य मामले नीरजा चौधरी बनाम मध्यप्रदेश राज्य¹⁷ के मामले में भी बंधुआ मजदूरों की समस्याओं के समाधान हेतु न्यायालय द्वारा अपने निर्णय में उचित दिशा निर्देश दिए गए।

जनहित वाद के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने स्वेच्छिक सामाजिक कार्यकारी समूह, सामाजिक कार्यकर्ताओं, सामाजिक वैज्ञानिकों, लोक भावना से प्रेरित पत्रकारों एवं वकीलों के प्रतिवेदनों पर ज्यादा विश्वास किया है। आज सम सामायिक राजनैतिक संस्कृति की पृष्ठभूमि के विरुद्ध इन समूहों की बहुत बड़ी भूमिका है। सामाजिक कार्य समूह एवं स्वेच्छिक संगठनों को राज्य द्वारा भी प्रोत्साहित और समर्थित किया जाना चाहिए। यह अनुच्छेद 39 के अंतर्गत बाध्यता है। इस प्रकार से कुछ अन्य मामलों में भी जैसे दूनघाटी में पत्थर खदान का मामला, या बनवासी सेवा आश्रम मिर्जापुर का प्रकरण हो इन सभी जनहित के मामलों पर न्यायपालिका के निर्णय सराहनीय रहे हैं उच्चतम न्यायालय ने संवैधानिक शक्तियों के प्रयोग से संविधान की व्याख्या करके विभिन्न अनुच्छेदों में नई अर्थवत्ता पैदा की है। आम जन मानस भी न्यायपालिका से आस लगाये रहती है, आज जब कोरोना महामारी लाखों लोगों को अपना शिकार बना रही है तो ऐसे समय में भी न्यायपालिका की सक्रियता बरकरार है। इस दौरान जनहित को ध्यान में रखते हुए न्यायपालिका ने समय समय पर सरकार को उचित दिशा निर्देश भी दिए हैं। ऐसे मामले बहुत हैं जिसमें न्यायपालिका आगे आई है। जनहित वाद को सामाजिक कार्यवाही मानते हुए उपेन्द्र बक्शी ने कहा है कि न्यायालय लोगों के जीवन, अधिकार और स्वतंत्रता की रक्षा करने की दिशा में सक्रिय है एवं नागरिकों के हितों को संरक्षित कर रही है।

इस सबके बावजूद कई वर्षों से जनहित याचिकाओं की आलोचना भी देखने को मिली है। आज कई प्रकार की आपत्तियों का सामना हो रहा है। यह भी प्रश्न उठा कि इसे स्वीकार किया जाये या नहीं? यह भी कहा जा रहा है कि जनहित याचिकाओं की वजह से न्यायालयों पर काम का बोझ बढ़ता जा रहा है। न्यायालयों के

बहुत से आदेश ऐसे भी हुए हैं जिसे पूरा कर पाने में कार्यकारिणी को बहुत परेशानी हो रही है। वर्षों से लम्बित विचाराधीन मामलों की संख्या बढ़ती जा रही है। आज राजनीतिक एजेंडा वाले लोंगो द्वारा भी जनहित याचिका का दुरुपयोग किया जा रहा है। एक आरोप यह भी है कि बहुत कम याचिकाएं हैं जिसमें जनहित का विषय है जिससे न्यायिक प्रक्रिया की निष्ठा पर भी सवाल उठे हैं। ऐसा भी कहा जा रहा कि इससे न्यायालय का समय बेकार हो रहा है।

लेकिन आज के इस दौर में जनहित याचिकाओं का बहुत ही महत्व है इसका विकास बहुत तीव्र गति से हुआ है। संविधान के भाग -3 एवं भाग - 4 के सपनों को साकार करने में इस प्रकार के वाद की आवश्यकता थी। इसका आधार संविधान के अनुच्छेद 39-अ में उल्लिखित है।¹⁸ भारत में जनहित वाद को न्यायपालिका ने न केवल स्वीकार किया है बल्कि इसके औचित्य एवं विधिक वैधता की पुष्टि भी की है। इसने बहुत उपलब्धियाँ भी हासिल की हैं। आज उच्चतम न्यायालय ने लोकस स्टैंडर्ड नियम को शिथिल कर दिया है जिसकी वजह से कोई भी व्यक्ति जन भावना को ध्यान में रखते हुए न्यायालय के समक्ष उक्त संस्था का पक्ष रख सकता है। इसी को देखते हुए उच्च न्यायालयों ने भी लोकस स्टैंडर्ड नियम को शिथिल कर दिया। पहले केवल आहत व्यक्ति ही याचिका प्रस्तुत कर सकता था। जनहित वाद से सम्बन्धित अनेको प्रकरणों में इसी नियम के शिथिल होने से बहुत लोंगो को राहत मिली। लेकिन जन सेवा के कार्य में संलग्न ऐसे लोंगो को स्टैंडिंग मिल सकती है जिनका कोई निजी हित न हो, एक तरह से वे स्वयं सेवी संगठन हों जिसका किसी भी प्रकार के राजनीतिक लाभ का उद्देश्य न हो।¹⁹ आज जनहित वाद में याचिका प्रस्तुत करने की प्रक्रियाओं का शिथिलीकरण हो गया है। जैसा कि पत्रों²⁰ एवं टेलीग्राम के माध्यम से जब कोई व्यक्ति याचिका प्रस्तुत करता था तो ऐसा लगता था कि याची स्वयं ही न्यायाधीश चुन रहा है हालांकि इस पर निर्णय उच्चतम न्यायालय का आंतरिक विषय है। जनहित वाद में पत्रों को स्वीकार किया जा सकता है। सर्वप्रथम वह जनहित वाद के सेल में जायेगा और जाँच-पड़ताल के बाद उसी न्यायाधीश के पास जायेगा जिसे मुख्य न्यायाधीश नामित करेगा। एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि जनहित वाद में प्रस्तुत तथ्यों के सत्यापन हेतु न्यायालय आयुक्तों एवं विशेषज्ञों को भी नियुक्त कर रहा है। अनेक मामलों में आयुक्तों की नियुक्ति भी शुरू हुई है। अधिवक्ता, पत्रकार, जिला न्यायाधीश²¹ एवं संस्थाओं के विशेषज्ञों को मामले को सौंपना शुरू हुआ है। तथ्यों की जानकारी प्राप्त करना उच्चतम न्यायालय के लिए बहुत ही उपयोगी रहा और जनहित वाद के अभिनिर्णय में सहायक सिद्ध हुआ है। सामान्यतया जनहित वाद में कोई विपक्ष नहीं रहता है इसीलिए न्यायालय को खुद ही तथ्यों के बारे में जानना होता है। इधर उच्चतम न्यायालय द्वारा एमिकस क्यूरी की नियुक्ति शुरू हुई है क्योंकि ज्यादातर याचिका प्रस्तुत करते समय याची को कानूनी तकनीक की जानकारी नहीं होती और वे विषय को अच्छी तरह से प्रस्तुत नहीं कर पाते। एमिकस क्यूरी उच्चतम न्यायालय के प्रति उत्तरदायी है और उसी को कानूनी सहायता प्रस्तुत करते हैं। जनहित याचिका में ऐसा भी नहीं है कि याची याचिका वापस ले ले शीला वारसे ने जो कि बच्चों से सम्बन्धित याचिका थी वापस लेना चाहा जिस पर उच्चतम न्यायालय ने मना कर दिया²² जनहित वाद में निजी हित से प्रेरित वादी एवं प्रतिवादी नहीं होते हैं वहाँ केवल न्याय का प्रश्न होता है। न्यायालय दोनों पक्षों के सहयोग से मिल जुलकर न्याय स्थापित करने की कोशिश करता है। आज जनहित के आहत होने का मतलब है सामान्य जन के हित का आहत होना। यह अहित जन (पब्लिक) का है क्योंकि जन या लोक कोई वर्ग विशेष नहीं है। इस प्रकार से जनहित वाद एक नए वर्ग के वाद हैं और उच्चतम न्यायालय की सक्रियता के बिना इनका अस्तित्व भी सम्भव नहीं था।

सन्दर्भ -

1. अय्यर, वी.आर. कृष्णा, 'डेमोक्रेसीज ऑफ जुडीशियल रेमेडीज : ए रीज्वाइनडर टू हिदायतुल्लाह', 1984, 4 एस.सी.सी. (3) पृष्ठ संख्या, 51-52.
2. बक्शी, उपेन्द्र, "द अवतार्स ऑफ इंडियन जुडिशियल एक्टीविज्म : एक्सप्लोरेशन इन ज्योग्रेफिक्स ऑफ (इन) जस्टिस," एस.के.वर्मा एवं कुसुम (सम्पादक) फिफ्टी इअर्स ऑफ सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया : इट्स ग्रेस्प एंड रीच, द इंडियन ला इंस्टीट्यूट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, 2000, पृष्ठ संख्या 172-176
3. मैसी, आई.पी., "एडमिनिस्ट्रेटीव ला", इस्टर्न बुक कम्पनी लखनऊ, चतुर्थ संस्करण 1995, पृष्ठ संख्या-17
4. Available at: <https://indianexpress-com/article/explained/ayodhya-ram-temple-babri-masjid-article-142-supreme-court-6111920/>
5. ए.आई.आर. 1982, एस.सी. 149
6. बक्शी, उपेन्द्र, "टाकिंग सफरिंग सीरियसली : शोसल एक्शन लेटीगेशन इन द सुप्रीम कोर्ट ऑफ इंडिया" में पी. के. गाँधी द्वारा सम्पादित 'सोशल एक्शन थ्रू ला', कांसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ संख्या 63.
7. चार्ल्स, एल. ब्लैक, "द पीपुल एंड द कोर्ट", मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, 1960, पृष्ठ संख्या 116-118.
8. ए. आई. आर. 1978, एस. सी. 597.
9. ए. आई. आर. 1997, एस. सी. 568.
10. ए. आई. आर. 1976, एस. सी. 1207.
11. ए. आई. आर. 1978, एस. सी. 1675. और ए. आई. आर. 1980, एस. सी. 1579.
12. ए. आई. आर. 1997, एस. सी. 3011.
13. Available at: https://www-business&standard-com/article/current&affairs/despite-sc-order-gangas-plight-no-different-from-that-of-the-holy-cow&117071900182_1-html
14. Available at: https://www-business-standard-com/article/news-cd/supreme-court-orders-taxis-to-run-on-cng-in-delhi-115121601347_1-html
15. ए. आई. आर. 1978, एस. सी. 597
16. मिश्रा, लक्ष्मीधर, 'ला फॉर द लेबर', इन पी. के. गाँधी "सोशल एक्शन थ्रू ला", में कांसेप्ट पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 1985, पृष्ठ संख्या 104-105.
17. ए. आई. आर. 1984, एस. सी. 1099.
18. भारतीय संविधान का अनुच्छेद 39. <https://economictimes-indiatimes-com/citingsthe-constitution-of-india-article-39/articleshow/1201161-cms/from=mdr>
19. रिपोर्ट ऑन नेशनल जुडीकेयर, इक्वेल जस्टिस—सोशल जस्टिस, अगस्त 1977, पृष्ठ 128
20. राम कुमार मिश्रा बनाम बिहार राज्य, 1984, 2 एस.सी.सी. पृष्ठ संख्या 451
21. कमला देवी चडोपाध्याय बनाम पंजाब राज्य, 1985, 1 एस.सी.सी., पृष्ठ संख्या 41
22. शीला वारसे बनाम भारत संघ, 1988, 4 एस.सी.सी. पृष्ठ संख्या 246

मानवाधिकारों के संरक्षण एवं संवर्धन में नागर समाज की भूमिका

मिथिलेश कुमार

मानवाधिकार एवं नागर समाज (सिविल सोसाइटी) के बीच गहरा संबंध है। राजनीतिक सिद्धांत की अन्य दूसरी अवधारणाओं की तरह मानवाधिकार एवं नागर समाज की अवधारणा एवं अर्थ में भी समय के साथ परिवर्तन होते रहे हैं। साधारण अर्थों में कहा जाए तो मानवाधिकार एवं नागर समाज सामाजिक जीवन का एक ऐसा मूल्य युक्त दायरा है जिसमें व्यक्ति समाज के साथ अंतःक्रिया करता है। यानि, यह समग्र सामाजिक जीवन का ऐसा अंग है, जो स्वैच्छिक साहचर्य के साथ सहमतिमूलक अंतःक्रिया करता है। माना जाता है कि मानवाधिकार की प्रथम शुरुवात फ्रांस की क्रांति से हुयी थी वहीं नागर समाज की अवधारणा का पहली बार प्रयोग यूरोप में जॉन लॉक ने किया एवं इनके विचारों को डेविड ह्यूम एवं एडम स्मिथ ने ज्यादा व्यापक बनाया। उन्नीसवीं सदी में हेगेल एवं कार्ल मार्क्स ने नागर समाज की अवधारणा पर व्यापक चिंतन किया एवं इसके द्वारा नागर समाज एवं राज्य के अंतःसंबंधों की व्याख्या की। इसके बाद लंबे समय तक इस अवधारणा पर कोई ठोस बातचीत नहीं हुई एवं यह विमर्श से शनैः-शनैः बाहर हो गया। 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध में इटली के मार्क्सवादी विचारक एंटोनियो ग्राम्शी ने नागर समाज की अवधारणा को पुनर्परिभाषित किया और मानवाधिकार के संरक्षण एवं विकास में इसकी भूमिका स्पष्ट की। इनकी मान्यता के अनुसार शासक वर्ग सिर्फ बल प्रयोग द्वारा ही अपना नियंत्रण कायम नहीं रखता बल्कि नागर समाज में अपने शासन के प्रति सहमति निर्माण भी करता है जिसे ग्राम्शी ने वर्चस्व (Hegemony) की संज्ञा दी। स्पष्ट अर्थों में देखा जाए तो ग्राम्शी नागर समाज को एक ऐसे स्पेस के रूप में देखते हैं जिसमें शासक वर्ग शासितों की सहमति द्वारा शासन करता है और मानवाधिकार के संवर्धन का प्रत्याभूत लेता है। पर मानवाधिकार के हनन की परिस्थिति में “नागर समाज सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत रहते हुए अपने जटिलतम राजनीतिक एवं संचार तंत्र के द्वारा राज्य को चुनौती देता रहता है।” (स्केचर : 2000, पृष्ठ 81)।

भारतीय संदर्भ में मानवाधिकार की बहस बीसवीं सदी में और नागर समाज की अवधारणा को लेकर बहस 21वीं सदी के प्रथम दशक से प्रारम्भ होने के साथ ही नागर समाज की अवधारणा के साथ-साथ राजनीतिक समाज एवं सृजनात्मक समाज पर भी बहस हुई। भारत में नागर समाज के विकास एवं मानवाधिकार के संबंध में दो महत्वपूर्ण हस्ताक्षर कहे जा सकते हैं पार्थ चटर्जी एवं मनोरंजन मोहंती। पार्थ चटर्जी ने नागर समाज की अवधारणा को राजनीतिक समाज (Political Society) से जोड़कर प्रारम्भ किया एवं मनोरंजन मोहंती ने नागर समाज को सृजनात्मक समाज (Creative Society) से जोड़कर देखा। मिहिर शाह ने नागर समाज को चार भागों में विभक्त करने का प्रयास किया है -

मध्य भारती-80, जनवरी-जून, 2021, ISSN 0974-0066, pp. 49-55

यूजीसी केयर लिस्ट, गुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

1. **धर्मार्थ संगठन** : नागर समाज की यह सबसे प्राचीनतम सारणी है जिसमें इससे संबन्धित संगठनों एवं व्यक्तियों का मुख्य उद्देश्य परोपकारी एवं अथवा कल्याणकारी कार्यों द्वारा समाज के हाशिये के लोगों की फौरीतौर पर मदद करना है।
2. **विकासवादी संगठन** : इस प्रकार के नागर संगठनों का मुख्य उद्देश्य नागरिक सुविधाओं यथा-स्वास्थ्य, शिक्षा, पर्यावरण आदि के क्षेत्रों में सरकार के सहयोगी के रूप में कार्य करने से है।
3. **अधिकार सापेक्ष आंदोलनकारी** : नागर समाज का यह रूप मूलतः राज्य के कार्यों की आलोचनात्मक मूल्यांकन द्वारा व्यवस्था में सक्रिय परिवर्तन करता है। सैद्धान्तिक स्तर पर देखा जाए तो इस तरह का समूह एक प्रतिवर्चस्व (Counter & hegemony) की रचना करने का प्रयास करता है जिसमें शासितों को शासन करने हेतु अनिवार्य सहमति हेतु सतत क्रियाशील रहना होता है।
4. **दबाव समूह** : समाज का यह सबसे नवीनतम रूप है जिसमें इससे जुड़े संगठन एवं लोग राज्य पर आवश्यक दबाव द्वारा कल्याणकारी योजनाओं में पारदर्शिता एवं जवाबदेही लाने का प्रयास करते हैं।

मानवाधिकार के परिपेक्ष्य में नागर समाज की भूमिका पर विचार करने से पहले मानवाधिकार की संकल्पना को संपूर्णता एवं सहजता में समझना होगा। मानवाधिकारों को एक सभ्य समाज की बुनियाद माना जाता है। प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक प्रो. नंदकिशोर आचार्य के अनुसार मानवाधिकारों को एक सभ्य समाज की बुनियाद माना जाता है। “मानवाधिकारों की संकल्पना की बुनियाद है - मनुष्य को सब कुछ का पैमाना मानना (मैन इज दी मेजर ऑफ ऑल थिंग्स)। इसी बात को कार्ल मार्क्स ने ‘मैन इज द रूट ऑफ मैनकाइन्ड’ कह कर व्यक्त किया (आचार्य : 2010, पृष्ठ 9)। मानवाधिकारों के सार्वभौम घोषणा-पत्र (1948) के अनुच्छेद एक में कहा गया है कि - “सभी प्राणी जन्म से ही स्वतंत्र तथा गरिमा और अधिकारों में बराबर हैं...।”

मानवाधिकार की संकल्पना में जोर मनुष्य पर है। यहाँ महत्वपूर्ण है कि यह निरा व्यक्तिवाद नहीं है अपितु समाज/ समूह के नाम पर किसी भी एक व्यक्ति के अधिकारों की अनदेखी न हो, यह मानवाधिकार का उद्देश्य है। वास्तव में मानवाधिकार व्यक्ति की व्यक्तित्वता (personhood) का सम्मान है। यह किसी भी व्यक्ति से नहीं छीने जा सकते हैं। वास्तव में मानवाधिकार का विचार व्यापक जीवन दर्शन को अपना आधार बनाना है जिसमें सम्पूर्ण जीवन और समाज व्यवस्था आ जाती है। अतः मानवाधिकारों की अवधारणा में इसी बात पर जोर दिया जाता है कि सभी मनुष्य एक समान हैं। अतः इनमें कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। मानवाधिकार की वैचारिकी में जीवन के विभिन्ना पहलुओं-आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक इत्यादि को अपनी मूल बात सभी मनुष्य समान है के नजरिए से व्याख्यायित करने की कोशिश की जाती है एवं इसमें नागर समाज की भूमिका एवं उत्तरदायित्व को राज्य एवं आवाम के प्रति निश्चित की जाती है।

मानव अधिकार का विचार हमारे राजनीतिक यथार्थ की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। मानव अधिकार मुख्यतः राज्य के व्यवहार से व्यक्ति की सुरक्षा से संबंधित हैं लेकिन इसके साथ ही, ये राज्य के द्वारा ऐसी सामाजिक स्थितियों के निर्माण का भी निर्देश देते हैं, जिसमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर पाए जब ऐसा संभव नहीं होता है या किसी प्रकार का विचलन पैदा होता है तो नागर समाज अपनी जिम्मेदारी धारण करता है। मानवाधिकार वह अधिकार है जो प्रत्येक व्यक्ति (Individual) को मानव होने के नाते प्राप्त है। दार्शनिक स्तर पर मानवाधिकार की बुनियादी प्रेरणा यह है कि कोई व्यवस्था किस सीमा तक मनुष्य के बहुआयामी विकास को बढ़ाने के लिए वातावरण व सुविधाएं देती है। चूंकि ‘राज्य’ (State) भी एक व्यवस्था है या दूसरे शब्दों में कहें तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवस्था है इसलिए मानवाधिकार के लिहाज से एक अच्छे राज्य की कसौटी यह है

कि वह मानवीय विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण किस सीमा तक कर रहा है। यहां मानवीय विकास का तात्पर्य है मनुष्य के विवेक, उसकी गरिमा, स्वतंत्रता तथा सृजनशीलता का विकास। फर्ग्यूसन के शब्दों में “कानून के नियम एवं सरकार के रूप इस बात से उपयुक्त साबित होते हैं कि विशिष्ट समाज व्यक्ति के सार्वजनिक जीवन को किस तरह निर्मित करता है, उसके अन्दर मूल्यों एवं योग्यताओं के विकास के लिए किस तरह के अवसर प्रदान किये हैं और उसके भावना एवं स्वतंत्रता की रक्षा के क्या उपबंध किये गए हैं” (फर्ग्यूसन 1966, पृष्ठ 163)। यही कारण है कि मनुष्य मात्र की समानता और स्वतंत्रता मानवाधिकारों की संकल्पना का केन्द्रीय आधार है। यहां एक बात गौरतलब है कि यदि एक अच्छे राज्य की कसौटी मानवीय विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति का निर्माण करना है तब राज्य मानवीय चेतना के विकास का एक उपकरण हो जाता है इसलिए यहां यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि उसकी नीतियां भी इसी आधार पर तय हो। चूंकि सत्ता का वास्तविक स्रोत लोक/जन है इसलिए एक आदर्श राज्य की कसौटी यह हो जाती है कि वह अपनी प्रक्रियाओं में इस लोक/जन को कितना महत्व देता है। दूसरे शब्दों में कहें तो राज्य निम्न स्तर पर सत्ता को विकेन्द्रीकरण करता है या नहीं? राज्य का नागरिकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होता है या नहीं? तथा राजनीतिक निर्णयों को वह किस सीमा तक प्रभावित करता है। अशोक मेहता समिति के प्रतिवेदन में सम्मिलित अपनी टिप्पणी में ईएमएस नम्बूदरीपाद जैसे मार्क्सवादी विचारक ने भी लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए लिखा है कि “केन्द्र व राज्य पर संसदीय लोकतंत्र और उसका जिला व नीचे के स्तरों पर चौखम्भा लोकतंत्र की रूपरेखा के अनुसार विस्तार भारतीय समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है।... लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण में मेरी आस्था का कारण यह है कि इससे श्रमजीवी जनता को अपना दमन और शोषण करने वालों के विरुद्ध रोजमर्रा के संघर्ष में सहायता मिलती है।” (आचार्य : 2010, पृष्ठ. 10) लेकिन यह विकेन्द्रीकरण तभी संभव हो सकता है जब इसकी संवैधानिक गारंटी हो तथा प्रत्येक व्यक्ति को सत्ता में भागीदारी मिले। अधिकारों के विमर्श के संदर्भ में एक दिलचस्प बात यह है कि कोई भी मानव-अधिकारों के सिद्धांत को खारिज नहीं करता लेकिन हर जगह इनका उल्लंघन होता है। मानव अधिकारों को सार्वभौमिक और समय से परे सिद्धांत के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए वल्कि इसे विविधतापूर्ण और गतिशील अधिकारों के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए क्योंकि मानवाधिकार को आज सभ्य समाज की बुनियाद के रूप में देखा जाता है साथ ही नगर समाज को व्यक्तिगत स्वार्थ की चेतना से परे जाकर नागरिक जीवन मूल्यों के विकास के बारे में सोचना चाहिए। पहचान और मान्यता के बीच में जुड़ाव मानवीय जीवन के बुनियादी रूप से संवाद आधारित प्रकृति से उत्पन्न होता है। हम हमेशा अपनी पहचान को अपने नजदीकी महत्वपूर्ण लोगों (Significant Others) से संवाद या कभी-कभी टकराव के द्वारा परिभाषित करते हैं। चार्ल्स टेलर ने अपने प्रसिद्ध लेख ‘द पॉलिटिक्स ऑफ रिकोगिनेशन’ में रिकोगिनेशन के दो अलग-अलग अर्थ बताए हैं - पहला सार्वभौमवाद और समान गरिमा की राजनीति से संबंधित जो अधिकारों और हकदारियों की समानता से संबंधित है तथा दूसरा, अन्तर की राजनीति (Politics of Difference) से संबंधित जिसमें समान गरिमा की राजनीति से अन्तर की राजनीति का उभार हुआ है। यह मान्यता प्रत्येक व्यक्ति की अनूठी पहचान की मान्यता से संबंधित है। जुर्गन हैबरमास ने टेलर के ‘द पॉलिटिक्स ऑफ रिकोगिनेशन’ या मान्यता की राजनीति पर अपनी प्रतिक्रिया में मानव अधिकारों के ‘अन्तर्वेशी सार्वभौमिकता’ की संकल्पना से संबंधित कुछ बिंदु स्पष्ट किए हैं। सच्ची सार्वभौमिकता का विचार यह है कि मानव अधिकार सभी व्यक्तियों और समूहों को शामिल करने के लिए मानकों की एकरूपता से संबंधित नहीं है। हैबरमास का मानना है कि व्यक्तियों के पहचान के निर्माण में उनके जीवन के परिस्थितियों या

संदर्भों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। व्यक्ति के इस रूप में निर्मित पहचान की सुरक्षा करने वाले मान्यता की राजनीति के लिए अधिकारों की व्यवस्था की नियमित उपस्थिति अनिवार्य है। मानवाधिकारों की बुनियादी प्रेरणा में मनुष्य के जिस बहुआयामी विकास की बात की गयी है उसमें व्यक्तित्व का विकास भी एक कसौटी है और व्यक्तित्व का विकास एक बुनियादी मानवाधिकार है।

नागर समाज मानवाधिकारों के सार्वभौमिक प्रयोग के लिए माहौल संरचना का कार्य कर सकता है, जिसके अंतर्गत सभी व्यक्तियों को मूलभूत अधिकारों की प्राप्ति हो सके। इसके लिए नागर समाज को सतत रूप से मानवाधिकारों के प्रति जागरूकता एवं इसकी अनिवार्यता है। इसके लिए समाज में नए मूल्यों की स्थापना एवं क्रियान्वयन की आवश्यकता है। ये मूल्य निम्न रूप में हो सकते हैं -

1. एक ऐसी परिवर्तनात्मक शक्ति का ईजाद जो समाज के लोगों को गतिशील बना सके।
2. ऐसी शक्ति का निर्माण जो विशेषज्ञों एवं अनुसंधानकर्ताओं के लिए सहयोग प्रदान कर सके।
3. ऐसे सिद्धांतों का विकास जो समाज को नया स्तम्भ, शक्ति एवं वैधता प्रदान कर सके।
4. लोगों को ऐसी संभावनाएं प्रदान किया की जाएं कि वे अपने प्रतिनिधियों से स्वतंत्र रूप से मिल सकें तथा प्रबंधन के सभी क्षेत्रों में भागीदारी सुनिश्चित कर सकें।

राष्ट्र-राज्य के अंतर्गत आने वाले संस्थानों को इस कदर विकसित किया जाए कि ये संस्थाएं मानवाधिकारों को संरक्षित कर सकें, ये संस्थाएं आवागमन को स्वायत्ता प्रदान कर सकती है। संक्षेप में कहा जाए तो राज्य कि संस्थाएं समाज को निम्न रूप से सक्षम, सशक्त एवं कल्याणकारी बना सकती हैं :-

1. संवैधानिक मानवाधिकारों को सक्षम बनाया जाए।
2. राष्ट्रीय नीतियों को न्यायपूर्ण बनाया जाए तथा शैक्षणिक प्रशिक्षणों को आगे बढ़ाया जाए ताकि समाज के सभी पक्षों का सक्षम विकास हो सके।
3. संवैधानिक नियमों को इतना मजबूत बनाया जाए कि नीतियों एवं कार्यक्रमों के क्रियान्वयन करने वाले संस्थान बेहतर ढंग से सरकारी नीतियों एवं कार्यक्रमों का क्रियान्वयन कर सके।
4. सरकार उन नियमों के सुरक्षा की प्रत्याभूत ले जो समाज के हाशिये के लोगों के विकास के लिए बनाई जाती है।

उपर्युक्त बातें इसलिए और प्रासंगिक हो जाती हैं कि राजनीतिक समाज के सक्षम और मजबूत बने बिना नागर समाज सक्षम नहीं हो सकता है। इसके बगैर नागर समाज आज के वैश्वीकरण, हिंसात्मक माहौल, प्रादेशिकता की भावना, विघटन भरी मानवीय मानसिकता के दौर में अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकता है।

भारत में नागर समाज

15 अगस्त 1947 को देश को आजादी मिली। उसके बाद देश की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक संरचना लोकतान्त्रिक राष्ट्र-राज्य के ढांचे में आगे बढ़ी। वैसे तो, देश की सार्वभौमिक सरकार बदलते सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिदृश्य के आवश्यकता के साथ देश के संचालन की आत्मा कहे जाने वाला 'भारतीय संविधान' के कलेवर में समय-समय पर परिवर्तन करती रही है। बहुत बार ऐसा हुआ है कि खुद न्यायपालिका संवैधानिक निर्णयों द्वारा राष्ट्र एवं विधायिका को अपने निर्णयों द्वारा दिशा प्रदान की है। पर, सबसे महत्वपूर्ण बात जो है वह यह कि स्वतन्त्रता के बाद अनेकों बार ऐसा हुआ है कि लोकतान्त्रिक मूल्यों के संरक्षण, पर्यावरणीय सुरक्षा, सामाजिक विसंगतियों को दूर करने एवं सामाजिक न्याय तथा कल्याण के लिए गैर सरकारी संगठनों ने सरकार पर दबाव बनाकर महत्वपूर्ण कानूनों, नीतियों एवं कार्यक्रमों का निर्माण कराया

है। इन सब के आधार में मानवाधिकार प्रथम शर्त रहा है। सूचना के अधिकार के संन्दर्भ में अरुणा राय, लोकपाल एवं भ्रष्टाचार के संदर्भ में अन्ना हजारे, पर्यावरण सुरक्षा के प्रति सुंदरलाल बहुगुणा एवं मेधा पाटकर जैसे भारतीय नागर समाज के लोगों ने सरकार पर दबाव बनाकर महत्वपूर्ण कानूनी अधिकारों को भारतीय समाज के हित में पारित करवा सके।

यह भारतीय समाज की स्पष्ट सच्चाई है कि जो नागर समाज या रचनात्मक समाज (Creative Society) है, वह मध्यमवर्गीय समाज का ही एक रूप है। यह मध्यवर्ती समाज ही देश का शिक्षित, उत्पादक, प्रतिभा सम्पन्न वर्ग माना जाता है। यह वर्ग हाशिये, दमित, दलित, पिछड़े एवं कमजोर वर्ग तथा सरकार के मध्य सेतु के रूप में अपनी स्थिति दर्ज करता है। यही नागर समाज गैर सरकारी संगठनों की रूपरेखा एवं भूमिका तैयार करता है तथा उसका निर्वहन कराता है। अधिकारों के बावजूद भी लोग अपने जीवन की संभावना को सफलीभूत नहीं कर पाते हैं। इसी बात को क्रोल कहते हैं कि “यह बड़ी विडम्बना है कि लोगों के पास स्वतंत्रता तो है पर वे नहीं जानते कि इस स्वतंत्रता के साथ क्या किया जाये।” (क्रोल : 1999, पृष्ठ 72) इसलिए गैर सरकारी संगठनों एवं उससे जुड़े लोगों को नागर समाज का ही रूप एवं अंग होने के कारण सामाजिक उत्तरदायित्व का पालन करने की आवश्यकता है, जिसका प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मानवाधिकारों से गहरा संबंध है। अतः ये गैर सरकारी संगठन नागर समाज के रूप में मानवाधिकारों के संरक्षण हेतु निम्न भूमिका का निर्वहन कर सकते हैं -

1. सहयोगी समितियां, बहुआयामी सहयोगी समितियां, व्यापारी संघ, श्रमिक संगठन अथवा धार्मिक संगठन के लोगों का सामाजिक उत्तरदायित्व है कि देश कि जनता के कल्याण तथा उनके मानवाधिकार के संरक्षण हेतु मनोयोग से कार्य करें तथा उनके जीवन में खुशियाँ जोड़ें।
2. विदेशी निधियों (Foreign funding) का प्रयोग स्वहित को पूरा करने के चक्कर में राष्ट्र को सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक रूप से तोड़ने के बजाय राष्ट्रीय सशक्तिकरण, मानवाधिकार संरक्षण एवं पल्लवन के लिए कार्य करें। क्योंकि आज अधिप्रचार एवं मनोवैज्ञानिक युद्ध के द्वारा भी राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक वर्चस्व कायम करना चाहती है; इन सभी में विदेशी शक्तियाँ गैर सरकारी संगठनों को लालच देकर अपने हित में इस्तेमाल कर रही है।
3. वर्तमान समय में गैर सरकारी संगठन-खासकर जिनको एन.जी.ओ. के नाम से संबोधित किया जाता है, की छवि भारतीय समाज अथवा जनता में काफी खराब हुई है। अतः आवश्यकता है कि गैर सरकारी संगठन अपना चरित्र एवं प्रस्थिति समाज में सुधारें तभी वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं इसके लिए आवाम का भरोसा प्राप्त करना अतिआवश्यक है और यह तब होगा जब उनके अधिकारों एवं हितों कि सुरक्षा एवं आपूर्ति गैर सरकारी संगठनों द्वारा की जाएगी।

निष्कर्ष

नागर समाज कि अवधारणा का संप्रत्यात्मक प्रयोग प्रथम बार जॉन लॉक ने तो किया, पर इसका वैचारिक एवं सैद्धान्तिक विकास आगे के सामाजिक विचारकों ने किया। इन विचारकों में ह्यूम, एडम स्मिथ, हेगेल और कार्ल मार्क्स प्रमुख थे। नागर समाज की अवधारणा पर भारत में भी 21वीं सदी में विमर्श प्रारम्भ हुआ जिसमें पार्थ चटर्जी एवं मनोरंजन मोहंती अग्रणी रहे है। इन सभी विचारकों ने नागर समाज को अलग-अलग दृष्टियों (Point of view) तथा लाभांश-दृष्टियों (Vantage point) से देखा। अगर हम नागर समाज के सैद्धान्तिक अवधारणा पर नजर डालते हैं तो यह तीन कालक्रमों में आगे बढ़ता है और उसका बहुआयामी सैद्धान्तिक विकास हुआ -

1. प्रारम्भिक आधुनिक काल
2. आधुनिक काल
3. उत्तर आधुनिक काल

प्रारम्भिक आधुनिक काल नागर समाज की अवधारणा का वह समय था जब यूरोप में सामंतवाद, राजवंशी प्रणाली एवं धर्म का सिंहासन खत्म हुआ तथा दुनिया के पटल पर आधुनिक राष्ट्र-राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। जॉन लॉक, रूसो एवं थॉमस होब्स जैसे विद्वान आते हैं। ये लोग का कृतिक राज्य अथवा समझौतावादी राज्य की अवधारणा देते हुए कहते हैं कि राज्य का निर्माण समझौते के उपरांत हुआ है। यह एक सहमति होती है। इसी सहमति को प्राप्त करने के लिए राज्य, नागर समाज का प्रयोग करता है।

नागर समाज की अवधारणा आधुनिक काल में अप्रत्याशित रूप से बदली क्योंकि इस काल में राज्य को राजनैतिक रूप दे दिया गया। हेगेल एवं मार्क्स जैसे विद्वानों ने नागर समाज को उत्पादन की संरचनात्मक व्यवस्था मानी जहां राजनीतिक समाज श्रेष्ठ अधिसंरचना (Superstructure) के रूप में होता है। इस तरह से मार्क्स की नजर में नागर समाज शोषक प्राधिकार, नियंत्रक, राजनीतिक शासक का पर्याय होता है। अतः नागर समाज का यह रूप मानवाधिकार के प्रति प्रतिपक्षी रूप रखता है।

नागर समाज की अवधारणा उत्तर आधुनिक काल में पुनः बदली। लोगों ने माना कि नागर समाज की उत्पत्ति 1980 के आसपास पूर्वी यूरोपीय मुल्कों में सत्ता में रहने वाली सरकार के विरुद्ध एक दबाव समूह के रूप में हुआ। यह नागर समाज कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को सफलीभूत करने में सरकार पर बहुआयामी दबाव बना कर सरकार को रचनात्मक एवं सही निर्णयों को लेने में सहयोग प्रदान करता है तथा मानवाधिकारों की रक्षा एवं विकास में सहयोगी होता है।

इस तरह से मानवाधिकार का वास्तविक अर्थ मनुष्य के बहुआयामी विकास हेतु अनुकूल वातावरण एवं सुविधा प्रदान करना है जिसमें मनुष्य गरिमा, स्वतन्त्रता एवं समानता के साथ-साथ सभी तरह के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का लाभ उठा सके। इस पृष्ठभूमि से देखने पर मानवाधिकारों कि सार्वभौमिक पहुँच में नागर समाज कि महत्वपूर्ण भूमिका हो जाती है।

समाज कार्य विभाग

महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)

सन्दर्भ -

- Ferguson] A- (1966)- *An Essay on the History of civil society*- Edinburg: Edinburg university press-
- Kothari] R- (1988)- 'Decline of Parties and Rise of Grass Roots Movements' in his *State against Democracy*] In *Search of Humane Governance*] Delhi_ Ajanta Publications, 33-54-1989], 'The Non&Party Political Process' *Economic and Political Weekly*, 4 February, 216-224
- Krol] M-(1999)- *Democracy in Poland* London and New York : Printer-
- Mahajan-G- (1999)- *Civil Society and Its Avatars: What Happened to Freedom and Democracy?* *Economic and Political Weekly*] 15 May] 1188&1196
- Oomen, T-K- (2004). *Nation, Civil Society and Social Movements*, New Delhi, Sage,
- (2008)- *Reconciliation in Post-Godhra Gujarat*, New Delhi, Pearson Longman,

Parajuli, P-(2001)- 'Power and Knowledge in Development Discourse: New Social Movements and the State in India' in Niraja G- Jayal edited Democracy in India, New Delhi, Oxford University Press, 258-288

Schechter, D-(2000)-Sovereign State or Political community\civil Society and Contemporary politics, New York; Manchester University press-

इन्द्रमणि, डॉ. (2016), मानवाधिकार का वर्तमान वैश्विक परिदृश्य एवं सर्वोदय दर्शन, कानपुर, सरस्वती प्रकाशन.

आचार्य, नंदकिशोर. (2010). मानवाधिकार की संस्कृति. बीकानेर : वाग्यदेवी प्रकाशन.

आचार्य, नंदकिशोर. (2003). मानवाधिकार के तकाजे. बीकानेर : वाग्यदेवी प्रकाशन.

शर्मा, सुभाष. (2009). भारत में मानव अधिकार. नई दिल्ली रू नेशनल बुक्स ट्रस्ट.

सैनी, रा. (2007). समकालीन परिपेक्ष्य में मानवाधिकारों के विविध आयाम. नई दिल्ली : गगनदीप प्रकाशन.

भारत के ग्रामीण विकास में ग्रामीण पर्यटन का योगदान

राजबहादुर अनुरागी

परिचय

आज विकास न केवल विश्व में, अपितु देश, प्रदेश एवं क्षेत्र में आर्थिक प्रगति का अहं हिस्सा बन गया है। भारत जैसे देश में जहाँ 68.84 प्रतिशत (2011) आबादी ग्रामीण है, ग्रामीण विकास करना समीचीन हो जाता है। विकास के अन्य अनेक माध्यम जैसे- कृषि, उद्योग, व्यापार, तकनीक आदि को परम्परागत रूप से करते आने के बाद विकसित व अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था में कई स्तर बने हुए हैं। आज विश्व का चाहे वह विकसित, विकासशील व अल्पविकसित देश हो या फिर कोई मंच, संगठन या संस्था बड़ी तेजी से ग्रामीण विकास पर बहस कर रहे हैं या फिर अपनी-अपनी तरह से विकास की योजना बना रहे हैं।

ग्रामीण पर्यटन, पर्यटन की नवीन प्रकृतियों में से एक हैं, जो बड़ी तेजी से सकारात्मक परिणामों के कारण विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। भारत जैसे जन प्रभुत्व वाले देश में गावों का विकास और अधिक जरूरी हो जाता है जब यहाँ कि अधिकांश आबादी गरीबी, बेरोजगारी, नौकरी तथा काम/रोजगार की तलाश में अधिकांश समय अपनी क्षमता का उपयोग नहीं कर पाने के साथ ही मानव-श्रम-शक्ति का दुरुपयोग भी होता है। ग्रामीण पर्यटन लोगों को आगे बढ़ने के अवसर प्रदान करता है, आय की असमानता को दूर करता है, जनसंख्या गतिशीलता, शहरी प्रवास, रोजगार सृजन जैसे अनेक बहु-आयामी अवसर देकर गाँवों को शहरों के करीब लाता है।¹ इस शोध के माध्यम से ग्रामीण पर्यटन के महत्व को ग्रामीण विकास में योगदान को रेखांकित करना है। शोध का उद्देश्य - शोध के मुख्य उद्देश्य निम्न हैं -

- स्थानीय समुदाय के द्वारा स्थानीय प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक संसाधनों का संरक्षण करना तथा उन्हें ग्रामीण
- पर्यटन के माध्यम से आय सृजन का माध्यम बनाना
- ग्रामीण पर्यटन के महत्व को समझाना एवं स्थानीय लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करना।
- ग्रामीण पर्यटन को लोगों को इसका उद्योग बोध कराना, तथा इसको युवाओं तथा महिलाओं के लिए रोजगार प्रक बनाना।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध पत्र मुख्यतः द्वितीयक आँकड़ों पर आधारित है जिसकी साहित्य सामाग्री का संकलन विभिन्न शोध पत्रों, आलेखों, समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, पुस्तकों, वेबसाइट आदि से किया गया है। शोधार्थी द्वारा अनेक ग्रामीण पर्यटन स्थलों की यात्रा कर एवं साक्षात्कार द्वारा भी जानकारी का संग्रहण किया गया है।

मध्य भारती-80, जनवरी-जून, 2021, ISSN 0974-0066, pp. 56-64

यूजीसी केयर लिस्ट, ग्रुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

ग्रामीण विकास

क्लार्क (1996) के अनुसार - विकास सामान्यतया वह प्रक्रिया है, जिसमें आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना को शामिल किया जाता है जो किसी देश की राष्ट्रीय आमदनी स्तर में उत्तरोत्तर वृद्धि पर आधारित होती है अर्थात् विकास किसी देश के सकारात्मक के साथ गुणात्मक परिवर्तन को निर्धारित करने में सक्षम हो। यद्यपि विकास अर्थव्यवस्था की शब्दावली है, किन्तु आज यह अन्तर्-विषयक हो गया है। हर विषय के विशेषज्ञ इसको अपनी तरह से अध्ययन करते हैं। विश्व के विकसित देशों के लिए यह प्रति व्यक्ति उत्पादन एवं आय में वृद्धि तक सीमित न रहकर, वहाँ के आर्थिक के साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक, ढांचागत परिवर्तन एवं नवाचार करने में सक्षम है। आज इसका दायरा बढ़ता जा रहा है। कायपैक (2012) के अनुसार 'विकास विभिन्न अवयवों से मिलकर बनी एक इकाई है' शायद इसमें आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों का यौगिक रूप है।

आज समाज में लोगों के हित लगातार विकसित होने से वह संसाधनों के वितरण, उत्पादन तकनीक, सामाजिक मूल्यों, त्योहार, विचार तथा दृष्टिकोण में लगातार परिवर्तन कर रहा है। ऐसा लगता है कि विकास सामाजिक-परिवर्तन प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए किये गये हस्तक्षेपों के साथ सन्निकट है। अतः विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है जो उपलब्ध स्थिति से गुजरते हुए परिवर्तन का सुझाव देती है।

विश्व में अधिकांश विकासशील एवं अल्पविकसित देशों में निवास करने वाली ग्रामीण आबादी, शहरी आबादी से अधिक होती है। ये देश और क्षेत्र खुद चाहते हैं कि उनका खुद का विकसित समाज हो जहाँ वह सीमाओं में रहकर, अपना विकास करें। इतना ही नहीं आज संयुक्त राष्ट्र संघ, यूरोपीय संघ, समाज सेवा संस्थाएँ तथा नागरिक संगठन जैसी संस्थाएँ सामाजिक विकास की अवधारणा पर अधिक समय और धन खर्च करती हैं। इनका मानना है कि आज ग्रामीण क्षेत्रों में एकता अधिक है, लोग पर्यावरण प्रेमी हैं। भारत की अधिकांश ग्रामीण जनसंख्या कृषि आधारित है। कृषि दो प्रकार से की जाती है- प्रथम, परम्परागत एवं द्वितीय मशीनीकृत। परम्परागत कृषि, पशुपालन, जीव संवर्धन तथा पर्यावरण हितैषी है जबकि मशीनीकृत कृषि ने कृषकों को पर्यावरण विरोधी बनाया है।³

ग्रामीण विकास की अवधारणा के माध्यम से हम ग्रामीण क्षेत्रों की आय में समानता, स्वास्थ्य-सुरक्षा, पोषण-आहार, आवास-विलास तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करके सामाजिक संतुलन स्थापित कर सकते हैं। वह सभी सुविधायें जो शहरी क्षेत्रों में हैं, ग्रामीण क्षेत्रों में उपलब्ध कराकर शहर-ग्रामीण के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आर्थिक अंतर को कम करके शहरी आब्रजन को भी नियंत्रित कर ग्रामीण जीवन शैली को सुदृढ़ किया जा सकता है।

ग्रामीण पर्यटन

वैश्विक अर्थव्यवस्था में पर्यटन उद्योग तेजी से उभरता हुआ उद्योग है। औद्योगिक क्रान्ति ने इसे एक नया मोड़ दिया जब लोगों का आना-जाना, मसलन वैश्विक यात्राओं में तेजी आई परिणामस्वरूप उद्योग की स्थापना, नवीन उद्योगों का विकास, बुनियादी सुविधाओं जैसे - समुद्री एवं रेलवे का तीव्र गति से विकास हुआ। 20वीं शताब्दी में हवाई यात्रा ने तो अहम योगदान दिया जब अनेक पर्यटन स्थलों को शामिल कर उनका विकास एवं विस्तार किया गया। औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही पर्यटन उद्योग ने अनवरत अपना विस्तार किया और आज यह विकसित देशों में तो यह फल-फूल रहा है लेकिन विकासशील व अल्प विकसित देशों में इसका विस्तार एवं महत्व कम होने के कारण, विकसित नहीं हो पाया।⁴

महात्मा गांधी ने कहा था कि 'भारत गाँवों में निवास करता है', अर्थात् असली भारत गाँवों में ही मिलता है, इतना ही नहीं गाँव संस्कृति और परम्पराओं के भण्डारगृह है। गाँव कला एवं शिल्प के अद्भुत स्थान हैं लेकिन सब कुछ समृद्ध होने के बावजूद आज विडम्बना यह है कि गाँवों में काम जनसंख्या के अनुपात में उपलब्ध नहीं है।⁵ अधिकांश युवा (लड़के एवं लड़कियाँ) अच्छे अवसर की तलाश में शहरों की ओर प्रवासित हो रहे हैं।

ग्रामीण पर्यटन उपरोक्त समस्याओं का समाधान है। ग्रामीण पर्यटन को साधारण शब्दों में इस प्रकार समझा जा सकता है- 'जब कोई व्यक्ति या समूह अपने रहने के स्थान से, अवकाश या मनोरंजन के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में जाता है तथा वह वहाँ कम से कम 24 घंटे व अधिकतम छः महीने की अवधि तक रुकता है, ग्रामीण पर्यटन के अन्तर्गत आता है।' इसमें समस्त क्रियाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्न की जाती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में गैर-शहरी व कृषि आधारित क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। खुला वातावरण तथा स्थान, प्राकृतिक वातावरण, साधारण लोग एवं उनकी साधारण जीवन शैली तथा स्थानिक विविधता के अनेक रंग को समेटे सांस्कृतिक समरसता में रहने का अवसर प्राप्त होता है।

पर्यटन के विविध प्रकारों में से एक ग्रामीण पर्यटन विश्व भर में शोधकर्ताओं व सामाजिक विचारकों के लिए शोध का विषय क्षेत्र बनता जा रहा है। क्योंकि शोधार्थियों के लिए वृहद् विषय सामाग्री है। ग्रामीण पर्यटन आज अनेक रूपों में जाना जाता है, जैसे - कृषि पर्यटन, ग्राम पर्यटन, पारिस्थितिकी पर्यटन, हरित पर्यटन आदि। ग्रामीण पर्यटन के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों, ग्रामीण जीवन, ग्रामीण विरासत तथा ग्रामीण क्रिया विधियों जैसे चार महत्वपूर्ण स्तंभों को सामाजिक पर्यटन के रूप में महत्वपूर्ण बनाया जा सकता है। इसके अलावा पर्यटकों के लिए ग्रामीण भौगोलिक वातावरण, ऐतिहासिक चरित्र, संस्कृति सनातन के साथ ग्रामीण प्रकृति का मनोरम अवसर उपलब्ध कराया जा सकता है। साथ ही मत्स्य पालन, जलक्रीड़ाएँ एवं जलीय कृषि, कृषि-गृह, प्रतीक चिन्हों का निर्माण व विक्रय केन्द्र, आभूषण निर्माण, भ्रमण, साइकिलिंग, मोटर-कार-रेस आदि अनेक परम्परागत गतिविधियों का अनुभव देकर इन्हें जीवन्त बना सकते हैं।

भारत में केरल एक ऐसा राज्य है जिसने ग्रामीण पर्यटन की अवधारणा को पूर्णतः अपनाया है। यहाँ पर्यटकों को स्थानीय भोजन, आयुर्वेदिक उपचार, ग्रामीण जीवन पद्धति के अनुसार व्यवहारिक ज्ञान का अनुभव कराया जाता है। कुमायकोम, व्यानाड व अन्य अनेक स्थानों पर स्थानीय समुदाय द्वारा ग्रामीण पर्यटन मॉडल को विकसित कर पर्यटकों को ग्रामीण जीवन दर्शन का आनंद दिलाते हैं। यहाँ पर्यटन का विकास उत्तरदायित्व पर्यटन के रूप में किया गया है इस हेतु केरल को पुरुस्कृत भी किया गया है।⁶

दूसरा, सिक्किम में कई ऐसे गाँव हैं जहाँ पर्यटन को 'पर्यटन अनुभव' के रूप में, अनेक ग्रामीण समुदाय द्वारा विकसित किया गया है, यहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में सामूहिक रूप से पर्यटन उत्पाद तैयार किये जाते हैं। जो पर्यटकों को बहुत आकर्षित करते हैं। अपने स्थानीय उत्पाद के कारण सिक्किम अब भारत का जैविक राज्य बन गया है। यहां के पर्यटन उत्पाद में सभी लोगों की बराबर हिस्सेदारी एवं आमदनी का समान वितरण किया जाता है। इसी प्रकार गोवर्धन (इको-विलेज) महाराष्ट्र को वर्ष 2019 में यू.एन.डब्ल्यू.टी.ओ. द्वारा सम्मानित किया है। यह सम्मान इस संस्था द्वारा यहां के लोगों का आंगंतुकों के साथ सहजीवी सम्बन्ध रखने, आमदनी बढ़ाने में मदद करने एवं इस पिछड़े क्षेत्र में शिक्षा का स्तर बढ़ाने के लिए प्रदान किया गया।

ग्रामीण-पर्यटन स्थलों के विकास के लिए आवश्यक कदम

दो या तीन वर्षीय योजनाओं तथा पंचवर्षीय योजनाओं के स्थान पर ग्रामीण क्षेत्रों में दीर्घकालीन योजनाओं का क्रियान्वयन किया जाना चाहिए, जिनमें अनियंत्रित पर्यटन को रोकने के साथ ही वहाँ

ऐतिहासिक, प्राकृतिक, सांस्कृतिक व कृषिगत संसाधनों को बिना नुकसान पहुँचाये विकास करना शामिल हो। कुछ संभावनाएँ इस प्रकार हैं -

- ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण जनता को पर्यटन के महत्व के बारे में समझाना।
रखरखाव समिति, गतिविधि सम्पादित समिति, सेवा प्रदाय समिति, भोजन-आवास समिति जैसी अन्य अनेक समितियों का गठन कर जबाबदेही सुनिश्चित करना। विशेषकर उन ग्रामीण स्थानों में जहाँ पर्यटन गतिविधियों की संभावनायें अधिक हैं, स्वच्छता, पेयजल, सुरक्षा, चिकित्सा, वाहन आदि व्यवस्था करना।
- स्थानीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परागत आकर्षक आदि का व्यापक प्रचार-प्रसार करना।
- स्थानीय व क्षेत्रीय पर्यटन समिति का गठन कर सतत् मूल्यांकन।
- राज्य एवं राष्ट्र स्तरीय मंच पर ग्रामीण मंच का उचित स्थान सुनिश्चित करना।
- ग्रामीण पर्यटन को कृषि आधारित पर्यटन सुनिश्चित करना।
- ग्रामीण क्षेत्रों का नामकरण पर्यटन के आधार पर विकसित करना जैसे- पर्यटन नगरी, पर्यटन ग्राम, पर्यटन विलेज, पर्यटन-खुर्द, पर्यटन-पुर आदि।
- पर्यटकों की जरूरतों के अनुसार ग्रामीण विकास करना।
- ग्रामीण कृषकों को पर्यटन आधारित सुविधाएँ मुहैया करना।
- सघन एवं वृहद् ग्रामीण-पर्यटन आधारित स्थलों में नवीन संस्थागत संसाधनों के अनुसार नियोजित विकास करना।
- महिला शक्ति का रचनात्मक सहयोग लेना जिससे स्वावलंबन की भावना विकसित हो।
- ग्रामीण पर्यटन से निर्मित रोजगार में स्थानीय लोगों का प्रतिनिधित्व बढ़ाना।
- ग्रामीण पर्यटन को शहरी और विदेशी जुड़ाव के लिए पर्यटन-संचालकों, प्रबंधकोंकी भागेदारी सुनिश्चित करना।
- स्थानीय त्योहारों, रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं को बढ़ावा देने के लिए उच्च संस्थाओं द्वारा प्रोत्साहन स्वरूप सहयोग राशि का प्रावधान करना।
- ग्रामीण विकास में ग्रामीण पर्यटन की परिकल्पना को विकसित करना।

ग्रामीण पर्यटन का ग्रामीण विकास में योगदान

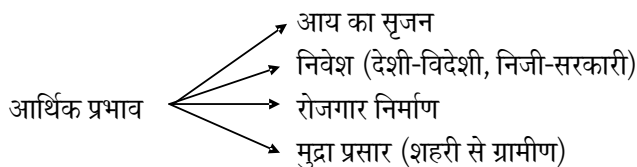
ग्रामीण स्थल, सीमित पहचान वाले वह स्थल होते हैं जहाँ प्राकृतिक सुन्दरता, सांस्कृतिक विविधता, परम्पराएँ, विरासतें आदि का आन्तरिक रूप से वहाँ की मिट्टी से जुड़ाव होता है। समाज की सोच में अगर परिवर्तन होता रहा तो इनको बदलने में वक्त नहीं लगेगा। ग्रामीण पर्यटन के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों का पुनर्निर्माण करना मुख्य लक्ष्य होना चाहिए है। यह एक ऐसा पर्यटन है जहाँ सम्पूर्ण मनोरंजन, सीमित संसाधनों व कम खर्च पर संभव है। यह शहरों की चमक व बाजार आधारित वस्तुओं और दिखावे में किये जाने वाले खर्च से न्यूनतम व्यय पर सम्पादित किया जा सकता है।

आज ग्रामीण विकास के लिए ग्रामीण पर्यटन की आवश्यकता क्यों है? इस हेतु निम्न तथ्यों को समझना जरूरी है -

- ग्रामीण क्षेत्रों में परम्परागत संसाधनों व मामलों, जो विलुप्त होने की कगार पर हैं, संरक्षण आवश्यक है।
- इसके माध्यम से नवीन व्यवसाय को विकसित करना तथा ग्रामीणों को आत्मनिर्भर बनाना।
- पर्यटन को उद्योग मानना एवं उद्योग आधारित सुविधाओं का विकास करना, जिससे ग्रामीण विकास को बल मिले।

- हस्तशिल्प व परम्परागत कला को अक्षुण्य बनाये रखना ।
- महिलाओं को जागरूक बनाना तथा उनकी कार्यक्षमता का उपयोग करना ।

1. ग्रामीण पर्यटन का ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर प्रभाव



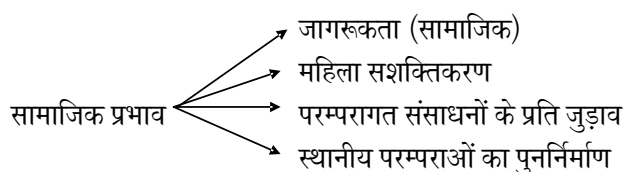
ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि होती है। जिससे प्राप्त आय मौसमी है, सामान्यतया खरीफ फसल एवं रबी फसल के आगमन पर। इन दोनों अवधि के बीच कृषि उत्पाद के अतिरिक्त आय का अन्य स्रोत नहीं होता है। ग्रामीण पर्यटन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हर वर्ग और मौसम में आमदनी पैदा करने की क्षमता रखता है। अर्थात् इस गतिविधि में संलग्न कर, पर्यटन से अतिरिक्त आमदनी अर्जित कर सकते हैं। इस प्रकार का प्रयोग इंग्लैण्ड में शुरू हो चुका है जहाँ अधिकांश किसान ग्रामीण पर्यटन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। आज भारत में घरेलू और विदेशी पर्यटकों के लिए विभिन्न आर्कषण पैदा करना, उनके लिए आवास, भोजन, पेयजल, परिवहन, टैक्सी, पर्यटन-उत्पाद तैयार करना, स्थानीय हस्तकरघा व उपहार-उत्पाद, स्थानीय भोज्य पदार्थ, स्थानीय सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन के अलावा वस्तु एवं सेवा सुविधाओं को प्रदान कर आय में आशातीत वृद्धि कर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ किया जा सकता है। इन गतिविधियों के सम्पन्न होने से निम्न ग्रामीण आर्थिक सुधारों के अवसर बढ़ाये जा सकते हैं -

- कृषि उत्पाद की अतिरिक्त मांग होने पर अतिरिक्त बाजार विस्तार।
- ग्रामीण क्षेत्रों में हस्तकरघा एवं घरेलू शिल्पकला का पुनः निर्माण शुरू करना।
- ग्रामीण कारीगरी को आगे बढ़ाने के अवसर सृजित होंगे।
- होटल, मोटल, परिवहन, टैक्सी जैसी सुविधाओं के प्रसार से रोजगार के अवसर पैदा होंगे तथा ग्रामीण बेरोजगारी खत्म होगी।
- वस्तुओं और सेवाओं में व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक हिस्सेदारी बढ़ेगी।
- परम्परागत व सांस्कृतिक आदान-प्रदान से सामाजिक परिवर्तन की संभावनाएँ आगे बढ़ेगी।
- ग्रामीण पर्यटन के विकसित होने से खाली हाथों को काम मिलेगा तथा महिला सशक्तिकरण व कामकाजी महिलाओं की सकारात्मक भागीदारी बढ़ेगी।

आज हर क्षेत्र में महिलाओं की हिस्सेदारी व जबाबदारी बढ़ी है। महिलाएँ गृह-प्रबंधन के साथ ही पर्यटन जैसे क्षेत्र में अपने कुशल संचालन से महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं। खासकर यूरोपीय देशों में खेत-खलिहान के साथ पर्यटन विकास में अहम हिस्सेदारी प्रदर्शित कर रही हैं। इन देशों में महिलाओं ने घरों में ही सामान-पैकिंग, अचार बनाना, पनीर, दुग्ध उत्पाद, साँस, चासनी, खिलौने, बर्तन, हस्तशिल्प, कृषि उत्पाद की अलग-अलग डिब्बा बन्दी को बखूबी अंजाम दे रही हैं। ऐसा करने से उनकी खुद की आमदनी तो बढ़ी है साथ ही आत्मनिर्भर भी हुई है। गृहस्थ जीवन में अमूल-चूल परिवर्तन आये हैं और सबसे महत्वपूर्ण पहलू ग्रामीण का शहरी प्रवास कम हुआ है।

आज सार्वजनिक व निजी क्षेत्र में रोजगार के अवसर कम हुए हैं तथा पर्यटन के नवीन आयाम विकसित होने से युवा वर्ग अधिक कुशल व रोजगार परक हुआ है। युवा वर्ग का अपने स्थानीय संसाधनों, संस्कृति व समाज के प्रति प्रेम बढ़ा है। युवा शक्ति नवीन संसाधनों के सृजन में महती भूमिका अदा कर रहा है।

2. ग्रामीण पर्यटन का सामाजिक प्रभाव



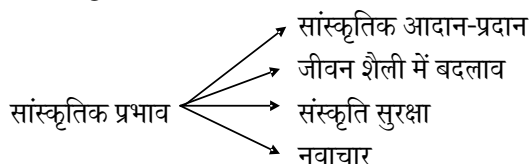
पर्यटन एक संयुक्त सामाजिक-संगठन है। इसमें समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योगदान होना आवश्यक है। हमारे ग्रामीण क्षेत्र पहले से ही सामाजिक समरसता एवं भाईचारा के लिए जाने जाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में ग्रामीण पर्यटन ग्रामीण क्षेत्रों के लिए बहुत उपयुक्त हो गया है।

पर्यटन अपने बढ़ते प्रभाव से बड़ी तेजी से विश्व का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस गतिविधि में पर्यटक सीधे ग्रामीणों के तथा ग्रामीण पर्यटकों के सम्पर्क में आते हैं, जिससे दोनों को एक-दूसरे को जानने, समझने का अच्छा अवसर मिलता है। विश्व प्रसिद्ध खजुराहों पर्यटन केन्द्र में अनेक ऐसे उदाहरण देखने को मिले हैं जब विदेशी-पर्यटक स्थानीय लोगों के लगातार सम्पर्क में रहने पर वैवाहिक बन्धन में बंध गये हैं। कुछ तो कृषि, हस्तशिल्प के साथ त्योहारों व विवाह समारोहों में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं।

पर्यटन एक नवीन जीवनशैली को जन्म देता है तथा समाज में सामाजिक गुणवत्ता का प्रवाह करता है। यह व्यक्तियों में सामाजिक विकास को सुनिश्चित करने, सकारात्मक व्यवहार में बदलाव लाने, व्यक्ति को संकीर्ण मानसिकता से बाहर निकालने आदि में प्रभावी योगदान करता है। स्थानीय लोग, पर्यटकों से आवास, भोजन, पेय पदार्थ, सेवा, जिज्ञासा, खेल, मनोरंजन, पर्यटन उत्पाद के माध्यम से सम्पर्क में आते हैं। जिससे दोनों के बीच सामाजिक मूल्यों, नैतिक व्यवहारों, व्यक्तिगत सम्बन्धों में धीरे-धीरे परिवर्तन होने शुरू हो जाते हैं, जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा में बदलाव लाते हैं।⁷ पर्यटन के निम्न सामाजिक प्रभाव देखे गये हैं -

- ग्रामीण क्षेत्रों में शहरों से ग्रामीणों में प्रवास से शहरीकरण का प्रभाव।
- महिलाओं की सहभागिता अधिक होने से महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा।
- युवाओं की अधिकाधिक सहभागिता एवं आत्मनिर्भरता।
- ग्रामीण श्रम शक्ति में सुधार तथा व्यावसायिक ज्ञान एवं कौशल का विकास।
- सामाजिक समरसता की भावना का विकास।
- ग्रामीण से शहरी प्रवास में कमी।
- पर्यटन विकास से ग्रामीणों की जीवनशैली, स्वच्छता, पोषण, रहन-सहन, नवाचार आदि दृष्टिकोण का विकास।

3. पर्यटन का सांस्कृतिक प्रभाव

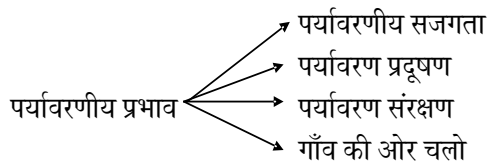


ग्रामीण जनसंख्या अपनी संस्कृति के वेहद करीब होती है साथ ही उतनी उसकी संरक्षक। संस्कृति के प्रति यही आत्मीयता उसे अन्य संस्कृति से अलग करती है। बुन्देलखण्ड की संस्कृति जितनी मजबूत है, उतनी ही बघेलखण्ड की। मगर लोगों का अपनी संस्कृति से लगाव, दो अलग संस्कृति में बांट देता है। इन संस्कृतियों का यही मतभेद ग्रामीण पर्यटन की मांग को तेज कर देता है।

पर्यटन में विभिन्न समाज और सांस्कृतिक क्षेत्रों से आने वाले लोग एक-दूसरे के साथ विचारों, व्यवहारों, सूचनाओं तथा संस्कृति का आदान-प्रदान करते हैं साथ ही एक-दूसरे की संस्कृतियों को आत्मसात भी करते हैं। इससे स्थानीय परम्पराओं, विश्वासों, मूल्यों, विचारों को दृढ़ता प्राप्त होती है एवं सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण को बल मिलता है। निम्न प्रभाव संभावित हैं -

- ग्रामीणों द्वारा पर्यटकों को स्थानीय संस्कृति से अवगत कराना तथा ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करना। इससे सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण को बढ़ावा मिलेगा।
- पर्यटन से प्राप्त आय को पर्यटकों के लिए सुविधाएँ एवं आकर्षक वस्तुओं को जुटाने में खर्च से संरचनागत विकास होगा।
- स्थानीय लोगों तथा पर्यटकों के आपसी मिलन से सांस्कृतिक संरचना एवं जीवनशैली में दो दिशात्मक परिवर्तन होगा।
- दो संस्कृतियों के बीच मित्रता का बीज अंकुरित होगा। सांस्कृतिक अवयवों- खान-पान, रीति-रिवाज, परम्पराओं, पहनावा आदि में नवीन अदला-बदली होगी।
- स्थानीय लोगों द्वारा नवीन भाषा शैली तथा नवाचार को सीखने की लालसा जागृत होगी।
- भारत जैसे देश में विविधता में एकता की जड़ों को मजबूती प्राप्त होगी।
- खजुराहों विश्व विरासत पर्यटन केन्द्र में वस्तुविक्रेता, टैक्सीवाला, रिक्सावाला, दुकानदार, ऑफिस स्टाफ आदि, पर्यटकों के प्रभाव में रहने से अंग्रेजी में वार्तालाप करना, सांस्कृतिक परिवर्तन का नायाब उदाहरण है।

4. पर्यटन का पर्यावरणीय प्रभाव



पर्यटन एवं पर्यावरण एक-दूसरे के बेहद करीब हैं क्योंकि पर्यटन का विकास पर्यावरणीय तत्वों की उपलब्धता एवं विविधता पर आधारित है। पर्यटन के स्थायी एवं सतत् विकास के लिए प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं संवर्धन अतिआवश्यक है। पर्यटन के माध्यम से पर्यावरणीय तत्वों को विकसित करने में मदद मिलती है। विशेषकर ग्रामीण पारिस्थितिकी जिसमें खेत-खलिहान, बगीचे, पहाड़, पहाड़ियाँ, झील-झरने, निर्जन वन, वन एवं वन्य जीव, वन्य जीव उत्पाद एवं सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक भूदृश्य आदि इन सभी को संरक्षित करके ग्रामीण पर्यटन को उत्तरोत्तर गति दी जा सकती है।

ग्रामीण पर्यटन विकास की चुनौतियाँ

ग्रामीण पर्यटन के विकास में कुछ परेशानियाँ इसके स्वाभाव के कारण हो सकती हैं। जैसे - ग्रामीण कृषक व लोगों को अपर्याप्त जानकारी, शिक्षा की कमी, मानवीय अवरोध, प्रशिक्षण की कमी, स्वच्छता, पेयजल एवं भोजन तथा आवास का अनुचित प्रबंध आदि इसके अलावा अपर्याप्त बुनियादी सुविधाएँ, वित्तीय सहायता की कमी, असंतोषजनक प्रशिक्षण तथा शिक्षा ग्रहण करने के अवसरों का अभाव आदि। इन चुनौतियों का निपटान इसके मार्ग में बड़ी बाधा है।

ग्रामीण पर्यटन का नकारात्मक प्रभाव

ग्रामीण पर्यटन नकारात्मक प्रभावों से अछूता नहीं है। परन्तु इसके महत्व व सकारात्मक प्रभाव की अपेक्षा कम से कम हैं। ग्रामीण पर्यटन का विकास अगर सुनियोजित तरीके से नहीं किया गया तो इसके

आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व पर्यावरणीय प्रभाव नकारात्मक हो सकते हैं। कुछ नकारात्मक प्रभाव इस प्रकार संभावित हैं -

- ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यटन के साधन सम्पन्न लोगों के हाथों में जाने से आय प्राप्ति में असमानता बढ़ने का खतरा।
- पर्यटन से प्राप्त अधिक आमदनी से कृषि भूमि का दुरुपयोग।
- पर्यटन विकास से कृषि भूमि की कीमतों में भारी वृद्धि की आशंका।
- गहन-कृषि या बार-बार कृषि से पारिस्थितिकी असंतुलन की आशंका।
- ग्रामीण क्षेत्रों में भीड़-भाड़ अधिक होने से ग्रामीण संस्कृति/खूबसूरती में कमी आना।
- सांस्कृतिक प्रदूषण बढ़ने की संभावना।
- ग्रामीण पर्यटन से अधिक आमदनी होने पर कृषि छोड़ पर्यटन पर अधिक ध्यान देना जिससे कृषि उत्पाद व मूल्यों में गिरावट आना।
- आधारभूत सुविधाओं के विस्तार से प्राकृतिक संसाधनों के खत्म होने की संभावना
- ग्रामीण पर्यटन का ग्रामीणों के परम्परागत जीविकोपार्जन पर विपरीत प्रभाव।

निष्कर्ष

भारत का किसान आज भी गरीब है। गाँवों में गरीबी का कारण कृषि पर अधिक निर्भरता है तथा कृषि से प्राप्त आय पारिवारिक विकास के लिए अपर्याप्त होती है। विशेषकर उन लोगों के लिए जो भूमिहीन व कृषि मजदूरी करते हैं। ऐसी स्थिति में ग्रामीण विकास के लिए गैर कृषि आधारित गतिविधियों का होना जरूरी हो जाता है जो हर वर्ग को समायोजित कर आय प्रदान कर सके।

यह बात अलग है कि ग्रामीण विकास के साथ ही साथ कृषि विकास को सम्बन्धित किया जाय। क्योंकि ग्रामीण विकास तभी संभव है जब इसके साथ ही साथ कृषि विकास भी समानांतर हो। साथ ही अन्य लघु एवं कुटीर उद्योग, शिक्षा, चिकित्सा, सुरक्षा, आवास, परिवहन, व्यवसाय व रोजगार के विकास में भी प्रगति हो।

ग्रामीण विकास भारत जैसे विकासशील देशों का मुख्य उद्देश्य है। जिसके अन्तर्गत समाज का आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विकास हो। यही कारण है कि ग्रामीण विकास के बुनियादी घटकों में से पर्यटन एक है। यूरोपीय देशों की देखा-देखी भारत में भी इसका प्रसार तेजी से हो रहा है।

19वीं शताब्दी में औद्योगिक विकास के साथ ही तनाव, अशान्ति, अपाधापी, व्यस्तता जैसे व्यभिचारी तत्वों का सृजन हुआ जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पर्यटन को अवतरित होना पड़ा। ग्रामीण पर्यटन का जन्म 1970 के दशक में हुआ। तब से आज तक इसके परिणाम अद्भुत रहे हैं। इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी सुविधाएँ उपलब्ध कराकर, शहरी लोगों को ग्रामीण अंचलों में भ्रमण हेतु आकर्षित किया जाता है। क्योंकि आज शहरों में सघन आबादी के कारण, भीड़-भाड़, तनाव, प्रदूषण, कतारें, काम का बोझ, अनिद्रा जैसे अन्य अनेक अवांछनीय तत्वों ने सामाजिक अशान्ति पैदा की है।⁸

आज अधिकांश यूरोपीय देशों में पर्यटकों की पहली प्राथमिकता ग्रामीण पर्यटन की होती है। जहाँ पर्यटक लम्बे समय तक सुकून की जिन्दगी जीता है। यही कारण है कि दुनिया के अधिकांश देश बड़ी तेजी से इसको विकसित कर रहे हैं। आज भारत जैसे देश अपनी ग्रामीण आर्थिक व्यवस्था में पर्यटन गतिविधियों को विकसित कर आय का अहम माध्यम बना सकते हैं।

चूँकि इस प्रकार का पर्यटन ग्रामीण क्षेत्रों से सम्बन्धित है साथ ही मौसमी होने के कारण पर्यटक दबाव की संभावना नहीं रहती। यह सही है कि इसके नकारात्मक प्रभावों को नकारा नहीं जा सकता लेकिन नीतियों का निर्माण ग्रामीण विकास को ध्यान में रखकर निर्मित की जानी चाहिए। ग्रामीणजन को अधिक जागरूकता की जरूरत है साथ ही पर्यटन का व्यावसायीकरण करने की भी आवश्यकता है। स्थानीय लोगों में आतिथ्य सत्कार की भावना को प्रबल बनाना, पर्यटकों को आकर्षित करने के नवीन आयाम विकसित करना, जारी रखना होगा।

अंत में महात्मा गांधी के अनुसार - भारत को नष्ट करना है, तो उसके गाँवों को नष्ट कर दीजिए।' मसलन भारत के गाँव भारत की वास्तविक तस्वीर है। अर्थात् आने वाली पीढ़ी का भविष्य सुरक्षित करने के लिए गाँवों का जीवित रहना अतिआवश्यक है।

सामान्य एवं व्यावहारिक भूगोल विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ -

1. मीणा, शिवराज (2015), रूरल टूरिज्म इम्पैक्ट - चैलेंज एंड अपॉर्चुनिटीज इन राजस्थान, द जर्नल ऑफ बंगाल जियोग्राफी, वॉल्यूम IV, नम्बर IV, आई एस एस एन 2319-619 एक्स, अक्टूबर, 2015, पृ. 21
2. सिंह जीतेन्द्र, डॉ. जे. यस. नर्बन (2015), रूरल टूरिज्म इन इंडिया - ए मॉडल ऑफ रूरल कल्चर एण्ड हेरिटेज, आई जे ए आर - टी अटू - वॉल्यूम 1, इशू-05, 2015, आ एस एस एन (व) 2395-4396, पृ. 39
3. कृष्णा, के. कमरा एंड मोहिंदर चंद (2019), बेसिक ऑफ टूरिज्म- थ्योरी, ऑपरेशन एंड प्रक्टिक्स, कनिष्का पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पृ. 131-132
4. बीतन, यस. (2006), कम्युनिटी डवलपमेंट थ्रू टूरिज्म, लैंड लिंक प्रेस, पृ. 101-102
5. कुरुक्षेत्र, अप्रैल 2019, वालूम 67, नम्बर 6
6. कुरुक्षेत्र, दिसम्बर 2017, वालूम 66, नम्बर 212, पृ. 6
7. बन्सल, सुरेश चन्द्र (2006), "पर्यटन एवं यात्रा प्रबन्धन, आधारभूत सिद्धांत" मीरा प्रकाशन, सराहनपुर, पृ. 53-54
8. स्थापक, मधु (2016), "पर्यावरण एवं पर्यटन", कृष्णा कम्प्यूटर, सागर (म.प्र.), पृ. 389

बालरामायण में सामाजिक सद्भाव

रामहेत गौतम

भारत एक विशाल देश है, जहां सदियों से विभिन्न धर्मों के लोग मिल-जुलकर रहते आ रहे हैं। सहिष्णुता, बहु-समाजवाद और मेल-मिलाप से रहने की समृद्ध परम्पराओं ने देश को एक अलग पहचान दी है तथा भारतीय सभ्यता में सतत् बदलाव हुए हैं। आजादी के बाद संविधान में भारत को एक धर्म निरपेक्ष देश घोषित किया गया है। राज्य प्रशासन किसी विशेष धर्म, जाति, वर्ग, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करता। सभी के लिए समान अवसरों के संबंध में संवैधानिक व्यवस्थाएँ हैं। कोई अपने आपको अलग महसूस न करे इसके लिए संविधान में सभी प्रकार के सकारात्मक और ऐहतियाती उपाय किए गये हैं फिर भी बार-बार साम्प्रदायिक दंगे, जातीय हिंसा आदि होते रहते हैं। मूल रूप से कोई भी धर्म न तो वैर भाव तथा हिंसा की इजाजत देता है और न ही नफरत का प्रचार करता है। जो लोग धार्मिक चिह्नों और मंचों का उपयोग हिंसा, धार्मिक द्वेष और विवादों के लिए करते हैं वे अपने धर्म के सच्चे प्रवक्ता न होकर अतिवादी स्वार्थी लोग हैं। इसलिए यह और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम केवल ऐसे लोगों को ही स्वीकृति और प्रशंसा से प्रोत्साहित करें, जो साम्प्रदायिक व सामाजिक सद्भाव और राष्ट्रीय एकता के लिए निःस्वार्थ भाव से कार्य कर रहे हैं। कुछ स्वार्थी शरारती लोग धार्मिक शिक्षाओं का अपने स्वार्थ, निजी महत्वाकांक्षाओं और लाभ के लिए गलत व्याख्या करके भ्रम पैदा करते हैं। छोटी और मामूली घटना को स्वार्थी लोग बड़ा रूप दे देते हैं।

हमारे राष्ट्र प्रेमी नेताओं ने विकासशील भारत को एक विकसित देश और आर्थिक महाशक्ति बनाने का सपना देखा था। देश की आंतरिक शांति व्यवस्था और खासतौर से सांप्रदायिक व सामाजिक सद्भाव के बिना यह सपना साकार नहीं हो सकता।

सामर्थ्यवान लोगों से धर्म, जाति, रंग, सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सामाजिक सद्भावना के विकास में योगदान अपेक्षित है क्योंकि सामाजिक सद्भावना से ही अच्छे समाज एवं राष्ट्र का निर्माण संभव है। अलग-अलग रहने में नहीं। सद्भाव के बिगाड़ने से समाज पतनोन्मुखी होता है। अतः समाज के सद्भाव को बिगाड़ने वाले कारणों में सांप्रदायिकता की भावना, स्वार्थ प्रवृत्ति तथा क्षुब्ध राजनीतिक इच्छा आदि से ऊपर उठकर ही सामाजिक समरसता स्थापित की जा सकती है। हमें मानवतावादी होकर सोचना होगा तथा तदनुरूप कार्य करना होगा।

कुछ भ्रमित सिरफिरे अराजक लोग समाजिक सद्भाव को बिगाड़ने के लिए कुछ वेरोजगार युवकों को विभिन्न प्रलोभनों से भ्रमित करके अपनी गिरफ्त में ले लेते हैं। ऐसे लोग कुछ इसी प्रकार के राजनेताओं का

संरक्षण भी पाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं। इस सब पर समय रहते काबू न पाया गया तो देश प्रगति नहीं कर सकेगा। हमें बदलते समय और मूल्यों के अनुसार समाज को भी बदलना होगा।

साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं पथ प्रदर्शक भी है। संस्कृत साहित्य की एक समृद्ध परम्परा है जो मूलतः लोकहित के लिए ही समर्पित रही है। 'संगच्छध्वंसवदध्वंसं वो मनांसि जानताम्' का उद्घोष करते वेद, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का उपदेश करते उपनिषद्, 'तपः स्वाध्याय' तथा 'सत्य-वाक्यो -दृढव्रतः' का व्यवहार ज्ञान कराते महाकाव्य सद्भावना के संस्थापक हैं। 'अतदीपोभव' जैसे महावाक्य जनमानस को जागृत बनाये रखते हैं। कालक्रम के सहारे प्रवाहमान साहित्य सरिता की यात्रा के 9वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य ज्ञानालोक को विखेरने वाले नर्मदा तट के पावनत्व को अनुभूत करते हुए महाकवि यायावर राजशेखर ने अपनी कृतियों कर्पूरमंजरीसट्टक, विद्धशालभञ्जि नाटिका, बालरामायण, बालभारत एवं काव्य मीमांसा से लोक को संरक्षित सर्वोदित किया है। महाकवि की भाषा व्यंग्यपूर्ण चुटीले अंदाज में लोगों को ज्ञानामृत-पान कराती है। महाकवि ने घूम-घूमकर ज्ञानार्जन व ज्ञान दान किया है अतः वे यायावर कहलाये। यायावर का सूक्तामृत तो सज्जनों के द्वारा स्वयमेव ग्राह है।¹ राजशेखर की बालरामायण और बालभारत ज्ञानसागर के विशाल भण्डार को गागर रूप में संजोये हुए हैं। दोनों ग्रन्थों का ज्ञानसुवासित-काव्यामृत ज्ञानबाल अर्थात् अल्पज्ञ और वयोबाल अर्थात् बच्चे दोनों को भी तृप्त करते हुए सामाजिक सद्भाव का बीजारोपण करते हैं।

समाज की प्रथम इकाई व्यक्ति है। अतः एक आदर्श व्यक्ति की जिज्ञासा महाकवि वाल्मीकि ने की² तथा सात काण्डों में निबद्ध 24000 श्लोकात्मक आर्षकाव्य सृजित किया। इस अपार विषद् ज्ञान सागर³ को गागर में भरने के लिए कवि ने सुभाषितोक्ति समन्वित⁴ इस दश अंकात्मक रूपक की सर्जना की है। समाज का दर्पण और दीपक दोनों के गुणमय बालरामायण के समाज से सीधा सरोकार रखने वाले तथा सामाजिक सद्भाव को स्थापित करने में प्रासंगिक पहलू कुछ इस प्रकार हैं।

पुरुषार्थ चतुष्टय में प्रथम पुरुषार्थ धर्म है जिसका आधान शिक्षा के माध्यम से होता है। 'कश्चित्प्रगल्भते नहिसर्वः सर्वजानाति।' सभी सभी विद्याओं में प्रवीण नहीं होते, कोई भी व्यक्ति किसी न किसी विद्या में प्रवीण होता है।⁵ कथन से उपदिष्ट किया है कि कोई सामाजिक अपनी विद्वत्ता के घमण्ड में किसी का उपहास एवं उपेक्षा न करे। क्योंकि उपेक्षा और उपहास से सद्भाव विगड़ता है।

'मैं ही सर्वश्रेष्ठ' का मनोविकार भी सामाजिक सद्भाव के ताने-बाने को विखेर देता है। जैसा कि बाल रामायण के आरम्भ में ही सूत्रधार कहता है कि-दाक्षिणात्य लोगनारी से पराभव की शिक्षा नहीं पाये हैं।⁶ यह मानसिकता आज भी व्याप्त है जो स्त्री-पुरुषों के बीच के सद्भाव को आहत करती है। शिक्षित स्त्री समाज व परिवार को संवार देती है।

कला कौशल सामाजिक जीवन को सरस बना देता है। अपनी सुशिक्षित पुत्री के लिए सुशिक्षितवर की इच्छा करता हुआ सूत्रधार कहता है कि-वीर तथा अद्भुत् रसबहुल प्रबन्ध में लोक श्रेष्ठ कुशल व्यक्ति ही नाट्य एवं नृत्य में प्रवीणा मेरी कन्या से परिणय करेगा।⁷ स्त्री कौशल के संबंध में भी प्राप्त होता है कि 'सद्भिज्ञानं-कुलतिलकता याति-दारैरुदारैः' अच्छी स्त्रियों के द्वारा सद्भिज्ञान-कुल को सुशोभित करने वाला हो जाता है।⁸

बालरामायण के पंचम अंक में बलात्कार पूर्वक नाक काट लिए जाने पर सूर्यपुत्रा अवगुण्ठन में मुँह छिपाती है।⁹ इससे पता चलता है कि अवगुण्ठन (मुँह छिपाना) लाज का परिचायक रहा है। आज भारतीय समाज में शिक्षा से आलोकित स्त्री के लिए अवगुण्ठन आवश्यक नहीं माना जाता।

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण व्यवस्था ने समाज के सद्भाव को तहस-नहस किया है। शिक्षा प्राप्ति का प्रवेश-द्वार उपनयन संस्कार इस वर्ण व्यवस्था के कारण ही एक विशाल जनसमूह के लिए प्रतिबंधित रहा है। फिर कैसे सिद्ध होता हितोपदेश वचन-विद्याददाति-विनयं, विनयाद् याति पात्रतां, पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं ततः सुखम्।¹⁰ जिसको शिक्षा का अधिकार था वे वर्ण परिवर्तन कर सकते थे। जैसा विश्वामित्र ने अपनी शिक्षा के बलबूते अपना वर्ण परिवर्तन कर लिया था। 'अथैकजन्मानुभूतक्षत्रब्रह्मभावः'¹¹ जब समाज में मान व प्रतिष्ठाजन्म - जाति, कुलआदि के आधार पर निर्धारित होने लगती है तो समाज का सद्भाव बिगड़ने लगता है। मान-प्रतिष्ठा सामाजिक विषय है आर्थिक नहीं। जैसे कि भृंगिरिति शिव के संबन्ध में कहता है कि- नग्न रहने वाले शम्भु को दिव्य वस्त्रधारी प्रणाम करते हैं। हाथी की सवारी करने वाला इन्द्र भी उस बैल-वाहन की सेवा करता है। धनपति कुबेर भी उस कपाल पात्री की स्तुति करते हैं। वे दुर्गति और विभुता के परम स्थान हैं।¹²

अपमान व तिरस्कार भी समाज के सद्भाव को मिटा देता है। जैसे कि 'शिव-धनुष का खण्डन' परशुराम को अपमान महसूस होता है और वहां सद्भाव क्षीण हो जाता है।¹³ जो बाद में राम की चतुराई से ठीक हो पाता है।

स्त्री को वस्तु मानना स्त्री के प्रति असद्भाव है। उस को रत्न की श्रेणी में रखा गया है यथा-रावण- 'स्त्रीरत्नं तद्गर्भं संभवमितोलभ्यं च लालायिता'¹⁴

हठधर्मिता भी सद्भाव को नुकसान पहुँचाती है। जैसे कि कैकेयी की हठधर्मिता राजा दशरथ के परिवार के ताने-बाने को बिखण्डित कर देती है।¹⁵ हठविवेक शून्य बना देती है। बालरामायण के छठे अंक में मायामय और शूर्पणखा दशरथ और कैकेयी का छद्म वेष धारण कर राम को चौदह वर्ष का वनवास दे देते हैं लेकिन वामदेव आदि के द्वारा रहस्योद्घाटन कर देने के बाद भी राम कहते हैं कि- उसे पिता का आदेश समझकर शिर झुकाकर माना है। चाहे वह यक्ष हो, राक्षस हो, भगवान् या रघुपति दशरथ। भरत के द्वारा रक्षित अपनी पुरी से निवृत्त होकर चौदह वर्ष वन में वास करके ही लौटूँगा।¹⁶

किसी भी व्यक्ति के अपशब्द बोलना भी एक सामाजिक असद्भाव है। सिंहनाद के द्वारा वाली के प्रति 'वाली पुनर्वानरः' कहे जाने पर राम उसके वचनों को रावण का तिरस्कार बतलाते हैं।¹⁷ यह अनुचित व्यवहार है इससे भी सामाजिक सद्भाव खंडित होता है। विद्रोह की संभावना बड़ जाती है। जैसे कि लक्ष्मण के विद्रोही स्वर- यदि पिता अनुचित प्रेम कर रहे हैं तो वे त्याज्य हैं और यदि कैकेयी का ऐसा कुचरित्र है तो वहां मेरी गति मंद है और यदि आर्य भरत सूर्यवंश को कलंकित कर रहे हैं तो प्रत्यंचा को मुखरित कर रही धनुष मेरे द्वारा उठायी जायेगी।¹⁸

सद् व्यसनतो कीर्तिकर होता है परन्तु असद् व्यसन से ग्रस्त व्यक्ति सद्भावना शून्य होकर व्यवहार करता है जिससे सामाजिक भावना भी बिखण्डित हो जाती है। सापत्न्य कलह भी आपसी सद्भाव के अभाव में ही होता है। महाभारत के मुसल पर्व में व्यसन के कारण ही लोग आपस में कट-मर जाते हैं। निर्व्यसनी सज्जन होते हैं और उनका प्रेमोन्मेष असीम होता है। 'सतां-प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमाविजयते।'¹⁹

प्रतीको की अवमानना से सामाजिक सद्भाव बिगड़ता है 'गरीयान् हिगुरुधनुर्भगापराधः।' सीता स्वयंवर के अवसर पर शिव-धनुष के खण्डित हो जाने पर परशुराम का क्रोध भड़क जाता है क्योंकि वह धनुष उनकी आस्था से जुड़ा हुआ था।²⁰ लोगों को प्रतीकों की अवमानना से बचना चाहिए।

सीता सखी सिन्दूरिका को स्वरचित वचन सुनाती है-मयूर के पत्र के समान छवि वाला एक तरफा प्रेम पर्याप्त नहीं। दोनों तरफ समभावी नीलकण्ठ के पंख के समान प्रेम प्रशंसनीय है।²¹ काम की आज्ञा अन्यो का तिरस्कार कर उद्भाषित होती है।²²

परिषदियमृषीणामेव वृद्धो न देन्द्रः कथमथ तदमुष्मिन् मैथिलीलालसोऽपि । निज भुजबल-प्यद्वीरवर्गे समाजे हठहरणविनोदं राक्षसेन्द्रः करोतु ।²³ यह ऋषि परिषद् और यह राजा भी वृद्ध है फिर सीताभिलाषी में रावण अपने बाहुबल से द्वीप वीर समाज में हठ पूर्वक हरण का विनाद करूं। भीष्म द्वारा काशी नरेश की पुत्रियों का हरण जैसे उदाहरण भी संस्कृत साहित्य में प्राप्त होते हैं। वर्तमान समाज में गन्धर्व, असुर आदि पद्धतियों के विवाह सहर्ष स्वीकार नहीं हैं। यदि इन पद्धतियों के विवाह होते हैं तो अधिकांश मामलों में सामाजिक सद्भाव बिगड़ता है।

बलात्कार - 'रघुकुल राजधानी परिस्थितौ रामलक्ष्मणावभिसरन्ती अनिच्छद्भ्यां ताभ्यां बलात्कार क्रमेण-शावस्था कृतेति कथं ज्येष्ठभ्रातुः कथयिष्यामि से स्पष्ट है कि बलात्कार जैसी घटनायें उचित नहीं हैं।

स्त्री भोग की वस्तु समझी जाती थी अतः वर्चस्व शाली व्यक्ति किसी की भी बहिन-बेटी का हरण कर लेते थे। अतः नट कहता है कि मैं भी विवाह करूंगा और उसके लिए चाहे समुद्र भी पार करना पड़े वह भी शक्य है।³² यह घटना हमारे समाज के एक घिनौने चेहरे को उजागर करती है। आज भी अधिकांश लड़कियों का अपहरण और क्रय-विक्रय होता है। आज राजघरानों की बहू बेटियों का अपहरण न के बराबर हो गया है किन्तु कमजोर वर्ग की कन्याओं की स्थिति युगों के बाद भी जस की तस लगता है प्रसिद्ध कथन 'हर नारी देवी की प्रतिमा और बच्चा-बच्चा राम हो' एक रटन्त बात मात्र हो गयी है।

पारिवारिकता भारतीय समाज में सद्भाव को कायम रखने का सशक्त माध्यम है। परिवार समाज की एक ऐसी संस्था होती है जिसमें लोग एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी बनकर रहते हैं। जिससे बड़े से बड़ा दुःख सहनीय हो जाता है और छोटी से छोटी खुशी विषद् हो जाती है। बालरामायण के सातवें अंक में समुद्रीय जीवों का दृश्य आता है जिसमें सभी जीव एक परिवार की तरह सद्भाव से रहते हैं।²⁴ परिजनों से मेलमिलाप संकट में ढाढस प्रदान करता है। जैसे कि रावण की मृत्यु के बाद अलका के द्वारा दुःख जताने पर लंका कहती है कि- कि पुनः स्नेहमयीं समासाद्य प्राणपरित्यनव्यवसायेभ्यो विरताऽस्मि।²⁵

वामदेव के द्वारा वन जाने से मना करने पर सीता पत्र के माध्यम से अपनी बात कहती है- राजा शिर झुकाकर जिनके पैर चूमते हैं उन पिताजी से मेरा क्या? इन्द्रसभा के सिंहासन के अर्द्धभाग में बैठने वाले श्वसुर से क्या? वे ही पर्वत मेरे देश हैं और वन भूमि मेरी प्रिय हैं जहां कौशल्या-पुत्र राम के चरणों की वन्दना करूँ और प्रसन्न होऊँ। इससे ज्ञात होता है कि यदि हमसे अपेक्षित कार्य हमारे अनुकूल नहीं है और हम उसे नहीं करना चाहते तो सबसे अच्छा तरीका है - सविनय अवज्ञा।²⁶ शील एक आदर्श गुण है। शीलवान लोगों के द्वारा ही समाज में सद्भावना स्थापित, संरक्षित, संवर्धित होती है। 'महतां निःसीमानश्चरित्र विभूतयः'²⁷ अर्थात् महापुरुषों की चरित्र सम्पत्ति निःसीम होती है।

किसी भी समाज की मजबूती के लिए लोगों में आत्मबोध होना आवश्यक है। जैसे कि बालरामायण में समुद्र से क्रोधित होकर बात करने के बाद राम समुद्र से कहते हैं कि- (सगौरवं) भगवन! रत्नाकर! नमस्ते नन्वहं प्रशाश्यो भगवतः सागरस्य तदेकवारमविनयोनयो वा क्षम्यतां रामस्य।²⁸

रिस्तों की कद्र-रावण दशरथ के प्रति-आप सम्बन्ध में ज्येष्ठ और ब्रह्मविद्या में श्रेष्ठ हो इसलिए क्षमा कर रहा हूँ।²⁹ मातृगौरव-माता पिता की अपेक्षा हजारों गुणा गौरव वाली होती है।³⁰ भ्रातृप्रेम- लक्ष्मण के राम के प्रति भ्रातृप्रेम और समर्पण को देखकर दशरथ कहते हैं कि- 'वत्स लक्ष्मण! त्वच्चरितेनामुनाविषीदति प्रसीदति च मे मनः।'³¹ दशम अंक में अभिषेक के समय राम के सभी भाई आपस में एक दूसरे से आदर-सत्कार के साथ मिलते हैं। मैत्री सामाजिक सद्भाव में वृद्धि करती है। जटायु दशरथ के लिए संदेश भिजवाता है कि-संपाति के

सहोदर, अरुण की संतान, आपके वशवर्ती तथा नखायुध धारी के लिए जो उचित था, जो रावण के साथ उचित था वह सब आपकी मैत्री के अनुगमन में मैंने किया ताकि आप लज्जित न हों। अब मैं न रहा।³² भाषागत मर्यादा-बालरामायण में संवादों की भाषा चुटीली है। परस्पर धुरविरोधी पात्रों के बीच भी भाषाई मर्यादा कायम है कितने भी आवेश में संवाद हो पर भाषा सभ्य ही रहती है। रावण परशुराम के मध्य हुए संवाद इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। गीर्वाणवन्द्यचरणस्तवचन्द्रमौलिराचार्यकं स भगवान् यदि नाकरिष्यत्।³³ जमदग्न्य-रावण के प्रति-भवानिव न सर्वः श्रुत्यर्थवीथोविदग्धः। यतस्तवैवगुरुवद्गुरुपुत्रे प्रवृत्तिः।³⁴

तृतीय अंक के आरम्भ में गृध मिथुन के वार्तालाप में दोहद का प्रसंग आता है। गर्भवती सीता को वन भ्रमण की दोहद की पूर्ति के माध्यम से पति-पत्नी एवं अन्य रिस्तों में सद्भाव स्थापित करती है।

तेनत्यक्तेनभुंजीथा का भाव परिजनों में ही नहीं अपितु सभी सामाजिकों में सद्भाव सीपित करता है। सुमन्त्र सीता के इसी भाव को उल्लेखित करते हुए कहते हैं फल या मूल के आस्वाद्य भाग को पहले पति को और उसके बाद देवर लक्ष्मण को देती है अन्त में जो कच्चा-पक्का अति नीरस स्वादहीन भाग स्वयं खाती है।³⁵ कौशल्या-पुत्रि सीते! कुत्र पुनर्महाराजराजजातया भूत्वा निसर्गदरिद्रगृहिणीत्वं त्वया शिक्षितम्।

जहां ज्ञानी जनों का सम्मान होता है वहां सद्भाव रहता है। ज्ञान से श्रेष्ठता होती है उग्र से नहीं। मतिः परिणमन्ती पुरुष मुदात्तयति न वयः।³⁶

आतिथ्य सत्कार भारतीय समाज एवं संस्कृति का एक महत्वपूर्ण विशेषण है। शतानन्द रावण के सत्कार हेतु कहता है कि- तदेहिदुर्वत्तमपि मुनिपुत्रमुचतेनसंभावयाव' आईये मुनि विश्रवापुत्र का स्वागत करें।³⁷ शतानन्द-आप ऋषिपुत्र तथा दिव्य पुरुष हैं तो आपका सत्कार किस प्रकार किया जाये-श्रोत्रियों के लिए वृषभ या बकरा मारा जाता है। दिव्य व्यक्ति के लिए सुवा के साथ सुगन्धित द्रव्य दिये जाते हैं।³⁸

आचरण ही आशीर्वाद-रानियों द्वारा राम की कुशलता का समाचार पूछने पर सुमन्त्र कहते हैं कि 'कथं न नाम कुशलं येषां चरितानि जनानामाषिषो भवन्ति'। यहां समझने की मूल बात यह है कि किसी का आचरण ही अनुकरणीय होता है और अनुकर्ता का हितकारी होता है। 'रुदन्त्यपि किमपि जानकी समाधाय मधुरस्य हि जनस्य प्रकृतिरेषातद्यथाकथमपरिमयति।' सरल व्यक्ति स्वयं कष्ट में होते हुए भी दूसरों को खुश करने में लगा रहता है।³⁹ करुणा सद्भाव के लिए अति आवश्यक गुण है।⁴⁰

रावण की मृत्यु के बाद लंका मानव रूप में आती है और कहती है कि 'परिपालना हि भृत्यान् स्वामिनः स्मारयन्ति न गुणग्रामः'⁴¹ सेवकों का हित चिंतन सद्भाव में सहायक है।

मनोरंजन-सीतास्वयंवर के अवसर पर भरताचार्य के द्वारा रचित नाटक- 'भरताचार्येण सीतास्वयंवर चरित संबद्धं नूतनं नाटकमुपनिबद्धं सुरसदसिप्रयुक्तं च।' विवाह आदि के अवसर पर लोगों के मनोरंजन से सद्भाव व आनंद में वृद्धि हो जाती है।

बाल रामायण-10.60 से पूर्व सीता तपस्वियों की जीवन चर्या का उल्लेख करती हुई कहती हैं कि- हे आर्यपुत्र हवन के लिए अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाले, व्याख्यायमान कथाओं में दत्तचित्त, विविध वैदिक शाखाओं का पाठ करने वाले, धर्मशास्त्र का वर्णन करने वाले, योगाचार की शिक्षा देने वाले, अतिथियों की सेवा करने वाले, पर्णशालाओं में आश्रित तपस्वी हमारे जैसे लोगों को भी संसार के बंधनों से छुड़ाने वाले होते हैं। इतना ही नहीं राम अपने विरोधी रावण को नीतिगत प्रस्ताव देते हैं कि- हे रावण! सीता को दीजिए। राम स्वयं याचना कर रहे हैं। आपका यह कौन सा मतिविभ्रम है। नीति का स्मरण कीजिए। अब भी कुछ नहीं गया।⁴³

रावण की मृत्यु के बाद राम के साथ राक्षस भी अयोध्या जाते हैं। इससे पता चलता है कि विभीषणादि जो राम के विरोधी नहीं थे वे राम के मित्र हो जाते हैं और उसके बाद भी लंका में राक्षसराज

विभीषण राक्षसों के साथ सुख से रहते हैं। इस बात से यही संदेश प्राप्त होता है कि संप्रदाय के आधार पर न कोई दुष्ट होता है न कोई सज्जन। विभीषण राक्षस संप्रदाय से होते हुए भी सद्गुण सम्पन्न है और राम का मित्र है। बालि और सुग्रीव सगे भाई होते हुए भी एक विरोधी है एक मित्र है।

समय-समय पर साथियों अधीनस्तों को प्रोत्साहित करते रहने से उनमें अपनापन बना रहता है तथा नाराजगी तथा विद्रोह की भावना नहीं पनपती। यह एक ऐसा व्यवहार है जिसमें बिना कुछ खर्च किये किसी भी व्यक्ति के कुशलता से कार्य सम्पादन में वृद्धि हो जाती है। जैसे राम:-अहा! बानरों का श्रेष्ठ पराक्रम धन्य है और महासागर की महिमा भी धन्य है कि ये तो पहाड़ उखाड़ रहे हैं और यह भी ऐसे महान् भार में अपना हाथ दे रहा है।⁴⁴ ऐसी संवेदनशीलता सद्फलित होती है। बाल रामायण में माया मय सोचता है कि काव्य में कविगण और नीति में मंत्रीगण दूसरे के दुःख से दुःखी तथा दूसरे के सुख से सुखी होते हैं।⁴⁵ इससे स्पष्ट होता है कि संवेदनशीलता प्रत्येक समाज के लिए एक आवश्यक तत्व है जो समाज की जीवन्त बनाये रखता है।

आपसी मंत्रणा करते रहने से लोगों में सन्देश जाग्रत नहीं होता और आपसी सद्भाव बना रहता है। मंत्रणा बिना तो राजा भी सुख से नहीं रह सकता। तो साधारण सामाजिकों की बात ही क्या है।⁴⁶ प्रतिचिकीर्षा सामाजिक सद्भावना को मिटा देती है। मनमानी और आपसी बदले की भावना से लोग दुःख से जीते हैं।⁴⁷

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बालरामायण में ऐसे सामाजिक सन्दर्भों की भरमार है जो आज भी सामाजिक सद्भाव को स्थापित करने में अहम हैं हर कोई किसी न किसी विद्या में प्रवीण होता है कथन हर एक व्यक्ति को गौरवान्वित होने का अवसर प्रदान करता है। तथा लोगों को किसी के तिरस्कार करने से रोकता है। सूत्रधार द्वारा सुशिक्षित वेदी के लिए सुशिक्षित वर की खोज स्त्री गौरव को बढ़ाने की प्रेरणा है। नाक काटे जाने पर मुँह छुपाने पर मजबूर सूर्यणखा का दृश्य समाज को अपने अतीत को दोहराने से रोकता है। भृंगिरिति का कथन कि इन्द्र व कुवेर भी बैल वाहन कपाली शिव की स्तुति करते हैं इस बात का संकेत है कि पद व दौलत की अपेक्षा सामाजिक स्वीकृतता ही व्यक्ति की श्रेष्ठता को निर्धारित करती है। शिवधनुष के खण्डित होने पर परशुराम के कोप का वर्णन इस बात के लिए सावधान करता है कि कोई किसी के आस्था के प्रतीकों के साथ छेड़छाड़ न करे। कैकेयी की हठधर्मिता के दुष्परिणाम हठधर्मिता से बचने की शिक्षा देते हैं। सिंहनाद द्वारा बाली को पुनर्वावरः कहने पर राम के द्वारा रावण का तिरस्कार करार देना सिखाता है कि हम किसी का भी तिरस्कार न करें। लंका विजयी राम के अयोध्या राज्याभिषेक के अवसर पर विभीषण आदि राक्षसों का जाना इस बात का प्रमाण है कि सम्पूर्ण राक्षस जाति दुष्टन नहीं थी। राम-रावण का संघर्ष सत्ता का संघर्ष था। युद्ध से ठीक पहले तक राम द्वारा रावण को नीतिगत प्रस्ताव इस बात का संकेत है कि जहाँ तक हो सके युद्ध टाले जाने चाहिए। 'सतांप्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमाविजयते कथन' लोगों को व्यसन से दूर रहने की अपील करता है। राम द्वारा वानरों की प्रशंसा संदेश है कि अपने अधीनस्तों की समय-समय पर प्रशंसा करना उनके कार्यकौशल को बढ़ाने वाला होता है। सातवें अंक में कर्पूरचण्ड का कथन कि मंत्रणा राजा और प्रजा दोनों के लिए आवश्यक है। यह सामाजिकों में असद्भाव पैदा नहीं होने देती। पांचवे अंक में मायामय की सोच कि 'काव्य में कवि तथा नीति में मंत्री दूसरे सामाजिक के सुख-दुःख से सुखी-दुःखी होते हैं। सामाजिक संवेदनशीलता को व्यक्ता करता है। किसी सामाजिक का प्रेम मयूर पंखवत् एक तरफा न होकर नीलकण्ठपंखवत् उभय पक्षीय हो। एक पक्षीय प्रेम में स्त्री हरण जहाँ स्त्री के आत्म गौरव को रौंद डालता है तो वहीं अपहरता सामाजिक प्रतिष्ठा खोकर वहिष्कृत हो जाता है। वनगमन के अवसर पर सीता को घर पर ही रुकने के लिए कहे जाने पर सीता विनम्रतापूर्वक पति के साथ रहने की बात कह देती है। इस शील से सीता अपनी बात भी कह देती है और

परिवार के सद्भाव को भी नहीं टूटने देती। समुद्र सेतु निर्माण के अवसर पर समुद्र का आत्मबोध देखने ही बनता है। विरोधी रावण भी दशरथ की कद्र करता है। सम्पूर्ण नाटक में मातृ प्रेम, भ्रातृप्रेम, मैत्री, जीवन साथी आदि रिस्तों को वेहतर तरीके से निभाया जाता है। विद्वानों, अतिथियों का सत्कार जगह-जगह किया गया है। आचरण से उपदेश, परसुख का भाव, करुणा, आश्रितों की मान-प्रतिष्ठा आदि भी यथावसर प्राप्त होती है। पुरुषार्थ चतुष्टय भी जगह-जगहा वर्णित हैं। इस रूपक के दर्शन से रसिकरसान्वित होने के साथ-साथ एक अच्छे सामाजिक व्यक्ति, आदर्श नागरिक होने की शिक्षा आत्मसात करता है।

संस्कृत विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470004

सन्दर्भ -

1. बालरामायण-1.10
2. वाल्मीकिरामायण-1.1.2-5
3. रघुवंश-1.2
4. 'इहभणितिगुणोविद्यते' बालरामायण-1.12
5. बालरामायण- 1.6 के बाद सूत्रधार का कथन।
6. 'नारीपरिभवं सोढुंदाक्षिणात्याशिक्षिताः।' बालरामायण-1.3
7. बालरामायण-1.2
8. बालरामायण-5.75 से पूर्व।
9. बलात्कारक्रमेण-शावस्था —तेति.... बाल.रा.-5.76 के बाद शूर्पणखा कथन।
10. हितोपदेश, प्रस्तावना-6
11. बालरामायण-3.5 से पूर्व चित्र शिखण्ड का कथन।
12. बालरामायण- 2.4
13. बालरामायण- 4.51-58
14. बालरामायण- 1.30
15. बालरामायण- 6.15
16. बालरामायण- 6.11
17. बालरामायण- 7.90
18. बालरामायण- 6.17
19. बालरामायण-1.8
20. बालरामायण-4.57 से पूर्व।
21. बालरामायण- 5.14
22. बालरामायण- 6.4
23. बालरामायण- 1.60
24. बालरामायण- 7.45
25. बालरामायण- 10.1 के बाद लंका का कथन।
26. बालरामायण- 6.19
27. बालरामायण-7.40
28. बालरामायण-7.36 के बाद राम का कथन।
29. बालरामायण-1.59 के बाद रावण का कथन

30. बालरामायण-4.30 दशरथ का कथन ।
31. बालरामायण- 6.22 से पूर्वदशरथ का कथन ।
32. बालरामायण-6.71
33. बालरामायण-2.36
34. बालरामायण-2.60
35. बालरामायण-6.41
36. बालरामायण-9.21 के बाद पुरन्दर का कथन ।
37. बालरामायण-1.37 के बाद शतानन्द का कथन ।
38. बालरामायण-1.37 के बाद शतानन्द का कथन ।
39. बालरामायण-4.47 के बाद राम का कथन ।
40. बालरामायण-8.22 के बाद रावण का कथन ।
41. बालरामायण-10.1 से पूर्वलंका का कथन ।
42. बालरामायण-3.9 के बाद चित्रशिखण्ड का कथन ।
43. बालरामायण-9.19
44. बालरामायण-7.47 के बाद राम का कथन ।
45. बालरामायण- 5.3
46. बालरामायण-7.01 के बाद कपूरचण्ड का कथन ।
47. बालरामायण-1.25

हजारीप्रसाद द्विवेदी का व्याकरणिक-चिन्तन

चन्दन तिवारी

हजारीप्रसाद द्विवेदी की सृजनात्मक-वैचारिक क्षमता का एक महत्वपूर्ण पक्ष उनका भाषा-चिन्तन है। आचार्य द्विवेदी भाषा एवं व्याकरण की विभिन्न अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों पर विचार करने वाले एक महत्वपूर्ण भाषा-चिन्तक हैं। यद्यपि द्विवेदी जी ने पेशेवर भाषा वैज्ञानिकों की तरह भाषा एवं व्याकरण के विभिन्न पक्षों का क्रमबद्ध और सिलसिलेवार तरीके से विवेचन-विश्लेषण नहीं किया है। लेकिन, इसके बावजूद उनका भाषा-चिन्तन अत्यन्त गम्भीर और व्यापक है। आचार्य द्विवेदी ने भाषा-चिन्तन और व्याकरण की ऐसी अनेक नवीन प्रवृत्तियों और स्थापनाओं की तरफ हमारा ध्यान आकृष्ट कराया है, जिनकी तरफ मान्य भाषाविदों का ध्यान प्रायः अभी तक नहीं पहुँच सका है। मसलन ऐतिहासिक सन्दर्भों में हिन्दी भाषा का विवेचन, भाषा-विशेष की अन्तर्निहित विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए व्याकरण-लेखन की उपयुक्त पद्धति और उसकी प्रक्रिया की खोज का प्रयास, व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों की महत्ता को स्पष्ट करना आदि। इस सन्दर्भ में ही आचार्य द्विवेदी के व्याकरणिक चिन्तन को जानना-समझना उचित होगा। व्याकरण के सन्दर्भ में द्विवेदी जी के विचार जानने के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं –

1. द्विवेदी जी द्वारा लिखित ‘हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण’।
2. ‘भाषा, साहित्य और देश’ नामक पुस्तक में संकलित ‘हिन्दी व्याकरण की समस्या’, संस्कृत में ‘कारक’ शब्द का प्रयोग’ नामक आलेख।

‘हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण’ वस्तुतः ‘नाम-विचार’ से सम्बन्धित ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने हिन्दी के नाम शब्दों (प्रातिपदिक, सर्वनाम, विशेषण) और उसकी व्याकरणिक कोटियों (लिंग, वचन, कारक) के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया है। व्याकरणिक कोटियों, विशेषतः कारक के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने अपने आलेख ‘संस्कृत में ‘कारक’ शब्द का प्रयोग’ में भी विचार किया है। वहीं, ‘भाषा, साहित्य और देश’ में संकलित ‘हिन्दी व्याकरण की समस्या’ नामक अपने एक अन्य आलेख में उन्होंने भाषा और व्याकरण से सम्बन्धित कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर रोशनी डालने का कार्य किया है।

व्याकरण-लेखन की पद्धति पर विचार

आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी व्याकरण ने तथ्यों को वर्गीकृत करने की प्रचलित परम्परा के स्थान पर हिन्दी व्याकरण की चिन्तन-पद्धति और लेखन-पद्धति जैसे कुछ बुनियादी सवालों पर ध्यान केन्द्रित किया है। व्याकरण-लेखन की पद्धतियों की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि आधुनिक व्याकरण-लेखन की सामान्यतः दो पद्धतियाँ हैं –

1. शब्द-रूप से अर्थ विचार तक/शब्दरूप-व्यापार-विचार।
2. अर्थ-विचार से शब्द-विचार तक-विचार-व्यापार-शब्दरूप।

द्विवेदी जी का विचार है कि अब तक लिखे गये हिन्दी व्याकरण सामान्यतः ‘शब्द-रूप से अर्थ विचार’ की पद्धति पर लिखे गये हैं, जिसमें शब्द, ध्वनि, सन्धि की चर्चा के पश्चात् शब्द-रूप का विवेचन किया जाता है और अन्त में वाक्य-विचार की चर्चा की जाती है। यह श्रोता प्रधान दृष्टि है। भाषा के उद्देश्य की दृष्टि से यह पद्धति ग्राह्य है, क्योंकि “भाषा वक्ता के मन की बात श्रोता के मन में पहुँचाती है।”¹ वक्ता को दैवी समझने के कारण ही अब तक श्रोता प्रधान दृष्टि का प्रमुखता से व्यवहार होता रहा है। लेकिन, नये युग में ‘दैवी वाक्’ की धारणा समाप्त होती जा रही है और भाषा का विचार वक्ता की दृष्टि से किया जाने लगा है अर्थात् “पहले वक्ता के मन में विचार आता है, फिर वह बोलना व्यापार शुरू करता है और अन्त में शब्दों के व्याकरणिक रूप को बोलता है।”² व्याकरण के ‘वक्ता-सापेक्ष’ की दृष्टि से मूल्यांकन किये जाने वाले इस युग में अधिकांश भाषाविद् (फर्डिनेण्डब्रूनोट) और वैयाकरण पुरानी पद्धति को अनावश्यक मानने लगे हैं, लेकिन द्विवेदी जी पुरानी पद्धति को पूरी तरह उपेक्षणीय नहीं मानते हैं वल्कि उन्होंने आधुनिक और प्राचीन पद्धतियों के समन्वय की बात कही है।

ऐतिहासिक सन्दर्भों में भाषा और व्याकरण का मूल्यांकन

वैयाकरण भाषा को स्थिर मानकर उसका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यद्यपि व्याकरण के अध्ययन और विश्लेषण की यह पद्धति अवश्य उपयोगी है लेकिन, भाषा के सम्यक् अध्ययन हेतु उसके वर्तमान स्वरूप का अध्ययन काफी नहीं है। विवरणात्मक भाषाविज्ञान केवल काल-तटस्थ चित्र प्रस्तुत करता है, जबकि भाषा एक ऐतिहासिक-सामाजिक इकाई है “भाषा मनुष्य को जगन्नियन्ता की दी हुई इच्छा-शक्ति प्रसाद है। वह गतिशील तत्त्व है। वह अतीत का संसार ढोकर ले आती है और भविष्य की सम्भावनाओं की ओर बढ़ती जाती है। वह मनुष्य के बताये नियमों में नहीं अटती।”³ इसीलिए द्विवेदी जी का भाषाविदों और वैयाकरणों को स्पष्ट सुझाव है कि भाषा एवं व्याकरण का अध्ययन ऐतिहासिक-सामाजिक सन्दर्भों में होना चाहिए। भाषा के काल-सापेक्ष विकासात्मक अध्ययन से ही भाषा सम्बन्धी अनेक जटिलताओं और अनियमितताओं का समाधान सम्भव है “भाषा का अध्ययन यथासम्भव ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर से होना चाहिए।..... नहीं तो हम रूढ़ प्रयोगों और मुहावरों का कुछ अता-पता नहीं पा सकेंगे और जिसे भाषा की अनियमितता कहा जाता है उसका रहस्य नहीं समझ सकेंगे।”⁴ इतिहास को भाषा और व्याकरण के अध्ययन का आधार बनाने के पीछे द्विवेदी जी का उद्देश्य यह है कि भाषा और व्याकरण को अधिक-से-अधिक तर्कसम्मत वैज्ञानिक आधार दिया जा सके। यही कारण है कि उन्होंने ‘हिन्दी भाषा का वृहत् ऐतिहासिक व्याकरण’ नामक अपने ग्रंथ में हिन्दी भाषा के व्याकरणिक ढाँचे का विवेचन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया है।

भाषा की अन्तर्निहित व्यवस्था के सन्दर्भ में हिन्दी व्याकरण का मूल्यांकन

हिन्दी व्याकरण को तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार देने के क्रम में एक तरफ द्विवेदी जी ऐतिहासिक सन्दर्भों में हिन्दी भाषा के अध्ययन और मूल्यांकन करने का समर्थन करते हैं, तो दूसरी तरफ उन्होंने भाषा की स्वाभाविकता और उसकी अन्तर्निहित व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए हिन्दी को संस्कृत व अंग्रेजी व्याकरणों के प्रभाव से यथासम्भव मुक्त होने का सुझाव दिया है। उनका विचार है कि हिन्दी व्याकरण को संस्कृत और अंग्रेजी जैसी दूसरी भाषाओं के नियमों और मानदंडों पर विवेचित-विश्लेषित करना का यह नतीजा हुआ है कि हिन्दी व्याकरण में कई तरह की विसंगतियाँ उभर आयी हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। “पुराने जमाने के अंग्रेजी व्याकरणों का कुछ प्रभाव हमारे ऊपर ऐसा पड़ा है जो हर समय अच्छा नहीं लगता। स्वयं अंग्रेजी के वैयाकरण अब नये सिरे से सोचने लगे हैं पर हमारे विद्वान्

अभी उनके पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं हुए। कभी-कभी तो अंग्रेजी शब्दों के आक्षरिक अनुवाद अत्यन्त भ्रामक होते हैं। एक बहुत बड़े प्रोफेसर फर्स्ट परसन का अनुवाद प्रथम पुरुष करते हैं जबकि हमारी परम्परा में प्रथम पुरुष उसको कहते हैं जिसे अंग्रेजी में थर्ड परसन कहा जाता है। जिस प्रोफेसर साहब की बात कही जा रही है वे थर्ड परसन का अनुवाद तृतीय पुरुष करते हैं। यदि अंग्रेजी न जानने वाला हिन्दी पाठक इस प्रकार के शब्दों को देखेगा तो हैरान होकर आसमान की ओर ताकता रह जाएगा। अंग्रेजी के पुराने व्याकरणों में लिखा गया है कि विशेषण के विशेषण को 'एडवर्ब' कहा जाता है। उक्त विद्वान् एडवर्ब के लिए 'क्रिया विशेषण' शब्द का प्रयोग करते हैं और विशेषण के विशेषण को भी क्रिया विशेषण कहते हैं। विशेषण का विशेषण 'प्रविशेषण' कह लिया जाए, वह क्रिया-विशेषण क्यों कहा जाएगा?"⁵ हिन्दी व्याकरण को इस तरह की भ्रामक अवधारणाओं से मुक्त करने हेतु द्विवेदी जी हिन्दी के व्याकरणिक चिन्तन को अधिक-से-अधिक स्वतंत्र और स्वाधीन बनाने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। यद्यपि इस सन्दर्भ में वे हिन्दी व्याकरण को अंग्रेजी व्याकरण एवं संस्कृत व्याकरण की पद्धति से लाभ उठाने में किसी तरह की कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं करते हैं। उनका स्पष्ट कहना है कि "हिन्दी व्याकरण को आधुनिक और प्राचीन दोनों परम्पराओं से उचित लाभ उठाना चाहिए पर दोनों में से किसी का अन्धानुसरण नहीं करना चाहिए।"⁶

व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का महत्त्व

हिन्दी व्याकरण में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को लेकर व्याप्त असंगतियों की चर्चा के क्रम में ही आचार्य द्विवेदी ने काल्पनिक पारिभाषिक शब्दों की महत्ता से भी परिचित कराया है। उनका कहना है कि पारिभाषिक शब्द और व्याकरणिक संज्ञाएँ अर्थ-निरपेक्ष होती हैं। वे अर्थ-बन्धन से मुक्त होते हैं। इस सन्दर्भ में वे उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब हम 'सरकार' को स्त्रीलिंग कहते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि 'सरकार' किसी औरत का नाम है। वस्तुतः स्त्रीलिंग एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे व्याकरणिक रूपों का बोध होता है। काल्पनिक नामों की महत्ता स्वीकारते हुए द्विवेदी जी उसे इतिहास सम्मत भी सिद्ध करते हैं "पाणिनि ने खूब सोच-समझकर सुबन्त और तिङन्त रूपों के लिए काल्पनिक नामों का व्यवहार किया था। पाणिनि ने अपने से पहले के आचार्यों द्वारा दिए हुए अद्यतनी, भविष्यती आदि सार्थक नामों को छोड़कर काल्पनिक नामों (लट्, लिट्, लङ्, लुङ् आदि) का व्यवहार किया है।"⁷

कारक सम्बन्धी विचार

वाक्य की संरचना में 'कारक' वह साधन हैं, जिनसे क्रिया का निष्पादन होता है। अर्थात् 'कारक' क्रिया की सिद्धि के अन्यतम साधन हैं। इनके अभाव में क्रिया-निष्पत्ति असम्भव है। 'कारक' शब्द की व्युत्पत्ति 'कृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है करनेवाला अर्थात् इस दृष्टि से भी 'कारक' का अर्थ हुआ क्रिया का जनक। अतः जो क्रिया के निष्पादक हैं वही कारक हैं। पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों ने तो 'करोतीति कारकम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा भी है कि कारक, क्रिया-निष्पादक तत्त्व हैं। अर्थात् कारक का क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध होता है।

वाक्य में क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ चार तरह की होती हैं क्रिया को करने वाला (कर्ता), जिस पर क्रिया का फल पड़े (कर्म), जिसकी सहायता से क्रिया सम्पन्न हो (करण), जहाँ क्रिया-व्यापार घटित हो (अधिकरण)। उदाहरण के लिए 'सीता कलम से छत पर पत्र लिखती है' में 'सीता' क्रिया को करनेवाली (कर्ता), 'कलम' क्रिया को सम्पन्न करने वाला साधन (कारण), 'छत' क्रिया-व्यापार को घटित करने वाला स्थान (अधिकरण) और लिखने की क्रिया का फल 'पत्र' (कर्म) पर पड़ रहा है। यहाँ पत्र किसके लिए लिखा जा रहा है (सम्प्रदान) या पत्र लिखने के साधन कलम, कागज आदि कहाँ से लाये गये हैं (अपादान) जैसे

सवाल गौण हैं। इसीलिए कई वैयाकरण सम्प्रदान और अपादान को कारक में शामिल नहीं करते हैं। उनका मानना है कि क्रिया-सिद्धि में सम्प्रदान और अपादान का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। अतः मूल कारक चार ही माने गये हैं - कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण। इस सन्दर्भ में द्विवेदी जी का एक महत्वपूर्ण मत यह भी है कि कारकों में स्वतंत्र कर्तृत्व होता है अर्थात् वक्ता के आशय के अनुसार, कारकों में कर्ता रूप में उपस्थित होने की क्षमता होती है। जैसे 'देवदत्त आग से स्थाली में चावल पका रहा है' वाक्य में क्रिया है 'पकाना'। यहाँ पकाने की क्रिया में देवदत्त कर्त्ता है, आग करण है, स्थाली अधिकरण है और चावल कर्म है। लेकिन इस क्रिया-व्यापार में आग, स्थाली और चावल भी स्वतंत्र रूप से कर्त्ता की भूमिका में हैं। जैसे आग चावल को ताप देकर पका रही है, स्थाली में चावल पक रहा है, चावल में उबलकर पकने की क्रिया हो रही है। इस तरह, क्रिया के घटित होने तक आग, स्थाली और चावल में भी अपना स्वतंत्र कृतत्व है। इसीलिए द्विवेदी जी का विचार है कि आग, स्थाली और चावल भी कर्ता की विवक्षानुसार कर्ता रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। अब यदि 'कहने वाला आग पर जोर देना चाहे तो कह सकता है कि आग चावल पकाती है, 'स्थाली' पर जोर देना चाहे तो कह सकता है 'स्थाली' चावल पका रही है, चावल पर जोर देना चाहे तो कह सकता है चावल पक रहा है।'।⁸

विभिन्न कारक और उसके सन्दर्भ में द्विवेदी जी के विचार

कर्ता द्विवेदी जी के अनुसार 'कर्ता, धातु द्वारा कहे गये व्यापार का आश्रय होता है।'।⁹ जैसे 'देवदत्त जाता है' में 'जा' धातु द्वारा हो रही क्रिया 'जाने' (व्यापार) का आश्रय 'देवदत्त' है। अतः देवदत्त कर्ता है। यद्यपि संस्कृत भाषा में कर्त्ता कारक के तीन प्रकार (उक्त/अभिहित कर्ता, अनुक्त/अनभिहित कर्ता, कर्म कर्ता) मिलते हैं, लेकिन हिन्दी भाषा की अपनी कुछ खास विशिष्टताओं के कारण 'तिर्यक् अनुक्त रूप' का भी एक विशिष्ट भेद देखने को मिलता है। इस कारण द्विवेदी जी का विचार है कि हिन्दी में कर्ता-कारक के चार भेद होते हैं -

1. उक्त/अभिहित कर्ता उक्त कर्ता में क्रिया के लिंग और वचन कर्ता के अनुसार निर्धारित होते हैं। जैसे 'राम विद्यालय जाता है' में 'जाने' की क्रिया का लिंग और वचन कर्त्ता से निर्धारित हो रहा है। यदि 'राम' की जगह कर्ता 'सीता' या लड़के हो जाए तो क्रिया 'जाता' से क्रमशः 'जाती' और 'जाते' हैं में बदल जाएगी। यह पहली विभक्ति का रूप है, जिसमें परसर्ग (ने, को, में, से आदि) का प्रयोग नहीं होता है।
2. अनुक्त कर्ता जब कर्ता के साथ ने, को, में, से आदि परसर्गों का प्रयोग होता है, तब उसे 'अनुक्त कर्ता' कहते हैं। इसके दो भेद हैं -
क. ऋजु अनुक्त/अनभिहित कर्ता भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के अर्थ में यह कारक व्यवहृत होता है। इसमें कर्ता के साथ 'ने' परसर्ग का प्रयोग होता है 'राम ने रोटी खाई'। इसमें 'खाने' की क्रिया का लिंग-निर्धारण कर्ता के द्वारा नहीं; कर्म 'रोटी' के द्वारा हो रहा है। अर्थात् ऋजु अनुक्त कर्ता में क्रिया के लिंग, वचन कर्म के अनुसार निर्धारित होते हैं।
ख. तिर्यक् अनुक्त : अनभिहित कर्ता इसमें भी क्रिया के लिंग, वचन कर्म के अनुसार होते हैं, लेकिन यहाँ कर्ता के साथ 'से' या 'के द्वारा' का प्रयोग होता है 'राम से रोटी खायी गयी'।
3. कर्म कर्ता जब कर्म कर्ता के समान व्यवहृत होता है 'रोटी पक रही है'।

कर्म - कर्ता के द्वारा जो निष्पादित होता है, वही कर्म है। द्विवेदी जी के अनुसार संस्कृत में 'ईप्सितितम' के अर्थ को लेकर बहुत विवाद है कि इसका अर्थ क्या हो - 'क्रिया प्राप्य' या 'इष्टतम' य क्योंकि कई बार क्रिया का कर्म अनीप्सित भी होता है 'वह जहर खाता है' में खाने की 'क्रिया' में 'जहर' (कर्म) अनीप्सित है। द्विवेदी जी क्रिया का अर्थइष्टतम बताते हैं, न कि ईप्सितितम। कर्म-कारक के सन्दर्भ में द्विवेदी जी ने कर्म के प्रकार की भी चर्चा की है। उनके अनुसार कर्म के तीन भेद हैं -

1. निर्वर्त्य कर्म जहाँ किसी नई वस्तु का निर्माण हो रहा हो। जैसे 'कुम्हार घड़ा बनाता है'।
2. विकार्य कर्म जहाँ कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु में रूपान्तरित हो जाए। जैसे 'सोने से कुण्डल बना रहा है'।
3. प्राप्य कर्म प्राप्य कर्म में न तो किसी वस्तु का निर्माण होता है और न ही किसी वस्तु का किसी दूसरी वस्तु में रूपान्तर होता है। मात्र क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण वह कर्म है। जैसे 'वह सूर्य को देखता है'।

द्विवेदी जी के अनुसार, हिन्दी में कर्म के दो भेद हैं उक्त कर्म ('राम से रोटी खायी गयी' - परसर्गयुक्त, 'राम रोटी खाता है' - परसर्गहीन) अनुक्त कर्म ('राम ने फल खाया' परसर्गयुक्त, 'राम फल खाता है' - परसर्गहीन)

करण - पाणिनि के अनुसार "साधकतमं करणम्" अर्थात् क्रिया-सिद्धि में कर्ता के सबसे प्रबल या अतिशय साधक को करण कहते हैं। पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों ने 'साधकतम' पद को स्पष्ट करते हुए कहा कि जिसकी सहायता से क्रिया की सिद्धि तुरन्त हो जाए, उसे करण कहते हैं। जैसे 'वह कुल्हाड़ी से पेड़ काटता है' में 'कुल्हाड़ी' के 'पेड़' से संयोग होते ही काटने की क्रिया शुरू हो जाती है। इसलिए 'कुल्हाड़ी' करण है। इस सन्दर्भ में, द्विवेदी जी का मत पाणिनि और उनके परवर्ती वैयाकरणों की तरह है। उनके अनुसार, करण कर्ता का अतिशय साधक होता है, जिसकी सहायता से क्रिया की तत्क्षण सिद्धि हो जाती है। करण-कारक के सन्दर्भ में द्विवेदी जी की दो महत्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं -

1. वक्ता की इच्छा के अनुसार, करण और अधिकरण एक-दूसरे में प्रतिस्थापित हो जाते हैं। जैसे 'स्थाली में पकाना है' (अधिकरण) को वक्ता की इच्छानुसार 'स्थाली से पका रहा है' (करण) भी कहा जा सकता है।
2. क्रिया की सिद्धि में यदि एक-से अधिक साधक होने पर सभी साधक अतिशय साधक की श्रेणी में आयेंगे। जैसे 'यह दीवाल ईंट, बालू और सीमेंट से बनी है' में ईंट, बालू और सीमेंट तीनों अतिशय साधक हैं।

अधिकरण - पाणिनि के अनुसार क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं ('आधारोधिकरणम्')। लेकिन, क्रिया के मुख्य आधार कर्त्ता और कर्म हैं। इस सम्बन्ध में वैयाकरणों का मत है कि कर्त्ता और कर्म के जो आधार होते हैं, उसे क्रिया का भी आधार कहा जा सकता है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार "अधिकरण कर्म और कर्म की क्रिया को धारण करता है और इस प्रकार का धारण करना ही क्रिया की सिद्धि का सहायक होता है अर्थात् 'आधार' शब्द का मतलब कर्त्ता व कर्म के व्यापार को धारण करने वाला है।"¹⁰ जैसे 'सोहन चारपाई पर बैठा है' में 'चारपाई', कर्त्ता 'सोहन' का आधार है, लेकिन कर्त्ता का आधार होने के कारण वह क्रिया का भी आधार है। द्विवेदी जी इसे क्रियासिद्धि में प्रत्यक्ष साधक नहीं मानते हैं "अधिकरण शब्द कदाचित् यह बताता है कि यह करण की तुलना में कुछ कम साक्षात् रूप से क्रिया की सिद्धि में सहायक होता है। यह 'साधकतम' नहीं है उससे कुछ दूर (अधि) है परन्तु क्रियासिद्धि में वह सहायक है अवश्य।"¹¹

सम्प्रदान - द्विवेदी जी के अनुसार सम्प्रदान में 'दान' का भाव है, इसीलिए पाणिनि के परवर्ती वैयाकरणों का मानना था कि सम्प्रदान में 'दान' का भाव होना चाहिए अर्थात् वहीं सम्प्रदान कारक होता है, जहाँ मनुष्य किसी वस्तु का पूर्णतः त्याग कर दे। लेकिन, भर्तृहरि जैसे वैयाकरणों को यह मत ग्राह्य नहीं हुआ। उन्होंने सम्प्रदान का अर्थ-विस्तार करते हुए इसके तीन भेद माने -

1. अनिराकर्ता वह जो दाता से न प्रार्थना करता है, न उसे प्रेरित करता है और न अनुमोदन करता है 'सूर्य को अर्घ्य देता है'।
2. प्रेरयिता वह जो दान के लिए दाता को प्रेरित करता है 'जजमान पुरोहित को गाय देता है'।
3. अनुमना वह जो दान के लिए दाता को प्रेरित नहीं, लेकिन अनुमोदन करता है 'शिष्य उपाध्याय को वस्त्र देता है'। द्विवेदी जी भी संप्रदान के यही तीन अर्थ मानते हैं।

अपादान पाणिनि के अनुसार “ध्रुवमपायेपादानम्” अर्थात् दो वस्तुओं के विश्लेष (अलग) होने पर ध्रुव (स्थिर) वस्तु को अपादान कहते हैं। जैसे ‘लड़के विद्यालय से आते हैं’, में ‘लड़कों’ का ‘विद्यालय’ से विच्छेद्य हो रहा है। इस क्रिया में ‘विद्यालय’ स्थिर वस्तु है। अतः यहाँ ‘विद्यालय’ अपादान कारक का उदाहरण है। अलगाव केवल स्थूल (‘इन्द्रियग्राह्य’) ही नहीं होता, सूक्ष्म या मानसिक (‘बुद्धिग्राह्य’) भी होता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार “यह जरूरी नहीं है कि हर वस्तु वास्तविक व इन्द्रियग्राह्य ही हो। बौद्ध या बुद्धिग्राह्य वस्तु भी अपादान हो सकती है।”¹² जैसे— ‘राम अधर्म से डरता है’ वाक्य में ‘राम’ का क्रमशः ‘अधर्म’ से उत्पन्न अलगाव मानसिक/सूक्ष्म स्तर का है। अतः मानसिक/सूक्ष्म/बुद्धिग्राह्य वस्तुओं में भी अपादानता मानी जाती है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी अंग्रेजी भाषा के प्रभाव के कारण हिन्दी व्याकरण में ‘कारक’ और ‘रूप’ (‘केस’) को एक मान लिये जाने की असंगत अवधारणा से पूरी तरह परिचित हैं। द्विवेदी जी का स्पष्ट मत है कि ‘कारक’ और ‘केस’ दोनों भिन्न अवधारणाएँ हैं और दोनों में किसी तरह का कोई घालमेल नहीं होना चाहिए। ‘कारक’ को ‘केस’ से भिन्न करने के सन्दर्भ में ही द्विवेदी जी ‘केस’ हेतु एक अलग नाम सुझाते हैं ‘प्रकारक’/‘विकारक’।¹³ ‘कारक’ क्रियायोग वाले पद हैं, जिनकी संख्या किसी भी भाषा में छह ही होती है कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। वहीं ‘केस’ रूपरचना से सम्बद्ध अवधारणा है।¹⁴ ‘कारक’ की तरह ‘केस’ या ‘रूप’ की कोई निश्चित संख्या नहीं है। रूप की संख्या और उनका निर्धारण भाषाओं की अपनी विशिष्टता पर निर्भर करता है। हिन्दी में ‘रूप’ दो या तीन तरह के पाये जाते हैं। वस्तुतः ‘कारक’ क्रिया से युक्त होने वाले नामपद हैं और ‘विकारक’/‘प्रकारक’ का विभिन्न कारकीय विभक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त रूप है। हिन्दी के एक प्रातिपदिक (मूल शब्द) ‘बच्चा’ के माध्यम से ‘कारक’ और ‘विकारक’ के अन्तर को समझा जा सकता है -

कारक	विकारक	
	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	बच्चा, बच्चे (ए)	बच्चे (ए)
कर्म, करण, अधिकरण, सम्प्रदान, अपादान	बच्चे (ए)	बच्चों (ओं)
सम्बोधन	हे बच्चे (ए)	हे बच्चो (ओं)

उपर्युक्त तालिका के आधार पर कहा जा सकता है कि जब ‘बच्चा’ शब्द का विभिन्न कारकीय विभक्तियों के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, तो उसके एकवचन और बहुवचन रूपों में बच्चा, बच्चे, बच्चों, बच्चो जैसे विकार होते हैं। विभिन्न कारकों के अर्थ में प्रयुक्त मूल शब्द में होने वाले परिवर्तन ही ‘बच्चा’ शब्द के ‘विकारक’/‘प्रकारक’ रूप हैं।

‘कारक’ और ‘विकारक’ के अन्तर को स्पष्ट करने के क्रम में ही द्विवेदी जी ने हिन्दी की रूप-रचना का भी विवेचन किया है। रामवतार शर्मा¹⁵ से प्रेरणा ग्रहण करते हुए द्विवेदी जी हिन्दी में दो सुबन्त-रूप मानते हैं ऋजु/उक्त/पहली विभक्ति और तिर्यक्/अनुक्त/दूसरी विभक्ति। द्विवेदी जी ने सम्बोधन को भी पहली/प्रथमा विभक्ति में ही समाहित कर लिया है। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि द्विवेदी जी पहली और दूसरी को संस्कृत के रूढ़ अर्थों में ग्रहण नहीं करते हैं। उनके अनुसार, निर्विभक्ति या परसर्ग रहित पद ऋजु/पहली/प्रथमा विभक्ति के रूप हैं और जिन पदों में परसर्ग आते हैं, वे दूसरी/तिर्यक्/अनुक्त विभक्ति के रूप होते हैं।

परसर्ग

ऐतिहासिक सन्दर्भों में भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों की जाँच-पड़ताल करने के क्रम में आचार्य द्विवेदी ने परसर्गों के उद्भव सम्बन्धी कारणों पर भी रौशनी डालने का कार्य किया है। इसी क्रम में उन्होंने 'ने', 'को', 'में', 'से' आदि को विभक्ति मानने सम्बन्धी अवधारणा का खण्डन करते हुए इन्हें परसर्ग के रूप में मान्यता दी है। परसर्ग को विभक्ति से पृथक् मानने के कारणों की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि "विभक्तियाँ सत्त्व प्रधान सभी नाम या नामक शब्दों के साथ लगती हैं। परन्तु परसर्ग केवल तिर्यक् विभक्तियों के साथ। इस व्यापार भेद के कारण भी परसर्गों का नाम अलग होना चाहिए। व्याकरण शास्त्र में किसी शब्द या शब्द-समूह को अलग नाम तीन कारणों से दिया जाता है रूप-भेद के कारण, व्यापार-भेद के कारण और अर्थ-भेद के कारण। परसर्गों में ये तत्त्व भेद होते हैं। इसलिए वे अलग नाम के अधिकारी हैं।"¹⁶ द्विवेदी जी भाषा में अर्थ के स्पष्टीकरण में आ रही बाधा को परसर्गों के उद्भव का मुख्य कारण मानते हैं - "संस्कृत के परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार की कुछ बातें हैं जहाँ विभक्ति प्रयोग के बाद भी लेखकों को भाव प्रकाशन में कमी महसूस हुई है। उन्होंने अन्य अव्ययों का सहारा लेकर भाव प्रकट करने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, हितोपदेश में 'कूपस्योपरि' जैसे प्रयोग मिलते हैं। लेखक जो कहना चाहता था, वह बात 'कूपे' इस सप्तम्यन्त पद से नहीं स्पष्ट होती थी तो उसने विभक्ति के बाद एक अव्यय का योग किया। इसी प्रकार कृते, मध्ये, तः, हेतोः, कारणात् आदि पदों की सहायता आवश्यक जान पड़ी है। ये ही पद बाद में घिस कर परसर्ग का रूप ग्रहण करते हैं।"¹⁷

द्विवेदी जी के लिए परम्परा-समर्थित व्याकरण ग्रंथ की रचना से कहीं अधिक आवश्यक था हिन्दी व्याकरण को तर्कसंगत व वैज्ञानिक आधार देना। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उन्होंने अपने व्याकरणिक-चिन्तन के माध्यम से हिन्दी व्याकरण लेखन की पद्धति, भाषा की स्वाभाविकता को ध्यान में रखते हुए भाषा और व्याकरण के मूल्यांकन पर विचार करना जैसे कुछ अनछुए सवालों पर प्रकाश डालने का कार्य किया है। ऐतिहासिक सन्दर्भों में हिन्दी भाषा का मूल्यांकन करने के साथ-साथ भाषा एवं व्याकरण सम्बन्धी अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, गहन अध्ययनशीलता और विश्लेषण क्षमता के माध्यम से संसार की समस्त भाषाओं में कारक की संख्या पर विचार, व्याकरणिक संज्ञाओं व व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों को अर्थबन्धन से मुक्त मानना - जैसी स्थापनाओं के माध्यम से द्विवेदी जी ने न केवल हिन्दी के व्याकरणिक-चिन्तन को वैज्ञानिक और संतुलित आधार देने का प्रयास किया है बल्कि व्याकरण सम्बन्धी उनकी इस तरह की स्थापनाओं में सार्वभौमिक व्याकरण के भी अनेक संकेत-सूत्र बीज-रूप में विद्यमान हैं, जिसकी तरफ वैयाकरणों और भावी शोधार्थियों को ध्यान देने की आवश्यकता है।

हिन्दी विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
गया - 824236, बिहार

सन्दर्भ -

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी (चौथा संस्करण, 2009 ई.), 'हिन्दी व्याकरण की समस्या', भाषा, साहित्य और देश, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृ. 33
2. वही, पृ. 33

3. वही, पृ. 25
4. वही, पृ. 26
5. वही, पृ. 32
6. वही, पृ. 33
7. वही, पृ. 26
8. 'संस्कृत में 'कारक' शब्द का प्रयोग', भाषा, साहित्य और देश, पृ. 36
9. वही, पृ. 37
10. वही, पृ. 39
11. वही, पृ. 39
12. वही, पृ. 40
13. 'चाहें तो 'केस' को विकारक कह लीजिए वह कारक के निकट भी हो जाएगा और अलग अर्थ भी दे सकेगा।' - 'हिन्दी व्याकरण की समस्या', भाषा, साहित्य और देश, पृ. 27
14. "कारक वे पद हैं जिनका क्रिया के साथ योग होता है। ऐसे पद केवल छह प्रकार के हैं -कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। 'केस' शब्द का यह अर्थ नहीं है। 'केस' पदों के विभिन्न रूपों को खोलता है।" - वही, पृ. 27
15. संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं में सात विभक्तियों को देखकर हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में भी विचार शून्य व्याकरण लेखकों ने सात विभक्तियों की कल्पना की है।..... हिन्दी में दो ही विभक्तियाँ हैं।" - रामावतार शर्मा (2011 ई.), 'हिन्दी व्याकरणसार', श्रीरामावतार शर्मा निबन्धावली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ. 120
16. 'हिन्दी व्याकरण की समस्या', भाषा, साहित्य और देश, पृ. 29-30
17. वही, पृ. 28

सिलसिला ए चिश्ती और हिन्दुस्तानी मौसिकी

आकाश जैन

संगीत इबादत का जरिया है रूह को साद करता है, ईश्वर की इबादत है संगीत सरहदों की सीमाओं से परे है, संगीत दिलों को जोड़ने का कार्य करता है, संगीत से शांति मिलती है, संगीत ही नूर का दीदार कराता है इसलिए सूफी परंपरा का आधार संगीत है। जहाँ सूफीइज्म है वहाँ संगीत है वहाँ ईश्वर की उपस्थिति होती है। चूँकि सनातन धर्म में भी कहा गया है -

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च”
मद भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद
सूफियों के द्वारा कहा गया है
तनरवाब मन कींगरी, सो रगे भई सबतार।
ये रूंग-रूंग सुर देत है, सो वाजत नाम तिहार।
इस्लाम और संगीत।।

“अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और दिल्ली में शेख निजामुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर ‘कव्वाल’ लोग गाते बजाते हैं। मुहर्रम के दिनों में शिया मुसलमान “मर्सीये और - सोज” पढ़ते हैं। सोज राग-रागनियों में बंधे होते हैं और “सोजख्या” (सोज गाने वाले) लोग तानपुरे के साथ विधिवत अभ्यास करते हैं। अच्छे ख्याल गायको को भी ‘सोज’ याद होते हैं, मुहर्रम के दिनों में यद्यपि मुसलमान कलाकार गाते बजाते नहीं तथापि सोज पढ़ते हैं। भातखण्डे जी ने अनेक स्थानों पर लिखा है कि मुसलमानों ने भारतीय संगीत को अत्यन्त प्रभावित किया है। ये सब बातें इस ओर संकेत करती हैं कि ‘इस्लाम’ के साथ गाने बजाने का संबंध किसी ना किसी रूप में है इसके विपरीत जब मुसलमानों के सुन्नी सम्प्रदाय का कोई मौलवी यह कहे कि इस्लाम की दृष्टि में संगीत त्याज्य है, इसलिए औरंगजेब संगीत का विरोधी था तब सामान्य व्यक्ति चक्कर में पड़ जाता है और सोचने लगता है कि संगीत के भक्त ख्वाजा मोहनुद्दीन चिश्ती और शेख निजामुद्दीन चिश्ती क्या इस्लाम का मर्म नहीं समझते थे? शिया मुसलमान क्या इस्लाम धर्म के तत्व से अपरिचित है।।”¹

सूफी इस्लाम का रहस्यवादी पंथ है। इसे तस्वुफ़ भी कहते हैं तस्वुफ़ का अर्थ होता है ईश्वर की प्राप्ति का साधनागत मार्ग “तस्वुफ़ या रहस्यवाद धर्म के बाहरी आडम्बरों में विश्वास नहीं करता सूफी या रहस्यवादी का धर्म ना तो रोजा नवाज़ और अजा तक सीमित है ना शंख आरती और घडियाल के अधीन”² सूफी कट्टरवादी मुस्लिम पंथ से अलग ही पंथ है। चूँकि मौलवी वर्ग संगीत के लिए गुनाह और शैतान का कार्य

समझता है इसके विपरीत सूफी पंथ में संगीत का प्रयोग होता है और संगीत को इबादत (भक्ति) का माध्यम माना गया है। “इस्लाम विश्व के उस भाग में जन्मा जहां वर्षा कम होती थी निर्जन उजाड़ में आंखें खोजने के कारण उसने विचारों को स्वच्छता से देखा सजावट में नहीं चित्र, मूर्ति, संगीत के प्रति इस्लाम के द्वेष का यही कारण था।”³ कुछ मौलविया का मत यह भी है कि हदीसों में मुहम्मद साहब ने संगीत को मोमीनो के लिए वर्जित किया है - लेकिन सही बुखारी की एक हदीस में स्वयं हजरत मुहम्मद ने संगीत के लिए स्वीकृति दी है।

“ईद का दिन था हजरत मुहम्मद के घर में अंसार की कुछ बालिकायें आई और वे डफ बजा रही थीं। हजरत मुहम्मद लेटे हुए थे, सोये नहीं थे और हजरत आयशा उन कलामो को सुन रही थीं इतने में हजरत सिद्दीक मुहम्मद के घर में आते हैं और उन लड़कियों को डफ बजाने और गाने से मना करते हैं और कहते हैं शैतानी मजामीन और वो भी रसूल अल्लाह के घर” इतने में हजरत मुहम्मद अपने चेहरे से चादर हटाते हैं और अर्ज करते हैं कि ऐ सिद्दीक ईद का दिन है ये लड़कियां जो पढ़ती हैं पढ़ने दो। जो डफ बजाती हैं बजाने दो। इसी प्रकार रसूल ए पाक ने अपने घर की शदियों में डफ बजाने का हुक्म फरमाया हैं।

हाँ मुहम्मद ढोल की आवाज नापसंद करते थे क्योंकि ढोल की ध्वनि बहुत ही तीव्र होती है और मन मस्तिष्क को प्रभावित करती है। इसके विपरीत डफ की आवाज उतनी तीव्र नहीं होती कर्णप्रिय लगती हैं। एक शब्द आता है “आलात ए मौसिकी” मेरी नजर में आलात वाद्ययंत्रों को कहा गया है। सही बुखारी की एक हदीस में हजरत मुहम्मद ने कहा है कि मेरी उम्मत में ऐसे लोग आएंगे जो चार चीजों को हलाल कर लेंगे।

1. शर्मगाहो को हलाल
2. रेशम को हलाल
3. शराब की हलाल
4. आलात ए मौसिकी को हलाल

अब कुछ कुछ मौलिवी कहते हैं कि तबला, सितार आदि आलात ए मौसिकी में आते हैं। लेकिन तबला एवं सितार हजरत मु. के समय में ईजात ही नहीं हुए थे, तो फिर कैसे इन्हें आलात ए मौसिकी के अंतर्गत रखा जाता है। वे मजामीन (वाद्य) जो अधिक शोर करते हैं उन्हें आलात ए मौसिकी के अंतर्गत रखा जा सकता है। कुल मिलाकर जो हुराम या हलाल कार्य प्यारे नबी के सामने होता है यदि हलाल कार्य होता है तो वे उसे प्रोत्साहित करते थे और यदि उनके सामने हुराम काम होता था तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि वो उसे मना ना फरमाये।

जब मुहम्मद मदीने आये तो डफ बजाकर उनका इस्तकबाल किया गया और हजरत मुहम्मद साहब ने मना नहीं फरमाया। ऐसी मौसिकी जो मनुष्य को विचलित करे, उसे परमेश्वर के ध्यान से भटकाये ऐसी मौसिकी प्रत्येक धर्म में वर्जित है लेकिन ऐसा संगीत जो व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास में सहायक हो उसे अल्लाह (ईश्वर) से जोड़े रखे ऐसा संगीत रूह को साद करने वाला होता है। हुराम या गुनाह नहीं।

हजरत दाऊद अलैहिस्सलाम को अल्लाह ने दो मौजिजे दिये थे एक वे लोहे को किसी भी आकार में ढाल सकते थे। दूसरा अल्लाह ने सबसे अच्छी, सब इंसानों की उपेक्षा सबसे सुन्दर और सुरिली आवाज अता की थी, जब हजरत दाऊद अलैहिस्सलाम हम्द शरीफ के नगमें गुनगुनाते थे अल्लाह की तिलावत अपनी सुरिली आवाज में करते थे उनके साथ विशाल पहाड़, पक्षी, पेड़ भी झूम-झूम कर उन हजरत दाऊद के स्वर से स्वर मिलाते थे।

“सौन्दर्य और प्रेम के बाद सूफियों में संगीत की प्रधानता है। क्योंकि संगीत में मन को केन्द्रित करके उसे ऊपर ले जाने की शक्ति होती है, उसका उपयोग सूफी संत समाधि की सुगमता के लिये किया करते थे।”⁴

सूफीमत के उद्गम बिन्दु चाहे अन्य धर्मों से भी रहे हों, किन्तु सम्प्रदाय के रूप में उसका संगठन इस्लाम देशों में ही हुआ, अरब के नगरों में यहूदी मत ईसाइमत, हिन्दुत्व, बौद्धमत और इस्लाम, इन सब का मिलन हुआ था ईरान में इस्लाम का संपर्क जरथ्रुस्वाद से भी हुआ, सूफीमत इन सबका समन्वयन योग तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उस पर इन सबका कुछ न कुछ प्रभाव था। वह ऐसा मत था जो सम्प्रदायगत होकर भी आसाम्प्रदायिक हो गया। उसने नबी अवज्ञा, कुरान की अवज्ञा की और उस घात से उमड़कर बाहर फेलने लगा, जिसमें इस्लाम को समेटकर रखने की आशा की गयी थी। संगीत को नबी ने प्रश्रय नहीं दिया था किन्तु सूफीमत संगीत को अपना साधन मानने लगा।”⁵

“सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि अरबी, फारसी, तुर्की तीनों भाषाओं में इस्लाम के रहस्यवादी पंथ के लिए ‘सूफी’ शब्द प्रयुक्त है एवं अन्य विद्वानों के अनुसार ‘सूफी’ मत को ईसाइयों के ‘नव्य-प्लेटोवाद’ और ग्लानिस्तिवाद से जोड़ा है।”⁶

इसी क्रम में सूफी शब्द की उत्पत्ति के बारे में नाना विद्वानों के नाना मत हैं। “विद्वानों और समीक्षकों का एक बहुत बड़ा वर्ग यह मानता है कि सूफी शब्द का निर्माण सूफ से हुआ है।”⁷

विद्वानों का एक मत ‘सूफी’ शब्द की उत्पत्ति सूफ से मानते हैं जिसका तात्पर्य श्वेत ऊन से है यह प्रारंभ में उन्हीं व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो अपने पहनावे के लिए मोटे ऊनी वस्त्रों को धारण किया करते थे। ये लोग ऐश्वर्य या भोगविलास से पूरा दूर रहा करते थे और अत्यंत सीधा सादा जीवन व्यतीत करते हुए केवल जिक्र ए इलाही, याद इलाही में मशगूल रहते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि सूफी शब्द का संबंध यूनानी शब्द “सोफोस” से है जिसका आशय बुद्धिमानी एवं ज्ञानी व्यक्ति से है। “साफोस” के विषय में यह तर्क दिया जाता है कि यह अंग्रेजी के फिलोसोफी शब्द से लिया गया है जिसका हिन्दी पर्याय ‘दर्शन’ होता है इस प्रकार सूफी का अर्थ ‘बुद्धिमान’ एवं “ज्ञानी” से ही है, यह मत तर्कपूर्ण और संगत भी लगता है।”⁸

कुछ विद्वान सूफी को ‘सफ’ से जोड़ते हैं जिसका अर्थ पंक्ति या कतार से जोड़ा जाता है। सफ अर्थात् सबसे आगे की पंक्ति अथवा प्रथम श्रेणी। इसके अनुसार सूफी केवल उन व्यक्तियों को ही कहा जा सकता है जो कयामत (महाप्रलय) के दिन ईश्वर के वली (दोस्त) होने के कारण सबसे आगे खड़े किये जायेंगे। “प्रलय के अंतिम निर्णय के समय अपने सदाचार एवं पवित्र जीवन के कारण सामान्य व्यक्तियों से पृथक् एक सफ (पंक्ति) में खड़े होने के अधिकारी ऐसे व्यक्तियों को सूफी कहा गया है। जो खुदा की इवादात में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं।”⁹

“मदिना की मस्जिद के सामने एक सुफ्फा (चबूतरा) था उस पर बैठने वालों को सूफी कहा गया।”¹⁰ कुछ विद्वानों के मतानुसार सूफी शब्द सुफ्वन (सुफा) से बना हुआ है। जिसका अर्थ चबूतरा से जोड़ा जाता है और यह चबूतरे विशेषता मस्जिद नबी के प्रांगण में बने हुए उस ऊँचे स्थान की ओर इंगित करता है। जहां रसूल अल्लाह मुहम्मद (स.अ.व.) के सहाबा (प्रियपात्र) बैठ करते थे। उन लोगो का अधिक समय कुरान की तिलावत एवं याद ए इलाही में व्यतीत होता था और सूफियों का यह नाम उन्हीं के स्वभाव सादृश्य के कारण दिया गया था।

“एक मत के अनुसार सूफी शब्द का सोफिया का रूपान्तरण है।”¹¹ अतः सूफी का ताल्लुक यूनानी शब्द (सोफिया) से भी जोड़ा जाता है जिसका अर्थ विद्या से माना गया है।

सूफी का अर्थ साफा अर्थात् सफाई से है। सफाई अर्थात् पवित्रता। किस प्रकार की सफाई। जिस्म (शरीर) की सफाई, जब जिस्म साफ होगा तभी रूह की सफाई होगी।

यूनानी शब्द साफिया, सूफ (पंक्ति) सूफ्फा (मदीने की मस्जिद के सामने बने हुए चबूतरे) से व्युत्पत्ति दी जाती है, कुछ विद्वानों ने 'तसत्वुफ' और 'सूफीमत' में 'सूफ' (सफेद ऊन) पहनने वालों में से इसे निस्पन्न मानते हैं। कुछ सूफी यही मानते हैं कि यह सबसे प्राचीन धर्ममत या आदम के साथ यह चला। कुछ लोग चौथे खलीफा अली को इस मत के प्रवर्तन का श्रेय देते हैं, चूंकि सूफीमत में कुरान की कई बातें नहीं मिलती। कुछ मुसलमान इसे इस्लामी नहीं मानते बल्कि अन्य धर्मों से आयतित विचार मानते हैं। (भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, डॉ. नगेन्द्र) "अपने जीवन में सुफा रहने अर्थात् स्वच्छता और निर्मलता को अपनाने वाले संतो को सूफी कहा गया है।"¹²

"यह शब्द सफा से बना है। जिसका अर्थ पवित्रता होता है। इसी कारण सूफी वस्तुतः उन्हें कहना चाहिए जो मनसा, वाचा एवं कर्मण पवित्र कहे जा सकते हैं।"¹³

अनेक मुस्लिम सूफी को इस्लाम का अंग नहीं मानते। वैसे सूफी किसी धर्म/मजहब का मोहताज नहीं। सच्चाई और इंसानियत में समूचा सूफीमत समाया हुआ है। सूफी मत के दरवाजे सभी धर्म के लोगों के लिए खुले हुए हैं। आज भी दरगाहों में मुस्लिम अकीदम मंदो की अपेक्षा हिन्दू अकीदत मंद अधिक होते हैं। सूफी मत कोई मत नहीं है। इंसान की तरक्की का माध्यम है सूफी।

हर इंसान के जिहन में चाहे वह किसी भी मजहब का हो, बशर्ते, वह सोचने, समझने की शक्ति रखता हो, वाहोश हो अक्लमंद हो उसके जिहन में तीन सवाल होते हैं।

- वह कौन है ?
- कहां से आया है ?
- कहां जायेगा ?

इन्हीं सवाल के जवाबों के अंदर पूरा तसव्वुफ (सूफी) समाया हुआ है। इस नजर से देखा जाये तो सूफी किसी धर्म का मोहताज नहीं है। सूफी का सही अर्थ साफा से ही जोड़ना उचित जान पड़ता है। सफाई अर्थात् आत्मा की सफाई, क्योंकि जब आत्मा साफ होगी तो जिस्म साफ होगा।

"आत्मा का सिद्धांत" सभी मतों धर्मों व मजहबों में है चाहे वह हिन्दुमत हो, बौद्ध मत हो, ईसाईमत हो, जैन मत हो या इस्लाम हों सभी मतों में आत्मा का सिद्धांत एक ही है।

इंसान जिस वक्त अपने तरक्की के मराहिल को पार करता है तो वह अपने आप को पाने की कोशिश करता है। तरक्की करते-करते जब वह उस जगह स्वयं को महसूस करता है जहां से वह आया है वह परदे को हटाकर देखता है कि वह खुद बैठा हुआ है। अपने अंदर मौजूद आध्यात्म तत्व को पहचानना ही तसव्वुक है। इसे रूहानी तसकीन भी कहते हैं जिस व्यक्ति को रूहानी तसकीन हासिल होती है सही मायनों में वही सूफी होता है जिसे यह शक्ति प्राप्त होती है ना तो उसे वस्त्रों से कोई मतलब होता है, ना रहन सहन से, सिर्फ वह याद ए एलाही में खोया रहता है।

सूफी के प्रमुख सम्प्रदाय -

- सिलसिला ए चिश्ती
- सिलसिला ए कादरी
- सिलसिला ए सुहरावर्दी
- सिलसिला ए नक्सबंदी
- इसके अलावा -
- सिलसिला शक्तारी
- सिलसिला ए मदारी

यह सिलसिले संगीत के घराने की भांति किसी व्यक्ति या किसी स्थान के नाम पर रखे गये हैं। जिस प्रकार संगीत में विभिन्न घरानों में अलग-अलग तरीकों से गायन या वादन किया जाता है लेकिन लक्ष्य केवल एक होता है परमानंद की प्राप्ति उसी प्रकार सूफी के सभी सिलसिलों की भिन्न-भिन्न मान्यतायें हैं लेकिन लक्ष्य केवल एक ही है दीदार ए इलाही सभी सिलसिलों का उद्देश्य नूर का दीदार करना हैं। ख्वाजा मोहउद्दीन चिश्ती (रह.) कहते हैं मेरे रास्ते पर चलो-हजरत अब्दुल कादिर गौस पाक अपने रास्ते से ले जाते हैं हजरत बहाउद्दीन जकारिमा (रह.) अपने रास्ते से ले जाते हैं ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शवन्द अपने रास्ते से ले जाते हैं रास्ते भले ही सबके भिन्न-भिन्न हो लेकिन लक्ष्य सभी का एक ही है।

सिलसिला ए चिश्ती

सूफी का सबसे प्राचीन और सबसे प्रसिद्ध सिलसिला चिश्ती सिलसिला है। इस सिलसिले के संस्थापक। प्रवर्तक ख्वाजा इसहाक शामी (रह.) को माना जाता है। ख्वाजा इसहाक शामी (रह.) एशिया से आकर चिश्त नामक स्थान पर रुक गये थे इसलिए इस सिलसिले का नाम चिश्ती सिलसिला पड़ा। चिश्ती सम्प्रदाय के प्रारंभिक समय में संगीत का प्रयोग होता था कि नहीं इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। भारत में चिश्ती सिलसिले को लेकर ख्वाजा मोहउद्दीन चिश्ती (रह.) आये थे। कहा जाता कि हजरत मुहम्मद ने गरीब नवाज को हिन्दुस्तान जाने का हुक्म दिया था।

चिश्ती सिलसिले में “चिल्ल” का प्रचलन है। चिल्ल अर्थात् साधक चालीस दिनों तक किसी मस्जिद या बंद कमरे में अपना समय बिताता है, इस दौरान वह कम मात्रा में भोजन करता है अपना सारा समय इबादत और जिक्र इलाही में लगाता है चिल्ले के दौरान वह कलमा, अल्लाह हूं अकबर में मशगूल रहता है। इस चिल्ल के प्रचलन को भारतीय संगीत के साधनों ने भी आत्मसात किया है। कई उदाहरण देखे जा सकते हैं जो चिल्ला के लिए बैठे हो। उस्ताद अहमद जान थिरकवा साहब इसके सटीक उदाहरण हैं। सिलसिला ए चिश्ती में चिल्ल को इबादत का एक साधन माना गया है और भारतीय संगीत में रियाज का एक साधन। चिश्ती सिलसिले का यह धार्मिक कृत्य भारतीय संगीत में प्रवेश किया और साधक इस कृत्य से लाभान्वित हो रहे हैं।

हजरत मुहम्मद (स.अ.व.) की विशेष कृपादृष्टि गरीब नवाज पर थी। चिश्ती सिलसिला अपने को हजरत मुहम्मद (स.अ.व.) से जोड़ता है किस प्रकार जोड़ता है इस तालिका से स्पष्ट हो जायेगा।

हजरत मुहम्मद (स.अ.व.)



हजरत अली (रजी)



हजरत इमाम हसन वसरी (रजी)



ख्वाजा अब्दुल वाहिद अयाज

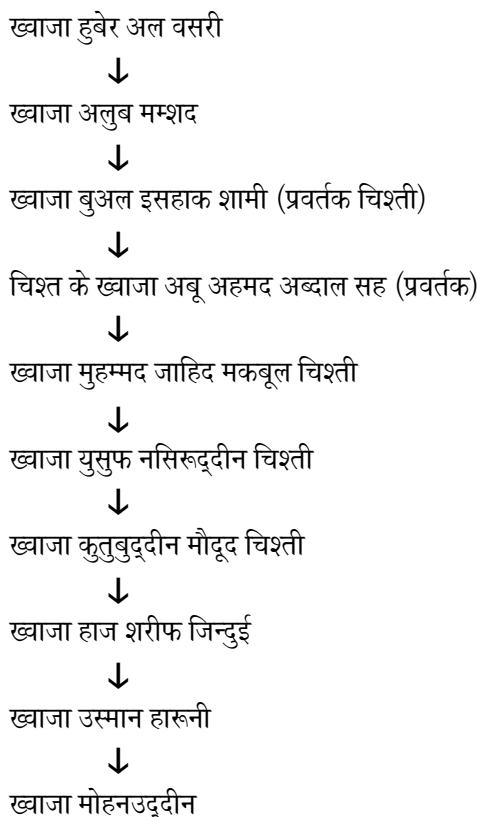


हजरत इब्राहिम विन



ख्वाजा हजीक अल् मरशी





इस प्रकार कहा जा सकता है कि चिश्ती सिलसिला सूफी के सभी सिलसिले में प्राचीन है। जिसकी नींव हजरत मुहम्मद (स.अ.व) की मृत्यु के लगभग 200 वर्ष पश्चात् हजरत ख्वाजा बुअल इसहाक शामी ने रखी। ख्वाजा बुअल इसहाक शामी (रह.) के मुरीद हजरत अबू अहमद अब्दाल (रह.) ने इस सिलसिले का प्रचार किया। हजरत अबू अहमद चिश्त के रहने वाले थे। इसलिए इस सिलसिले का नाम सूफी चिश्ती सिलसिला हुआ। सूफी संगीत जो आज मशहूर है। जब यह सूफी दरवेश भारत आये तभी से सूफी संगीत की नींव पड़ी।

भारत से ही निकलकर यह संगीत समूचे विश्व में फैला हिन्दुस्तान आकर बसने वाले सूफी ऑलियाओं में सबसे अब्बल नाम ख्वाजा मोहनउद्दीन चिश्ती (रह.) का है। जिन्होंने अजमेर आकर भारत में सिलसिला ए चिश्ती प्रारंभ किया। ख्वाजा मोइनउद्दीन चिश्ती सूफी परंपरा के आठवे संत थे। ख्वाजा जी जब भारत में आये तब उन्होंने भारतीय सनातन परंपरा एवं संस्कृति को भी आत्मसात किया। हिन्दू संतों को भगवा रंग में देखकर उन्होंने भी केसरिया वस्त्र धारण किये। आज भी चिश्ती सम्प्रदाय के प्रेमियों का प्रिय रंग भगवा ही है। उस समय के नरेश पृथ्वीराज चौहान को ख्वाजा मोइनउद्दीन से बहुत ही ईर्ष्या थी। ख्वाजा जी तरह तरह के करामात देखने से अनेक हिन्दु भी उनके मुरीद हो गये थे।

ख्वाजा मोइनउद्दीन चिश्ती को हम्द एवं नाअत् बेहद पसंद थी, उनके मुरीद ख्वाजा कुतुबुद्दीन वक्तियार “काकी” (रह.) ख्वाजा जी को नाअत् एवं हम्द शरीफ के नगमे सुनाते तो ख्वाजा जी “याद ए इलाही में खोलकर झूमने लगते थे।

वे संगीत का उपयोग करते थे। उन्होंने भारत आकर देखा कि यहां के लोगों की रग-रग में संगीत भरा हुआ है, इसलिए उन्होंने भी यहां के संगीत को आत्मसात किया। यही से चिश्ती सिलसिले में “भारतीय संगीत” की नींव पड़ी और भारतीय संगीत सूफी दरवेशों की रूह को छुआ, उन्हें भारतीय संगीत ने आंतरिक रूप से प्रभावित किया। ख्वाजा मोइनउद्दीन चिश्ती ने इस सिलसिले का नवा खलीफा हजरत ख्वाजा कुतुबुद्दीन काकी (रह.) को बनाया और उन्हें दिल्ली जाने का हुक्म दिया इस प्रकार चिश्ती सिलसिले का दूसरा केन्द्र अजमेर के बाद दिल्ली बना। यही बाबा फरीदउद्दीन गजशकर (हजरत कुतुबुद्दीन) के संपर्क में आये और उनके मुरीद हो गये।

हजरत कुतुबुद्दीन काकी (रह.) की मृत्यु के बाद चिश्ती सिलसिले के दसवें खलीफा बाबा फरीद हुये। बाबा फरीद पंजाबी भाषा के प्रथम कवि भी माने जाते हैं, उनकी रचनाओं को आज भी सिने संगीत में प्रयोग किया जा रहा है। बाबा फरीद की रचनाये “गुरु ग्रंथ साहब” में भी देखने को मिलती है। जिन्हें गुरुद्वारे में विभिन्न रागों में निबद्ध कर गाया जाता है।

कागा रे कागा मोरी, इतनी अरज तोसे।

मेरा चुनचुन खइयो मांस।

जे दो नैना मत खइयो रे।

मोहे पिया मिलन की आस।

बाबा फरीद बड़े दयालु थे। एक ऐसी किवदंती है - एक दफा कौओ को भूखा देखकर वह अपने सारे शरीर में शहद का लेपन कर लेते हैं और कौओं को अपने जिस्म का मांस खाने की दावत देते हैं। कौए बाबा फरीद के शरीर का सारा गोश लोंच कर खा कर अपनी तृष्णा शांत करते हैं, बाबा फरीद को बड़ा ही आनंद मिलता है। लेकिन अब कौए बाबा फरीद की आंखों की तरफ का गोशत खाने की कोशिश करते हैं।

तब बाबा फरीद उन कौओ से निवेदन करते हैं कि वो मेरे जिस्म का सारा गोशत खा ले सिर्फ मेरे नयनो को छोड़ दे क्योंकि मुझे मालूम है कि मेरे पिया का मुझसे मिलन जरूर होगा, सूफी सिलसिलों में विशेषकर सिलसिला ए चिश्ती में सूफी स्वयं को स्त्री समझता है और परमात्मा को अपना प्रियतम। बाबा फरीद के दो शिष्यों के नाम उल्लेखनीय है जिसमें हजरत अलाउद्दीन साबिर (रह.) एवं हजरत निजामुद्दीन औलिया (रह.) के नाम प्रसिद्ध हैं। हजरत अलाउद्दीन साबिर बाबा फरीदउद्दीन के भांजे भी थे और मुरीद भी। सभी सिलसिला ए चिश्ती के संतो में हजरत निजामुद्दीन औलिया ने भारतीय संगीत को बहुत पसंद किया। “महफिल ए समा का उल्लेख निजामुद्दीन औलिया के दौर में ही प्राप्त होता है, चिश्ती सिलसिले में संगीत का प्रयोग होता था एवं महफिल ए समा का आयोजन भी होता था इसके विपरीत सिलसिला ए नक़्शबर्दी संगीत का विरोध करता है इसलिए सिलसिला ए चिश्ती में संगीत संबंधी कुछ नियम बनाए गए जैसे -

नवाज के समय को छोड़कर किसी भी समय संगीत सुना जा सकता है। इसलिए आज भी कब्बाली एवं महफिल ए समा रात्रि में ही आयोजित होते हैं चूँकि रात्रि में “तहज्जुब” के अलावा कोई भी नमाज नहीं होती।

कलाम ऐसा होना चाहिए जो न कुरान के खिलाफ हो, न हदीसों के खिलाफ हो और न ही उस कलाम से नवी की किसी सुन्नत की अवज्ञा हो।

अलात ए मौसकी अर्थात् ऐसे बाध्यों का प्रयोग न हो जिससे मन एवं मस्तिष्क पर कुछ विपरीत प्रभाव न पड़े।

इत्यादि चिश्ती सिलसिले में कुछ संगीत के कुछ विशेष नियम थे।

इस प्रकार -

ख्वाजा मोहनउद्दीन (रह.)



ख्वाजा कुतुबुद्दीन औलिया (रह.)



बाबा फरीदउद्दीन औलिया (रह.)



निजामुद्दीन औलिया (रह.)



हजरत अमीर खुसरो (रह.)

हजरत अमीर खुसरो निजामुद्दीन औलिया के परम शिष्य थे। हजरत अमीर का पूरा नाम अबुलहसन यमुनुद्दीन अमीर खुसरो (रह.) था। “भारत पर इस्लामी राज्य के आरंभ के केवल 61 साल बाद भारत ने उस मुसलमान को जन्म दे दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी महापुरुष था।”¹⁴

हजरत अमीर के आध्यात्मिक गुरु हजरत निजामुद्दीन औलिया थे एवं काव्य गुरु ख्वाजा शमशुद्दीन औलिया थे। इनके पिता तुर्की थे एवं माँ मूल भारतीय थी इसलिए इन्हें तुर्की फारसी एवं अवधी भाषा का ज्ञान था बचपन से ही इनकी रुचि साहित्य, संगीत एवं ललित कलाओं में थी। ये 08 वर्ष की उम्र में ही शायरी करने लगे थे। अमीर खुसरों के अलावा सिलसिला ए चिश्ती के अन्य कवियों (संतों) की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वे लोक भाषाओं में अपने कलामों को कहते थे अमीर खुसरो ने इश्क ए मजाजी (इंसान से प्रेम) को इश्क ए हकीकी (अल्लाह से प्रेम) को पाने का एक जरिया माना।

खुसरो ने ईरानी संगीत एवं भारतीय संगीत का सम्मिश्रण किया था जो आज हिन्दुस्तानी संगीत के रूप में विश्व प्रसिद्ध है। कर्नाटक संगीत हजरत अमीर खुसरो से शायद अछूता रह गया इसलिए जो रस की अनुभूति हिन्दुस्तानी संगीत से आम वर्ग को होती है उतनी दक्षिणी संगीत से नहीं। आज भी खुसरो के सांगीतिक गुरु का नाम उपलब्ध नहीं हैं। इस मरतबा पंडित गोपाल नायक तत्कालीन बादशाह के दरबार में आये और बोले आप राजा है आप में ईश्वर का अंश है, अतः आप मेरे प्रश्न का उत्तर दे।

गोपाल नायक संस्कृत में एक श्लोक बोलते हैं और कहते हैं आप इसके जबाब में क्या कहेंगे। दरबार में सबके सर झुके हुये होते हैं क्योंकि उस समय संस्कृत उच्च वर्ग तथा ब्राह्मणों की भाषा थी तथा आम वर्ग इस भाषा से अछूता था।

ऐसे में राजा के एक बजीर ने बताया कि हजरत अमीर खुसरो महाज्ञानी है वे इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं। उस समय खानखाहों और बादशाह के बीच मतभेद थे मतभेद होने के बावजूद भी बादशाह के निवेदन पर हजरत अमीर दरबार में आते हैं और सबाल सुनते हैं।

अजरत अमीर सबाल सुनने के बाद पंडित गोपाल नायक से कुछ समय माँगते हैं कुछ दिनों बाद भरे दरबार में हजरत अमीर उस संस्कृत श्लोक का जबाब कौल से देते हैं यहाँ से कौल महफिल ए समा में गाया जाने लगा।

कौल का तात्पर्य - हजरत मुहम्मद (स.अ.ब.) के कहे हुये से है जो हजरत मुहम्मद ने हदीसों में अली के लिए या किसी सहावा के लिए कहा है वह कौल है।

“मन कुनतो मौला” आज महफिल ए समांओ की शुरुआत कौल से की जाती हैं।

इस प्रकार हजरत अमीर ने गोपाल नायक के प्रश्नों का उत्तर अपने कलामों एवं नयी रचनाओं से दिया। गोपाल नायक एवं अमीर खुसरो की मित्रता होने से नये-नये रागों का अविष्कार हुआ। तराना भी सिलसिला ए चिश्ती की गायन शैली है। कई विद्वानों के मतानुसार तरानों के बोलों के अर्थ नहीं होते उसमें निरर्थक बोल होते हैं, लेकिन ऐसा नहीं है, प्रारंभिक तरानों में अरबी, फारसी एवं तुर्की भाषाओं के शब्द होते थे।

जैसे - दरा - आई, या आना
तदन्दरा - तन के अंदर
नोम - मे तेरा हूँ
तोम - तू मेरा है

आदि। आज भी कौल के साथ तराना गाने का चलन है।

जब सूफी दरवेश भारत नहीं आये थे तो चार प्रकार के गीत अन्य इस्लामिक देशों में गाये जाते थे, केवल बांग्लादेश और पाकिस्तान का छोड़कर क्योंकि वो विभाजन के पहले भारत का ही एक हिस्सा थे।

ये गीत प्रकार निम्नलिखित हैं -

1. हम्द शरीफ - अल्लाह की शान में गायी जाने वाली कविता या गीत।
2. नाअत ए पाक - हजरत मुहम्मद (स.अ.ब.) की शान में गायी जाने वाली गीत या कविता।
3. मनकवत - बलियों की शान में गायी जाने वाला गीत या कविता।

इत्यादि गीत अन्य इस्लामिक देशों में गाये जाते थे लेकिन इन गीत प्रकारों में किसी भी वाद्य यंत्रों का प्रयोग नहीं होता था। ऐसे में हजरत अमीर ने इन कलामों को विभिन्न रागों में निबद्ध कर एवं विभिन्न वाद्यों के साथ गाया होगा। यही से कव्वाली की शुरुआत हुई। गजल भी महफिल ए समा का एक अंग चिश्ती सिलसिले में बन चुकी थी। इसके अलावा कसीदा, मनकवत, भी समांओ में गाये जाते थे। तूती ए हिन्द भी अमीर खुसरो को कहा जाता है।

हिन्दुओं के अनेकों त्यौहार आज भी निजामुद्दीन दरगाह पर बजाये जाते हैं ऐसा ही एक त्यौहार बसंत है इस त्यौहार की शुरुआत हजरत अमीर खुसरो ने ही की थी, आज भी बसंत पंचमी के दिन राग बसंत में निबद्ध गीतों को दरगाह के पारंपरिक कव्वालों के द्वारा उसी अंदाज में गाया जाता है।

“भारतीय संगीत के विषय में अमीर खुसरो ने कहा है कि संसार के किसी भी देश के संगीत को भारतीय संगीत के समान नहीं कहा जा सकता है यहाँ का संगीत मन तथा प्राणों में ज्वाला भड़का देता है, संसार के विभिन्न भागों से संगीत सीखने को लोग भारत में आये परन्तु वर्षों प्रयत्न करने पर भी सफल ना हुये।

यहाँ का संगीत मनुष्यों को ही नहीं, पशुओं तक को प्रभावित कर देता है। भारतीय संगीत से हरिण कृत्रिम निद्रा में निमग्न होकर बाधिका का शिकार हो जाते हैं। यदि कोई अरब से संगीत से भारतीय संगीत की तुलना कर तो मैं कहूँगा कि संगीत के सहारे मागा करने वाले ऊँटों को चलने का तो होश रहता है परन्तु संगीत के द्वारा मोहित हरिण तो सर्वथा चेतना हीन हो जाते हैं”

खुसरो ने इन उद्गारों को जब प्रकट किया, तब उनकी आयु पैसठ वर्ष थी और वे गोपाल नायक जैसे गुणियों के संपर्क से लाभान्वित हो चुके थे।¹⁵

“भारतीय संगीत अन्य सभी देशों के संगीत से कहीं उच्चकोटि का है। संगीत पर यहां केवल मनुष्य ही नहीं झमते उसे सुनकर यहां के हिरणों को भी स्तम्भ हो जाता है”¹⁶

एक उल्लेख ऐसा भी प्राप्त होता है कि खुसरो ने अपनी परंपरा को चिरंजीवी रखने के लिए बारह बच्चों का एक समूह बनाया। और सभी बच्चों को सिखाया। इस प्रकार खुसरो ने भारतीय गुरु शिष्य परंपरा को भी जीवित रखा। अमीर खुसरो को खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम कवि होने का श्रेय भी प्राप्त है। गजल लेखन एवं गायन भी खुसरो से प्रारंभ माने जाते हैं। खुसरो ने फारसी उर्दू में गजल लेखन के साथ फारसी एवं अवधी का मिश्रण कर भी गजल लिखी -

“जिहाल-ए मिस्कीं मकुन तगाफुल। (फारसी)

दुराये नैना बनाये बतियां।। (अवधि)

कि ताब ए हिजरां नदा रम ए जान।

न लेहो काहे लगाये छतियां।।

शबां ए हिजरां दरज चूं जुल्फ।

वा रोज ए वस्लत चो उम्र कोताह।।

सखी पिया को जो मैं न देखू।

तो कैसे कांदू अंधेरी रतियां।।”

(अमीर खुसरो) साभार विकिपीडिया

आज तक ऐसा शायर मेरी नजर में नहीं है जो दो भाषाओं के मिश्रण से ऐसा लेखन करता हो।

इसके अलावा हजरत अमीर ने ऐसी ऐसी रचनायें की हैं जिनकी स्वरावली बनाकर विभिन्न रागों की बंदिशों के रूप में गाया जा सकता है -

उदाहरण -

ऐ री सखी मोरे पिया घर आये।

भाग लगे इस आंगन को।।

मै तो खड़ी थी आस लगाये।

मेंहदी कजरा मांग सजाये।।

देख सूरतिया अपने पिया की।

हार गयी मै तन मन को।।

जिसका पिया संग बीते सावन।

उस विरहन की रैन सुहागन।।

जिस सावन में पिया घर नहीं।

आग लगे उस सावन को।।

कौल, तराना, गजल एवं कब्बाली के अलावा “रंग” के लिए भी हजरत अमीर प्रसिद्ध हैं। आज लगभग सभी समाजों का अंत रंग से ही होता है। रंग में खुसरो के पहले के जितने भी संत हुये हैं सबका जिक्र किया गया है -

आज रंग है री मां, रंग है री

मेरे महबूब के घर रंग है री।

मेहे पीर पायो निजामुद्दीन औलिया
निजामुद्दीन औलिया, अलाउद्दीन औलिया
अलाउद्दीन औलिया कुतुबुद्दीन औलिया
कुतुबुद्दीन औलिया, फरीउद्दीन औलिया
फरीदउद्दीन औलिया, मोइउद्दीन औलिया
मोइउद्दीन औलिया, मुँहउद्दीन औलिया
वे तो जब देखो मोरे संग है री ।।

जब हजरत अमीर अपने कलामो को महफिलो में पढ़ते थे तो हजरत निजामुद्दीन औलिया झूमने लगते थे। “सूफी संगीत” के रूप में जो संगीत आज प्रसिद्ध है वह अमीर खुसरो के द्वारा ही प्रस्फुटित हुआ है।

इसके पहले अन्य इस्लामिक देशो तुर्क, ईरान, यमन आदि में महफिले साधारण ही होती थी, परन्तु हजरत अमीर के प्रयोगो से महफिले तुर्क, यमन आदि देशों में संगीतमय होने लगी थी।

जिसका विरोध तब भी कट्टरपंथियों के द्वारा होता था और आज भी होता है।

महफिल ए समाओ में ख्याल गायकी भी प्रसिद्ध थी आज भी पारंपरिक कब्बालों जैसे हाजी असलम सावरी, फरीद अयाज़ अपने कार्यक्रमों में ख्याल भी पेश करते हैं।

कट्टरवादी मुस्लिम सूफियों से घृणा करते हैं हालहि में पाकिस्तान के गायक अमजद फरीद सावरी की गोली मारकर हत्या कर दी गयी थी।

भारतीय संगीत एवं सिलसिला ए चिश्ती का आपस में घनिष्ठ संबंध पहले भी था, आज भी है। हजरत अमीर के बाद चिश्ती सिलसिला एवं संगीत की धारा शुद्ध सरिता की भाँति वह रही है। हजरत अमीर के बाद आधुनिक काल में यह परंपरा बाबा ताजउद्दीन औलिया, हजरत दाउद सावरी (र.ह.) एवं हजरत मकरनशाह (र.ह.) ने आगे बढ़ायी।

सभी औलियाओ की दरगाह पर आज भी सालाना उर्स आयोजित होते हैं -

कब्बाली के आरंभिक दौर में यह इवादत का जरिया थी लेकिन धीरे-धीरे यह व्यवसाय बन गया सभी क्षेत्रों की भाँति इसमें भी बाजार बाद हावी हो गया आज के कुछ कब्बाल जिनका मैं नाम लेना उपर्युक्त नहीं समझता उनके कारण इस आध्यात्मिक गायन शैली में अश्लीलता प्रवेश कर गयी जिससे मौलवी वर्ग की संगीत के प्रति घृणा और भी बढ़ गयी।

लेकिन अभी भी कुछ कब्बाल ऐसे हैं जो कब्बाली एवं समाओ की परंपरा को जिंदा रखे हुये हैं।

भारतीय संस्कृति को सूफी सिलसिला ए चिश्ती के द्वारा अपनाया गया भारत के अलावा अन्य देशो की दरगाहों पर चादर, फूल एवं धूप आदि नहीं चढ़ाये जाते यह संस्कृति उन्होंने भारतीय संस्कृति से ही सीखी इस्लाम जो भारत में आज इतना फला-फूला है वह तलवार की नोंक पर नहीं बढ़ा बल्कि सुफियों के व्यवहार के कारण हिन्दुस्तान में इस्लाम छाया हुआ है।

अंत में यही कहना चाहूँगा यदि कट्टर इस्लाम सूफी को अपनी शाखा माने या न माने, विश्व को सूफी मत की आवश्यकता है क्योंकि सूफी बाद से ही आतंकवाद का अन्त होगा।

सन्दर्भ -

1. मुसलमान और भारतीय संगीत, सुलोचना चतुर्वेदी, आचार्य वृहस्पति), राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लि., प्रथम संस्करण, 1996 पृष्ठ, 96
2. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ, 311
3. वही पृष्ठ, 271
4. वही पृष्ठ, 287
5. वही पृष्ठ, 288
6. हिन्दी साहित्य सूफी भक्ति की प्रासंगिकता, डॉ. राजेन्द्र यादव, प्रकाशक आयुष पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ 2012
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. पूरनचंद टंडन, डॉ. विनीता कुमारी, प्रकाशन, जगताराम एण्ड संस, नई दिल्ली, पृष्ठ 122
8. हिन्दी साहित्य सूफी भक्ति की प्रासंगिकता, प्रकाशन, आयुष पब्लिकेशन हाऊस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2015, पृष्ठ 2012
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. पूरनचंद टंडन, डॉ. विनीता कुमारी, प्रकाशन जगताराम एण्ड संस नई दिल्ली, संस्करण, 2010 पृष्ठ 122
10. वही पृष्ठ, 122
11. वही पृष्ठ, 122
12. सूफी काव्य संग्रह, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संपादक, परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ, 01
13. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारी सिंह दिनकर, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ, 309
14. तानसेन खुसरो, व अन्य कलाकार, सुलोचना चतुर्वेदी, आचार्य वृहस्पति, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि.मि. नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1976 पृष्ठ 96

गोवा मुक्ति आन्दोलन में सागर की सहोदरा राय की भूमिका

बी.के. श्रीवास्तव

पुर्तगाली प्रथम यूरोपीय शक्ति थे जो भारत आये। भारत में प्रथम पुर्तगाली वायसराय फ्रांसिस्को-डी-अल्मीडा (1505-1509 ई.) था। भारत में पुर्तगाली साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक अल्फांसो-डी. अल्बुकर्क (1509-1515 ई.) को माना जाता है। अल्बुकर्क ने बीजापुर के शासक युसुफ आदिलशाह से 1510 ई. में गोआ छीन लिया।¹ भारत में पुर्तगाली शक्ति के स्थायित्व के लिये अल्बुकर्क ने 4 बिन्दु तय किये -

- (1) महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्रों पर नियंत्रण स्थापित करना।
- (2) स्थानीय निवासियों के साथ विवाह संबंध स्थापित कर एकता बढ़ाना।
- (3) नये दुर्गों का निर्माण करना।
- (4) स्थानीय व्यापारियों से अपने राजा के लिये उपहार प्राप्त करना।²

अल्बुकर्क के पश्चात भारत के पुर्तगाली गर्वनर नीनू-डी. कून्हा (1529-1538 ई.) ने 1530 ई. में कोचीन के स्थान पर गोआ को भारत के पुर्तगाली साम्राज्य की राजधानी बनाया। पुर्तगालियों ने 1534 में दिऊ एवं 1538 ई. में दमन पर भी अधिकार कर लिया।³ इनके साथ दादरा नगर हवेली को मिलाकर यह सम्पूर्ण क्षेत्र गोआ कहलाता था।

1600 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना के पश्चात भारत में ब्रिटिश शक्ति का आगमन हुआ। यद्यपि फ्रांस एवं डच भी भारत आये मगर भारत पर साम्राज्य की स्थापना अंग्रेजों ने की। 1947 में अंग्रेज तो भारत छोड़कर चले गये मगर गोआ पर पुर्तगाली शासन बना रहा। इस तरह भारत की स्वतंत्रता अधूरी रही।

1947 में भारत की स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार ने गोवा की मुक्ति हेतु पुर्तगाली सरकार से आग्रह किया। पुर्तगाल की राजधानी लिस्बन में एक भारतीय कार्यालय खोला। पुर्तगाली सरकार का रुख सकारात्मक न होकर कठोरतापूर्वक नकारात्मक था। इस कारण 11 जून 1953 को लिस्बन स्थित भारतीय कार्यालय बन्द कर दिया गया। पुर्तगाल के नाटो (NATO) सहयोगी ब्रिटेन एवं अमेरिका पुर्तगाल के विद्रोही तेवरों को हवा दे रहे थे।⁴ इन परिस्थितियों में स्पष्ट हो गया कि गोवा की मुक्ति हेतु संघर्ष अनिवार्य है। गोवा की आजादी के तारतम्य में मधु दंडवते ने एक भाषण में कहा था कि 'मुझे याद है राष्ट्रीय नेताओं ने कहा था कि गोवा की समस्या हमारे देश पर एक मामूली दाग है, जब देश आजाद हो जायेगा तो बिना विलम्ब गोवा भी आजाद होगा। नेहरू एवं गांधीजी ने कहा था कि भारत आजाद होने के बाद गोवा कैसे गुलाम रह सकता है। गुलामी आसानी से खत्म नहीं होती, आजादी आसानी से नहीं आती। उसके लिये जंग करने पड़े।'⁵

गोआ में पुर्तगालियों के खिलाफ 1510 के बाद से ही संघर्ष आरंभ हो गये थे। पुर्तगाली शासन ने गोवा की जनता पर अत्यधिक जुल्म डाय। गोवा को पुर्तगाली शासन से मुक्त कराने का बीड़ा प्रख्यात समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने उठाया। 18 जून 1946 को मडगाँव में राम मनोहर लोहिया ने एक विशाल आमसभा का आयोजन किया। करीब 20,000 की भीड़ द्वारा लोहिया की जय के गगनभेदी नारों से गोवा की पुर्तगाली सरकार काँप उठी। लोहिया के भाषण के पूर्व ही उन्हें पुलिस कमिश्नर ने गिरफ्तार कर लिया।⁶ लोहिया को पूर्व से ही गिरफ्तारी का अंदेश था अतः उन्होंने अपना छपा भाषण पहले ही जनता में बांट दिया। उसमें लिखा था - 'गोवा की जनता का दिल दर्द से भरा है। उनकी आँखें हिन्दुस्तान की ओर लगी हैं।... गोआ हिन्दुस्तान का हिस्सा है और मैं हिन्दुस्तानी हूँ... प्रत्येक हिन्दुस्तानी को गोमान्तकियों की सहायता करना चाहिये।'⁷ यह भाषण भारत के सभी अखबारों में छपा। इसका प्रभाव यह हुआ कि हर भारतीय गोवा की समस्या व वहाँ के संघर्ष से जुड़ गया। उधर गोवा की जनता ने पंजिम में लोहिया की गिरफ्तारी के विरोध में विशाल जुलूस निकाला। पंजिम म्युनिसिपल भवन के पास के चौक का नाम 'लोहिया चौक' रख दिया। यहाँ प्रत्येक दिन सभाएँ होने लगीं।⁸

महात्मा गांधी ने लोहिया का समर्थन किया। 26 जून 1946 को हरिजन में लेख लिख कर उन्होंने गोआ की जनता को अहिंसक संघर्ष हेतु प्रेरित किया।⁹ गोवा के बाहर भी गोवा मुक्ति हेतु भारत में सभाएँ होने लगीं। 30 जून 1946 को बम्बई के चौपाटी में लोहिया के नेतृत्व में सभा हुई।¹⁰

आशा थी कि भारत की स्वतंत्रता के पश्चात गोवा भी स्वतंत्र हो जावेगा। मगर ऐसा नहीं हुआ। अब गोवा की मुक्ति हेतु प्रयास हुये। गोवा के सभी राजनीतिक दलों ने पुर्तगाली अधिपत्य से मुक्ति बाबत 'गोवा मुक्ति सेना' का गठन किया। भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने गोवा मुक्ति में विशेष रुचि ली। पूना में 1954 में गोवा विमोचन सहायक समिति का गठन हुआ। इसके अध्यक्ष केशव राव जेथे, मंत्री एन. जी. गोदे, एवं सचिव जयंतराव तिलक (बाल गंगाधर तिलक के ज्येष्ठ पोत्र) थे।¹¹ गोवा मुक्ति सेना एवं गोवा विमोचन सहायक समिति ने भारत के लोगों से गोवा मुक्ति संग्राम में भाग लेने की अपील की।

15 अगस्त 1955 को गोवा में सामूहिक सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। भारत के कौने-कौने से लोग गोवा मुक्ति आन्दोलन में भाग लेने जत्थों के रूप में पहुँचने लगे। मध्य प्रांत से भी सत्याग्रह में भाग लेने लोग पहुँचे। सागर जिला भी पीछे नहीं रहा।

सागर जिले से भी अनेक देशभक्त गोवा मुक्ति आन्दोलन में भाग लेने गोवा गये।¹²

1. श्री मणिलाल चांडक
2. श्रीमति सहोदरा बाई राय
3. श्री किशोरीलाल
4. श्री भगोली उर्फ भगवानदास रजक
5. श्री बाबूलाल तिवारी
6. श्री किशोरीलाल जैन
7. श्री सुन्दरलाल श्रीवास्तव
8. श्री बेधड़क रामसिंह चौहान
9. श्री नर्मदा प्रसाद राय
10. श्री केशरीचन्द्र मेहता (राहतगढ़)

सागर से गोवा जाने वाले सबसे पहले सत्याग्रही सागर के बरियाघाट के निवासी श्री भोलानाथ तिवारी पुरोहित थे। इनके पिता का नाम भवानी प्रसाद था। श्री भोलानाथ जी ने गोवा जाकर 14 जुलाई 1955 को गोवा सत्याग्रह में भाग लिया।¹³ श्री नांदेड़कर जी के नेतृत्व में गोवा विमोचन समिति के 108 सदस्यीय जत्था 14 जुलाई 1955 को गोवा में सत्याग्रह करने हेतु भेजा था।¹⁴

इसके पश्चात् उपरोक्त 10 सत्याग्रहियों का जत्था सागर से गोवा जाने के लिये तैयार हुआ। इनमें कर्नापुर की सहोदरा बाई राय भी शामिल थी। वे हाथ में तिरंगा झण्डा लिये हुये थीं। तत्कालीन जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष स्वामी कृष्णानंद ने उनसे कहा-‘सहोदरा झण्डे की इज्जत तुम्हारे हाथ है, उसकी लाज रखना’ उनके ऐसा कहने पर सहोदरा बाई ने पूरे आत्म विश्वास एवं जोश में कहा - ‘तुम सुन लियो’।¹⁵

श्री केशरीचन्द्र मेहता के जीवन परिचय की जानकारी के अनुसार 15 अगस्त 1955 को बोंदा जिले के पात्रा देवी केन्द्र से इस जत्थे ने गोवा की सीमा में प्रवेश के प्रयास किये।¹⁶ इस जत्थे में 500 सत्याग्रही थी। इन सत्याग्रहियों के जत्थे का नेतृत्व महाराष्ट्र के कम्युनिष्ट नेता श्री वी.डी. चितले कर रहे थे। स्वयं सेवकों के समूह ने सावंतवाड़ी से होकर गोवा की सीमा में प्रवेश किया। सबसे आगे प्रांतीय नेता बसंत राव कामरेड, चितले, राजा भाऊ आदि चल रहे थे। पात्रा देवी केन्द्र के पास ही पुलिस चौकी थी। इस जत्थे पर गोवा पुलिस ने गोलीबारी आरम्भ कर दी। गोली से श्री चितले घायल होकर गिरने वाले थे। उसी समय जत्थे के एक सदस्य सरदार करनैल सिंह ने चितले के हाथ से तिरंगा झण्डा ले लिया, उसी क्षण एक गोली करनैल सिंह को लगी। उनके नीचे गिरने के पहले ही मधुकर चौधरी ने तिरंगा थाम लिया। पुलिस की गोली मधुकर को लगी तब राजाभाऊ महाकाल ने तिरंगा थाम लिया। पुर्तगाली सैनिक ताक-ताक कर गोलियाँ चला रहे थे। सत्याग्रहियों की वीरता, साहस एवं निर्भीकता की दाद देनी पड़ेगी कि वे झण्डे को गिरने नहीं दे रहे थे। पुलिस ने राजाभाऊ पर गोली चलाई। जब राजा भाऊ के हाथ से तिरंगा गिरने वाला था उसी समय कर्नापुर की वीरांगना तेजी से भागती हुई आयी और गिरते हुये तिरंगे को थाम लिया। पुर्तगाली सैनिक ने सहोदरा राय पर गोली दागी। गोली उनके पैर की पिण्डली को छीलते हुये गजर गई। खून निकलने लगा। सहोदरा ने इसकी परवाह न करते हुए ‘भारत माता की जय’ का नारा लगाया। तभी एक और गोली चली तो सहोदरा राय के दाहिने कंधे में जा लगी। तब सहोदरा राय ने झण्डा अपने बायें हाथ में थाम लिया। तिरंगा फहराते हुए आगे बढ़ी। तब पुर्तगाली सैनिक ने तीसरी गोली चलाई जो सहोदरा राय के पेट में लगी। वे मुर्छित होकर गिर पड़ी।¹⁷ झण्डे को उन्होंने गिरते समय कंधे की काँख में लगा लिया। इस प्रकार वह वीरांगना तो घायल होकर गिर गयी, मगर झण्डे को गिरने नहीं दिया। उन्हें अमेरिकी फोटो ग्राफरों ने ले जाकर बेलगाँव के अस्पताल में भर्ती कराया। उनकी बहादुरी की चर्चा हर जुवान पर होने लगी। समाचार पत्रों में उनकी इस बहादुरी का कारनामा प्रमुखता से छापा। बेलगाँव की जनता ने उनकी वीरता के लिये उन्हें स्वर्ण पदक दिया।¹⁸

चूँकि सहोदरा राय गम्भीर रूप से घायल हो गई थी अतः उन्हें पूना अस्पताल ले जाया गया। यहाँ उनके पेट का सफल ऑपरेशन कर गोली को निकाला गया। भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू को जब इस घटना की जानकारी मिली तो वे स्वयं पूना के अस्पताल में उन्हें देखने आये। चूँकि अभी भी सहोदरा राय की हालत गंभीर थी अतः जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें नागपुर के अस्पताल में शिफ्ट कराया। यहाँ पूना से बेहतर चिकित्सा सुविधायें मौजूद थीं। उनके पेट की आंतों में गोली के कारण जख्म हो गये थे, वे इस कारण कुछ खा भी नहीं सकती थीं। धीरे-धीरे नागपुर के इलाज से वे स्वस्थ हो गई। उनके स्वस्थ होने पर सागर सहित समस्त देश में हर्ष की लहर दौड़ गई। नेहरू जी ने पूना अस्पताल में सहोदरा राय से भेंट के दौरान कहा था कि - ‘बहन तू तो गोवा संग्राम की वीरांगना लक्ष्मीबाई है। तुझ जैसी वीर महिला पर सारे संसार को गर्व है।’¹⁹ मध्यप्रदेश विधानसभा के तत्कालीन अध्यक्ष पं. कुन्जीलाल दुबे ने भी सहोदरा राय की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।²⁰

दैनिक समाचार पत्र 'केशरी' ने सहोदरा राय की प्रशंसा करते हुए 'वांधा ची वीरांगना सहोदरादेवी' शीर्षक से समाचार प्रकाशित किया। इसमें बताया कि 10 अगस्त 1955 को गोवा प्रस्थान करते समय सागर जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष स्वामी कृष्णानंद ने झण्डे की लाज रखने बावत् सहोदरा राय से जो बात कही थी, सहोदरा राय ने अपना वचन निभाया और प्राणों की परवाह न करते हुए भारत की शान तिरंगे झण्डे की लाज रख ली। सहोदरा ने भी मुस्कराकर उत्तर दिया था कि 'तुम सुन लियो'।²¹ सहोदरा के यह वचन इतने सत्य साबित हुये कि झण्डे की लाज रखने की बात स्वामी कृष्णानंद के साथ-साथ समस्त भारत ने धमाकेदार तरीके से सुन ली।

सहोदरा राय ने रानी लक्ष्मीबाई की याद ताजा कर दी। ग्वालियर में 17 जून 1858 को रानी लक्ष्मीबाई मुंह में घोड़े की लगाम लिये दोनों हाथों में तलवार लिये अंग्रेजों के विरुद्ध बहादुरी का परिचय देते हुये स्वर्ग सिधार गईं। वैसी ही बहादुरी का, शौर्य का, निर्भीकता का परिचय सहोदरा राय ने तिरंगे झण्डे की लाज रखने के लिये दिया। उनके इस कृतित्व को जब समाचार पत्रों ने अपनी सुर्खियां बनाया तो सारा भारत यह जानने के लिये बेताव हो उठा कि आखिर कौन है, यह वीरांगना सहोदरा राय। किस मिट्टी ने ऐसी वीरांगना को जन्म दिया।

सहोदरा राय का जीवन परिचय

इस वीरांगना को जन्म दिया था बुन्देलखण्ड की माटी ने। इस वीरांगना ने लोकनाथ द्विवेदी द्वारा बुन्देलों के साहस की इन पंक्तियों को सच कर दिखाया।

खंडित मान बुन्देलखण्ड को, जब अनुमानौ।

साहस हारें वीर बुन्देले, जब मैं जानौं।²²

इन पंक्तियों को गोवा में अपने साहस से सच कर दिखाने वाली सहोदरा राय का जन्म 30 अप्रैल 1919 को दमोह जिले के एक छोटे से गाँव बोथराई में हुआ था। बोथराई पथरिया रेल्वे स्टेशन से कुछ दूरी पर स्थित है। इनके पिता नीरेन सिंह खंगार क्षत्रिय समाज के साधारण किसान थे। सहोदरा राय का मूल नाम सुखरानी था। सुखरानी का पारिवारिक जीवन तो सुखी नहीं रहा, मगर उन्होंने समाज सेवा कर लोगों को जरूर सुखी किया।²³

सहोदरा राय को रानी लक्ष्मीबाई की तरह ही बचपन में पुरुषोचित खेल पसन्द थे। कबड्डी खेलना, पेड़ों पर चढ़ना, गिल्ली डंडा, लंगड़ी दौड़, तैराकी एवं पेड़ों पर चढ़ना सहोदरा राय के प्रिय खेल थे। एक और प्रमुख बात यह भी थी उन्हें बचपन से ही तलवार लेकर घूमना एवं तलवार चलाना पसंद था। उन्होंने एक सहेली सेना भी बनाई थी। गाँव के लोग उसे सहोदरा सेना भी कहते थे। जब भी कोई घटना प्रदर्शन होता था तब यह 'सहोदरा सेना' सबसे पहले पहुंचती थी। जुलूस एवं प्रभातफेरी में भी यह 'सहोदरा सेना' सबसे आगे रहती थी।²⁴ सागर में भी 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौरान छोटी लड़कियों की एक सभा 'दुर्गा सेना' नाम से थी।²⁵

11-15 वर्ष की आयु में सहोदरा राय का विवाह दमोह जिले के खजरी ग्राम के खंगार क्षत्रिय परिवार के श्री मुरलीधर के साथ सम्पन्न हुआ। मुरलीधर उन्हें बहुत चाहते थे। राजनीतिक गतिविधियों में उनका सहयोग करते थे। उनका उत्साह बढ़ाते थे।²⁶ सुखरानी की किस्मत में पति का प्यार अधिक दिन के लिये नहीं लिखा था। किसी अज्ञात बीमारी के कारण मुरलीधर का देहान्त हो गया। पति के देहान्त के बाद उन्होंने बहुत कुछ सहा। इन परेशानियों ने उन्हें मजबूती प्रदान की। वे पुरुषों के समान वेशभूषा रखने लगी। सिर में साफा,

कांछ वाली धोती पहनने लगीं। साथ में छोटी तलवार रखने लगीं। वे कहती थी अगर एक खंगार की बेटी खड़ग धारण नहीं करेगी तो कौन करेगा।²⁷ कतिपय कारणों से उन्होंने ससुराल का परित्याग कर दिया। अपनी बड़ी बहन के पास करारपुर आकर रहने लगीं। यहां महिलायें अधिक संख्या में बीड़ी बनाती थी। वह भी बीड़ी बनाने में उनकी मदद करने लगी। उन्होंने बीड़ी बनाने वालों के हक की लड़ाई लड़ी। बीड़ी मालिकों द्वारा उन्हें वाजिव धन राशि दिलाई।²⁸

सेवा को वह अपना परम धर्म मानती थी। उन्होंने कुछ समय करारपुर में डॉ. लक्ष्मीनारायण सिलाकारी के अस्पताल में नौकरी की। आजादी के बाद इसीलिये उन्हें सागर तालाब के सामने स्थित डफरिन अस्पताल में भी नौकरी मिल गई। एक बार किसी डॉक्टर के कुछ अपमान जनक कहने पर स्वाभिमानी सहोदरा राय ने उस डॉक्टर की पिटाई की और नौकरी छोड़ दी।²⁹

सहोदरा राय काँग्रेस की एक सक्रिय कार्यकर्ता बन गई। करारपुर से वह अक्सर सागर आया करती थी। 1904 में बसंत पंचमी के दिन सागर में सरस्वती वाचनालय की स्थापना हुई। उस समय यह वाचनालय खपरैल से आच्छादित एक साधारण सा मकान था। अब यहाँ एक विशाल भवन बन गया है। उस समय यह काँग्रेस का कार्यालय एवं स्वाधीनता संग्राम सेनानियों के मिलने का केन्द्र था। इस वाचनालय की स्थापना का मूल उद्देश्य देश भक्ति का प्रचार-प्रसार होने के साथ-साथ लोगों को देशभक्ति से परिपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराना था।³⁰ आज इस वाचनालय में प्राचीन ग्रंथ, गजेटियर एवं पाण्डुलियाँ मौजूद हैं। सहोदरा राय का इस वाचनालय से गहरा रिश्ता रहा। वे अक्सर यहीं रुकती थीं। सागर प्रवास के दौरान यह वाचनालय उनके निजी निवास की तरह होता था।³¹

सहोदरा बाई राय गांधीजी से काफी प्रभावित थी। उन्होंने गांधी जी की तरह हरिजन उद्धार के लिये काफी काम किया। वे अक्सर हरिजन बस्ती में जाया करती थीं। वे उन्हें शैक्षिक एवं आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाना चाहती थीं। उन्होंने हरिजन युवकों से संगठित होकर शिक्षित होने का आह्वान किया। यदि कोई हरिजनों पर अत्याचार करता था तो उसे सहोदरा राय का कोप भाजन बनना पड़ता था।

1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में सहोदरा बाई राय ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। इस दौरान लोगों ने तोड़-फोड़, आगजनी एवं सरकारी संपत्ति को क्षति पहुंचाई। रेल लाइनों को क्षतिग्रस्त किया गया एवं टेलीफोन के तार काटे। इसी आरोप में सहोदरा राय, रघुवर प्रसाद मोदी, गोपाल कृष्ण आजाद, महेश दत्त दुबे, नारायण श्रीवास्तव, गोपीलाल श्रीवास्तव सहित लगभग सोलह सौ सत्याग्रही जेल गये।³² सहोदरा राय को 6 माह के कारावास की सजा दी गई थी।

सहोदरा राय सामाजिक समरसता के साथ-साथ हिन्दू-मुस्लिम एकता की भी प्रबल पक्षधर थी। 1945 में साम्प्रदायिक दंगे भड़के थे। गांधीजी के आह्वान पर सहोदरा राय अपनी जान की परवाह किये बिना बंगाल के दंगाग्रस्त इलाके नोवाखली भी गई थी। घर-घर जाकर उन्होंने लोगों से साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने की अपील की थी। गांधीजी भी उनकी निडरता एवं साहस से प्रभावित हुये।³³

विभाजन के साथ 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। सिंध प्रान्त के विस्थापितों का पुनर्वसन सरकार के सामने एक बड़ी चुनौती था। सिंध प्रान्त से विस्थापित लोग सागर भी आये। सागर में सहोदरा राय ने उनकी मदद की। उनके प्रयासों से पहले सिंधियों को सिविल लाइन्स में अस्थायी आवास मिला। बाद में स्थायी रूप से बसने हेतु सिंधी कैम्प का इंतजाम किया गया। आज वहीं पर सिंधी कालोनी बस चुकी है।³⁴ इस तरह सहोदरा बाई राय सागर एवं आसपास अत्यधिक लोकप्रिय हो चुकीं थीं। लोग उन्हें प्यार से

मौसी कहकर पुकारने लगे। भारत तो आजाद हो गया, मगर गोवा अभी भी पुर्तगाली कब्जे में था। मौसी गोवा की गुलामी को भारत के लिये कलंक मानती थी। गोवा जाने के लिये कार्यकर्ताओं को अहिंसा का प्रशिक्षण सहोदरा राय द्वारा दिया गया। बाद में स्वयं भी 1955 में गोवा गई और अहिंसा व्रत पालन के साथ तिरंगे झण्डे के मान की रक्षा हेतु प्राणों पर खेल गई। इस घटना ने उन्हें सारे देश में ख्याति दिला दी। स्वयं प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू उनसे पूना के अस्पताल में मिलने आये। सहोदरा राय के स्वस्थ होने पर नेहरू जी ने उन्हें राजनीति की मुख्य धारा में लाने के लिए 1957 में सागर लोकसभा सीट पर प्रत्याशी घोषित किया। उन्होंने इस चुनाव में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। 1962 में दमोह लोकसभा क्षेत्र से सांसद बनी। 1971 में पुनः सागर लोकसभा सीट से सांसद बनी। 1980 में एक बार पुनः चौथी बार सागर लोकसभा की सांसद बनी। संसद में भी वे मौसी के नाम से विख्यात थीं। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी भी उन्हें बहुत चाहती थीं। वे भी इन्दिरा गांधी से इन्दूजी कहती थीं।

जहाँ आम चुनावों में विभिन्न पार्टियां अपना प्रत्याशी एन मौके पर घोषित करतीं हैं, वहीं 1980 के लोकसभा चुनाव के लिये इंदिरा गांधी ने एक वर्ष पहले से ही सहोदरा बाई राय को सागर संसदीय क्षेत्र से कांग्रेस का प्रत्याशी घोषित कर दिया था। 27 नवम्बर 1979 को इन्दरा जी सागर आयीं एवं कजलीवन मैदान में आमसभा की। सभा के दौरान ही उन्होंने सहोदरा बाई राय का हाथ पकड़कर कहा कि ये सागर से चुनाव लड़ेंगी।

इंदिरा गांधी चुनाव के दौरान भी प्रचार कार्य के लिये सागर आयीं। वर्तमान सांसद श्री लक्ष्मीनारायण यादव ने दैनिक भास्कर के संवाददाता को बताया कि सभा में भाषण समाप्त कर इंदिरा गांधी बैठने ही जा रहीं थी उसी समय सहोदरा बाई ने इंदिरा जी के पास जाकर कहा 'बड़ी बिन्ना अमाओ नांव तो लै दो। कै दो कि हमइखों जितइयो।' ³⁵ तब उपस्थित जनता तालियां बजाकर हंस पड़ी। इंदिरा गांधी ने लोगों से सहोदरा बाई को जिताने की अपील ही नहीं कि अपितु उनकी प्रशंसा भी लोगों के सामने की। वस्तुतः इमरजेंसी के पश्चात् 1977 में हुए लोकसभा चुनाव में जनता पार्टी के उम्मीदवार नर्मदा प्रसाद राय ने सहोदरा राय को परास्त कर दिया था इसीलिए सहोदरा राय को इंदिरा गांधी से कहना पड़ा कि वह उन्हें जिताने का जनता से अनुरोध करें। 1980 के इस चुनाव में सहोदरा राय ने नर्मदा प्रसाद राय को परास्त कर भारी बहुमत से विजय प्राप्त की। इस तरह सहोदरा राय ने चार बार जीतकर संसद में प्रतिनिधित्व किया।

सांसद बनने के बाद सहोदरा राय दिल्ली में पहले नार्थ ब्लॉक में रहीं। दूसरी बार चुने जाने के बाद साउथ ब्लॉक में रहीं। करारपुर की छोटी बाई राय एवं सरोज राय उनके साथ उनके सहयोग हेतु रहीं। इन दोनों को वह अपनी भतीजी मानती थीं। ³⁶ सहोदरा राय नंगे पैर रहकर लोगों की सेवा करती थीं। ³⁷

सुखरानी बाई उर्फ सहोदरा राय लोगों को तो सदैव सुख बांटती रहीं। महिलाएं, हरिजन एवं सिंधी समाज तो सदा उनका गुणगान करता रहता था। उन्हें अपार स्नेह, प्यार व सम्मान देता था। सहोदरा राय ने एक सुन्दर-सी लड़की उत्तरा को गोद लिया। धूमधाम से उसका विवाह रघुवीर नामक युवक से कराया। उनके बच्चे भी हुये। सहोदरा राय नानी भी बनी। सहोदरा राय इन सभी को अत्यन्त प्यार करती थीं। मगर विधाता को कुछ और ही मंजूर था। उत्तरा एवं उसके बच्चे जीवित नहीं रहे। इसी गम में उसका पति रघुवीर भी चल बसा। दूसरों के जीवन में सुख की वर्षा करने वाली सुखरानी उर्फ सहोदरा राय को पारिवारिक जीवन में सुख नसीब नहीं हुआ। अपनी प्यारी स्वर्गीय बेटी उत्तरा की याद को शाश्वत् रखने के लिये करारपुर में अपने खेत में सहोदरा राय ने उसका एक स्मारक बनवाया। ³⁸

स्वयं का परिवार न रहने पर भी सहोदरा राय ने हिम्मत नहीं हारी। हर बेसहारा, दीन-दुखी, शोषित, गरीब को वह अपना परिवार मानने लगीं। पूना अस्पताल में पं. जवाहर लाल नेहरू उनसे मिलने आये, उन्होंने सहोदरा राय से पूछा कि परिवार में कौन-कौन है। तब सहोदरा राय ने कहा कि परिवार के नाम पर मेरा तो कोई नहीं है परन्तु सारा भारत देश मेरा परिवार है। वास्तव में उन्होंने जो कहा वह सच कर दिखाया। सारे भारत को वह अपना परिवार मानने लगीं। देश सेवा को ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। माता-पिता, पति, दत्तक पुत्री, धेवतों एवं दामाद सभी एक के बाद एक उनके सामने दुनिया छोड़ते रहे। एक के बाद एक उनके ऊपर दुख के पहाड़ टूटते रहे। इतने सब तूफानों का सामना उन्होंने चट्टान की तरह मजबूत बनकर किया। अन्त में एक और मुसीबत कैंसर रोग के रूप में उनके जीवन में आयी। जीवनभर संघर्ष करने वाली सहोदरा राय को अपने अंतिम समय में कैंसर से संघर्ष करना पड़ा। इसी संघर्ष में 27 मार्च 1981 को कराँपुर में उनका स्वर्गवास हो गया। सहोदरा राय ने दुनिया भले ही छोड़ दी, मगर आज भी वह समस्त सागर वासियों के दिलों में बसती हैं। सागर ही नहीं समस्त बुन्देलखण्ड इस बात पर गर्व करता है कि सहोदरा बाई राय जैसी महान् वीरांगना ने उसकी मिट्टी में जन्म लिया।

झांसी की रानी की तरह सहोदरा राय बचपन में पुरुषोचित खेल खेलीं। तलवार चलाना सीखा। झांसी की रानी तो मातृ सुख से ही वंचित रहीं, सहोदरा राय को तो मातृ एवं पितृ दोनों सुखों से वंचित रहना पड़ा। दोनों के पति बीमारी के कारण जीवित न रह सके। इसके बावजूद भी दोनों ने हिम्मत नहीं हारी। रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों से डटकर संघर्ष किया। सहोदरा राय गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत पर अमल करती थीं। अतः पुर्तगाली गोलियों की बौछारों का सामना करते हुए भारत की शान तिरंगे झण्डे के मान की रक्षा के लिये प्राणों पर खेल गई। दोनों ही वीरांगनाओं ने अपनी बहादुरी से बुन्देलखण्ड की कीर्ति को विश्व स्तर पर पहुंचाया। इन दोनों के कारण ही आज हम बुन्देलखण्ड वासियों का सिर गर्व से ऊंचा रहता है। सागर के लोग दोनों को ही बहुत चाहते हैं। रानी लक्ष्मीबाई के नाम पर डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय में गर्ल्स हास्टल है तो सहोदराबाई राय के नाम पर शासकीय पॉलिटेक्निक महाविद्यालय स्थापित है। दोनों को ही सागर नगर की यह महत्वपूर्ण श्रद्धांजलि है।

पुर्तगाल में सत्याग्रहियों के दमन चक्र की जवाहरलाल नेहरू ने भर्तस्ना की। उन्होंने गोवा मुक्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जनमत तैयार किया। भारत सरकार ने गोवा मुक्ति हेतु 'आपरेशन विजय' आरंभ किया। नेहरू जी ने 17 दिसम्बर 1961 को जनरल जे.एम. चौधरी के नेतृत्व में भारतीय सेना को गोवा में प्रवेश का आदेश दिया। गोवा के गवर्नर जनरल ने आत्म समर्पण कर दिया। इस तरह गोवा स्वतंत्र हो गया। उसे केन्द्रशासित प्रदेश बनाया गया। 12 अगस्त 1987 को गोवा को राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि राम मनोहर लोहिया ने गोवा मुक्ति हेतु समस्त भारत को प्रेरित किया। जब समस्त भारत से सत्याग्रही गोवा जा रहे थे तो सागर जिला भी पीछे नहीं रहा। सागर की सहोदरा राय, केसरी चन्द मेहता, भोलानाथ पुरोहित, किशोरी लाल जैन, सुन्दरलाल श्रीवास्तव, बेधड़क राम सिंह चौहान, नर्मदा प्रसाद राय, चाणक मलिक लाल, भगवान दास रजक, एवं बाबूलाल तिवारी आदि ने गोवा पहुँचकर गोवा मुक्ति संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इनमें से सहोदरा राय ने गोवा में तिरंगा झण्डा फहरा कर सागर का ही नहीं अपितु समस्त बुन्देलखण्ड का नाम रोशन कर दिया।

सन्दर्भ -

1. एल.पी. माथुर, आधुनिक भारत का इतिहास, जैन पुस्तक मंदिर, जयपुर, 1992-93, पृ. 3
2. एल.पी. शर्मा, आधुनिक भारत, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1971, पृ. 59
3. विद्याधर महाजन, आधुनिक भारत का इतिहास, एम. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली, 1993, पृ. 127
4. एल.पी. शर्मा, पूर्वोक्त, पृ. 488
5. अखिल भारतीय गोवा स्वतंत्रता संग्राम सैनिक संघ के तृतीय अधिवेशन, नई दिल्ली के उद्घाटन अवसर पर मधु दण्डवते का भाषण, जुलाई, 2000, स्मरणिका
6. ओंकार शरद, लोहिया, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 125
7. वही, पृ. 125-26
8. वही, पृ. 126
9. वही, पृ. 127
10. वही, पृ. 128
11. आनंद खांडेकर, 'गोवा मुक्ति संघर्ष : सिंहावलोकन', स्मरणिका, अखिल भारतीय गोवा सत्याग्रही अधिवेशन, पुणे, 1 अप्रैल, 2000, पृ. 103
12. आर.एन. श्रीवास्तव, गोवा सत्याग्रह : मध्यप्रदेश के सत्याग्रहियों के संदर्भ में, बी.आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन, दिल्ली, 2018, पृ. 158
13. श्री चन्द्रभन राय, जबलपुर (गोवा सत्याग्रही) पूर्व अध्यक्ष गोवा, स्वतंत्रता संग्राम सेनानी संघ, मध्यप्रदेश से प्राप्त सूची एवं मध्यप्रदेश शासन, सामान्य प्रशासन विभाग, बल्लभ भवन, भोपाल एफ.-14-6/96/1/13, दिनांक 18 अप्रैल 2000
14. श्री जे.एस. तिलक, सचिव, गोवा विमोचन समिति पुणे का सूची पत्र 26.11.1984 (पाण्डुलिपि), आर.एन. श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृ. 50 से उद्धृत
15. माखनलाल चतुर्वेदी, (सं.) कर्मवीर, 27 अगस्त 1955
16. आर.एन. श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृ. 50
17. इण्डियन एक्सप्रेस, बाम्बे, 17 अगस्त 1955
18. कर्मवीर, 27 अगस्त 1955
19. आर.एन. श्रीवास्तव, पूर्वोक्त, पृ. 51
20. कर्मवीर, 27 अगस्त 1955
21. केशरी, पुना, 28 अगस्त 1955, पृ. 4
22. बलभद्र तिवारी, बुन्देली लोक काव्य, भाग-2, बुन्देली पीठ, सागर, 1979, पृ. 235
23. शालिनी सक्सेना, स्वाधीनता आन्दोलन में मध्यप्रांत की महिलाएं, स्वराज संस्थान, भोपाल, 2001, पृ. 110
24. राम औतार सिंह खंगार, गोवा संग्राम वीरांगना सहोदरा बाई राय, व्ही.एल. मीडिया सोल्यूशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 22
25. रंजना दुबे, स्वाधीनता आन्दोलन और मध्यप्रदेश, सत्येन्द्र प्रकाशन इलाहाबाद, 2011, पृ. 124
26. शालिनी सक्सेना, पूर्वोक्त, पृ. 110
27. राम औतार सिंह खंगार, पूर्वोक्त, पृ. 24
28. वही, पृ. 28
29. वही, पृ. 35
30. रंजना दुबे, पूर्वोक्त, पृ. 94
31. राम औतार सिंह खंगार, पूर्वोक्त, पृ. 65
32. रंजना दुबे, पूर्वोक्त, पृ. 227
33. राम औतार सिंह खंगार, पूर्वोक्त, पृ. 32
34. वही, पृ. 33
35. दैनिक भास्कर, सागर, संस्करण, 7 अप्रैल 2019, पृ. 2
36. राम औतार सिंह खंगार, पूर्वोक्त, पृ. 60
37. वही, पृ. 58
38. वही, पृ. 64

रामविलास शर्मा की इतिहास दृष्टि

आशुतोष

इतिहास पढ़ने का आनंद नहीं, इतिहास को बदलने का आनन्द इतिहास में दर्ज होता है। इतिहास बदलने की प्रक्रिया में इतिहास के आधारभूत तथ्य नहीं बदलते लेकिन इतिहासकारों द्वारा उन पर दिया जाने वाला बलाघात अवश्य बदल सकता है। इसीलिए इतिहास की नयी व्याख्याएँ और उनका नये सिरे से पुनर्गठन संभव हो पाता है। यह भी कि इतिहास, तथ्यों का सिलसिला नहीं होता, बल्कि उन तथ्यों के महत्व से निर्मित होता है। इतिहासकार इन्हीं तथ्यों को पुनर्व्याख्यायित करता है तो उन तथ्यों से निर्मित ऐतिहासिक ढाँचे में परिवर्तन होता है और एक नई ऐतिहासिक चेतना निर्मित होती है।

रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य का कोई व्यवस्थित इतिहास नलिखने के बावजूद न केवल अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से भिन्न हैं बल्कि इतिहास लेखन के इतिहास से गुजरने के लिए एक अनिवार्य विचारक हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में शुक्लजी के महत्व को स्वीकारते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं कि - “शुक्लजी अपने समय में तो इतिहास लेखन में दिग्विजयी हुए ही थे, उसके बाद उनका काल विभाजन या हिन्दी साहित्य की मुख्य धाराओं का विभाजन-बहुत कुछ अपने मूल रूप में कायम है। कुछ लोगों ने जोर बहुत लगाया लेकिन शुक्ल जी की कायम की हुयी व्यवस्था टस सेमस न हुयी। वीरगाथा, निर्गुण और सगुण भक्ति, प्रेम कथानक और रीतिकाव्य, भारतेन्दु युग और छायावाद आदि का सिलसिला अब भी चला आता है।” शुक्ल जी के इतिहास पद्धति से इतनी दूर तक सहमत होते हुए भी रामविलास शर्मा शुक्ल जी द्वारा निर्मित ऐतिहासिक ढाँचे से टकराते हैं। डॉ. शर्मा का मानना है कि-“सही प्रश्न प्रस्तुत करना स्वयं में एक उपलब्धि है। ऐसे प्रश्न प्रस्तुत करने का अर्थ है पुराने इतिहास लेखन की आलोचना करना। इस आलोचना का अर्थ है नये इतिहास लेखन की जमीन तैयार करना।” रामविलास जी ‘दिग्विजयी’ इतिहासकार शुक्लजी के ऐतिहासिक ढाँचे पर सवाल उठाते हैं। बेशक वे सवाल सही हैं। बकौल नित्यानंद तिवारी कि-“शुक्ल जी के इतिहास के ढाँचे से टकराने वाले केवल दो ही नाम हैं - पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा। एक तीसरा नाम श्री शिवदानसिंह चौहान का भी है, लेकिन किसी ऐतिहासिक ढाँचे से टकराने के बजाय हड़बड़ी में वे इतिहास से ही टकरा गये।” शुक्ल जी और द्विवेदी जी जैसे इतिहासकारों की चिंता का केन्द्र भक्ति साहित्य रहा है। शुक्ल जी ‘लोकप्रवृत्ति’ और ‘प्रसिद्धि’ तथा द्विवेदी के ‘अन्तर्विरोध’ और परम्परा के आधार का सर्वाधिक उपयोग भक्ति काव्य के सन्दर्भ में हुआ है। ये आधार इनकी आलोचना पद्धति और साहित्यिक मूल्यांकन के भी आधार प्रस्तुत करते हैं। ये दोनों इतिहासकार अपने युग और समय के खास दबाव के बीच हिन्दी साहित्य की पहचान की

ऐतिहासिक भूमिका निर्मित कर रहे थे। जिसमें सर्वाधिक सहायता इन्हें भक्ति साहित्य से ही मिली। भक्ति साहित्य शास्त्रवाद को तोड़ता तो था ही साथ ही शुक्लजी के 'लोकप्रवृत्ति' के सिद्धान्त तथा द्विवेदी जी के 'भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक परिणाम और वास्तविक प्रतिनिधि का प्रबल साक्ष्य प्रस्तुत करता है। अपने सवालों का जवाब आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में दिया और द्विवेदी जी का इतिहास उनके अपने समय के सवालों का जवाब है। द्विवेदी जी के बाद ऐसे सवाल जो साहित्यिक इतिहास के तथ्यों, श्रोतों और सन्दर्भों को नये सिरे से विश्लेषित और व्याख्यायित करने के लिए प्रेरित करते हैं, वे रामविलास शर्मा के लेखन में व्यवस्थित रूप से दिखाई पड़ते हैं।

हिन्दी भाषी जातीयता का विकास कब, कैसे और किन परिस्थितियों के बीच हुआ, या होता रहा तथा हिन्दी भाषा और साहित्य से इसका क्या रिश्ता है। ये सवाल अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से सर्वथा भिन्न हैं। रामविलास जी के लेखन में यह एक वाजिब सवाल है कि भिन्न समूहों, समुदायों, भिन्न धर्मावलंबियों एवं भिन्न भाषा-भाषियों वाली जातियों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक समस्याएं समान हैं तो क्या वे किसी एक अन्तर्जातीय (राष्ट्रीय) इकाई में विकसित होते हुए पहचाने जा सकते हैं? भारत जैसे देश की यह एक केन्द्रीय समस्या है। इस प्रश्न से टकराए बगैर उस भारत की संकल्पना निर्मित नहीं हो सकती जिसमें विभिन्न धर्मों और भाषा-भाषी जातियां एक साथ रहते हुए कुछ सामान्य विशेषताएं विकसित कर चुकी हैं जिन्हें अन्तर्जातीय या राष्ट्रीय धारणा के रूप में पहचाना जा सकता है। इन सामान्य विशेषताओं के प्रमाण यदि हिन्दुस्तान के पिछले इतिहास में मिलते हों तो उनसे आधुनिक भारत के इतिहास के पुनर्निर्माण में सहायता ले सकते हैं, और इतिहास के ढांचे को पुनर्गठित कर सकते हैं।

रामविलास शर्मा के इतिहास लेखन में यह विशिष्ट निष्कर्ष निहित है कि हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास ही नहीं, किसी भी भारतीय भाषा और साहित्य का इतिहास इस समस्या से टकराए बिना नहीं लिखा जा सकता।

डॉ. शर्मा की इतिहास-दृष्टि इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या से निर्मित है, फिर भी वे अनेक स्थानों पर ठेठ मार्क्सवादी विचारकों से अलग हो जाते हैं, यांत्रिक भौतिकवाद और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में अंतर करते हैं और साहित्य एवं संस्कृति को समाज के आर्थिक विकासका प्रतिबिंब न मानकर उनकी सापेक्ष-स्वायत्तता का समर्थन करते हैं। यही वह बिन्दु है जहाँ डॉ. शर्मा इतिहास की जगह परम्परा को महत्व देते हैं। कहते हैं कि "जो महत्व ऐतिहासिक भौतिकवाद के लिए इतिहास का है वही आलोचना के लिए साहित्य की परम्परा का है। इतिहास के ज्ञान से ही ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास होता है, साहित्य की परंपरा के ज्ञान से ही समाज में व्यापक परिवर्तन किये जा सकते हैं और नयी समाज व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद कुछ अमूर्त सिद्धांतों का संग्रह नहीं है, वह मानव समाज का मूर्त ज्ञान है। वैसे ही प्रगतिशील आलोचना किन्हीं अमूर्त सिद्धांतों का संकलन नहीं है, वह साहित्य की परंपरा का मूर्त ज्ञान है और यह ज्ञान का उतना ही विकासमान है जितना साहित्य की परम्परा।"⁴ 'साहित्य' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "साहित्य मनुष्य मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध है। आर्थिक जीवन के अलावा मनुष्य एक प्राणी के रूप में भी अपना जीवन बिताता है। साहित्य में उसकी बहुत सी आदिम भावनाएं प्रतिफलित होती हैं जो उसे प्राणिमात्र से जोड़ती हैं। इस बात को बार-बार कहने में कोई हानि नहीं है कि साहित्य विचारधारा मात्र नहीं है। उसमें मनुष्य का इन्द्रिय-बोध, उसकी भावनाएं, आन्तरिक प्रेरणाएं भी व्यंजित होती हैं। साहित्य का यह पक्ष अपेक्षाकृत स्थायी होता है।"⁵ साहित्य के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा के मत से मार्क्सवादी विचारधारा भिन्न

है। मार्क्सवादी विचारधारा कविता को मनुष्य की उत्पादक या आर्थिक कार्य-प्रणाली मानती है। यदि इस तर्क को स्वीकार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि कविता की विकास-प्रक्रिया ठीक वैसी ही होगी जैसी सामाजिक विकास-प्रक्रिया।

मार्क्सवादी व्याख्या से भिन्न डॉ. शर्मा की मान्यता है कि “साहित्य में विकास-प्रक्रिया उसी तरह सम्पन्न नहीं होती जैसे समाज में। सामाजिक विकास-क्रम में सामन्ती सभ्यता की अपेक्षा पूँजीवादी सभ्यता को अधिक प्रगतिशील कहा जा सकता है और पूँजीवादी सभ्यता के मुकाबले समाजवादी सभ्यता को। पुराने चरखे और करघे के मुकाबले मशीनों के व्यवहार से श्रम की उत्पादकता बहुत बढ़ गयी है। पर यह आवश्यक नहीं है कि सामन्ती समाज के कवि की अपेक्षा पूँजीवादी समाज का कवि श्रेष्ठ हो। यह भी सम्भव है कि आधुनिक सभ्यता का विकास कविता के विकास का विरोधी हो और कवि स्वयं बिकाऊ मालबन रहा हो।”⁶ यहाँ स्पष्ट है कि डॉ. शर्मा मानव-चेतना को आर्थिक सम्बन्धों का प्रतिबिम्ब नहीं मानते। वस्तुतः वे संस्कृति और साहित्य को ‘जातीय अस्मिता’ से जोड़ते हुए कहते हैं कि “समाज-व्यवस्था के विचार से इतिहास का प्रवाह विच्छिन्न है, जातीय अस्मिता की दृष्टि से यह प्रवाह अविच्छिन्न है।”⁷ जातीय अस्मिता एक स्वतंत्र-इकाई है जो भाषा-विशेष की व्यवहार-सीमा से निर्मित होती है। डॉ. शर्मा के अनुसार, “हिन्दी, बंगला, मराठी, तमिल, आदि भाषाएं बोलने वाले समुदायों को ‘जाति’ कहते हैं।” जाति-निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का मत है कि “जाति का निर्माण सामन्ती अवस्था के अन्तर्गत व्यापारिक पूँजीवाद के विकास के साथ होता है, अतः यह विकासविषम गति से होता है और उसकी प्रक्रिया दीर्घकालीन होती है। कभी सामन्ती संबंध प्रबल हो जाते हैं तो यह प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है। समाज आगे बढ़ने के बदले पीछे ठेल दिया जाता है। जनपदों का अलगाव क्रमशः दूर होता है, अतः विभिन्न परिस्थितियों में उन्हें मिलाने का माध्यम एक से अधिक जनपदीय भाषाएं हो सकती हैं। इन्हीं में से कोई एक भाषा स्थायित्व प्राप्त करके, अक्सर अन्य जनपदीय भाषा-तत्व आत्मसात् करते हुए, जातीय भाषा का स्वरूप ग्रहण करती है।”⁸ डॉ. शर्मा जातीय भाषा के रूप में ‘हिन्दी’ को रेखांकित करते हैं और हिन्दी बोलने-लिखने वाले वृहत्तर मानव-समूह को ‘हिंदी जाति’ की संज्ञा देते हैं।

डॉ. शर्मा ने ‘हिंदी जाति’ की अवधारणा को जातीय अस्मिता से जोड़ा। सामाजिक-आर्थिक विकास की प्रक्रिया की दृष्टि से वैदिककाल से लेकर आधुनिक समाज के गठन तक कई सामाजिक ढाँचे बनते-बिगड़ते रहे, किन्तु बाल्मीकि से लेकर निराला तक हमारी जातीय अस्मिता का प्रवाह अविच्छिन्न रहा है। इस जातीय अस्मिता की प्रचार-भूमि यह हिन्दी-क्षेत्र ही रहा है। डॉ. शर्मा की दृष्टि में बाल्मीकि और कालिदास राजसत्ता के हिमायती हैं। तुलसी राजसत्ता के असन्तुष्ट एक आदर्श राज्य की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं। निराला स्वतंत्रता के हिमायती और साम्राज्यवादी शक्ति के घोर विरोधी हैं तो वहीं प्रेमचंद किसानों-मजदूरों की परिवर्तन कामी आवाज के उद्घोषक रचनाकार हैं। किन्तु बाल्मीकि और कालिदास, तुलसीदास और निराला के लिए प्रेरणास्तम्भ हैं। इन सभी के माध्यम से सांस्कृतिक-साहित्यिक इतिहास की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। रामविलास शर्मा ने एक जाति और एक भाषा के आधार पर कल्पित राष्ट्र की संकल्पना को अनैतिहासिक और तथ्य विरोधी बताया। साथ ही इस धारणा का भी खंडन किया कि ‘किसी जाति के इतिहास का निर्माण मूलतः उसकी आर्थिक परिस्थितियों के कारण होता है। डॉ. शर्मा की मान्यता है कि ‘दूसरे साँचों को ध्यान में रखते हुए भारतीय भाषाओं के परस्पर संबंधों और भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को समझने का प्रयास करना चाहिए।’ डॉ. शर्मा ‘राष्ट्रीयता’ को पूँजीवादी व्यवस्था की देन न मानकर पूँजीवाद से बहुत पहले गणराज्यों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास देखते हैं। डॉ. शर्मा जाति और राष्ट्र को अलगाते हुए कहते हैं कि “जाति वह मानव समुदाय है जो व्यापार द्वारा पूँजीवादी संबंधों के प्रसार के साथ गठित होती है।

सामाजिक विकासक्रम में मानव-समाज पहले जन या गण के रूप में गठित होता है। सामूहिक श्रम और सामूहिक वितरण-गण-समाज की विशेषता है। ... इन गण समाजों के टूटने पर लघु जातियाँ बनती हैं, जिनमें उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है और नए श्रम-विभाजन के आधार पर भारतीय वर्ण-व्यवस्था जैसी समाज-व्यवस्था का चलन होता है। पूँजीवादी युग में इन्हीं लघु जातियों से आधुनिक जातियों का निर्माण होता है।' इस तर्क पर देखा जा सकता है कि 15वीं, 16वीं शताब्दी में, जिसे मध्यकाल कहा जाता है, हिंदी क्षेत्र में लघु जातीय अवशेषों से आधुनिक जातीयता के विकास के लक्षण दिखने लगते हैं। साहित्य और समाज के इतिहास लेखन में प्रयुक्त होने वाले प्राचीन, मध्य और आधुनिक कालकी संज्ञा पर सवाल उठाते हुए डॉ. शर्मा इस काल-विभाजन के सामाजिक गठन को स्पष्ट करने पर बल देते हैं। जाति के निर्माण में वे 'व्यापार' की भूमिका को रेखांकित करते हैं। भारत से अंग्रेजों के व्यापार के तीन स्तर हैं। पहले स्तर में अंग्रेज भारत से माल खरीदते थे और कीमत के रूप में सोना-चाँदी देते थे। दूसरे स्तर में वे कुछ स्थानों पर अपना राज्य कायम कर लेते हैं और भारतीयों को मजबूर करते हैं कि उन्हीं द्वारा तय की गई कीमत पर वे उनके लिए माल तैयार करें। तीसरे स्तर में अंग्रेज भारतीय उद्योग-धंधों को खत्म कर देते हैं। डॉ. शर्मा का मानना है कि 'भारत में आधुनिक जातियों का निर्माण इस तीसरी मंजिल में नहीं होता, उसका निर्माण पहली मंजिल में होता है, जब भारत का व्यापार इंग्लैंड की अपेक्षा अधिक विकसित है। सोलहवीं सदी में आधुनिक अंग्रेजी जाति का निर्माण होता है। भारत उद्योग-धंधों और व्यापार दोनों में इंग्लैंड से आगे है। उस समय यहाँ आधुनिक जातियों का निर्माण स्वाभाविक है। भारतीय जातियों के निर्माण से व्यापार के इस विकास का बड़ा गहरा संबंध है।' डॉ. शर्मा इसी तर्क के आधार पर व्यापार के साथ ही खड़ी बोली हिंदी के प्रसार को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि 'यह हिंदी आधुनिक हिंदी-प्रदेश के जनपदों में रहने वालों की जातीय भाषा बनी।' इसलिए आधुनिकता की शुरुआत इस जातीय निर्माण की प्रक्रिया से मानते हुए डॉ. शर्मा कहते हैं कि 'अतः जिसे लोग मध्यकाल कहते हैं, उसे आधुनिक काल का प्रथम चरण मानना चाहिए।'

रामविलास शर्मा हिंदी जाति के निर्माण और हिंदी भाषी प्रदेश के निर्माण के पैरोकार हैं। डॉ. शर्मा ने 'हिन्दी जाति के साहित्य' में हिंदी भाषी प्रदेश के पुनर्गठन के प्रयास के लिए धीरेन्द्र वर्मा को बहुत ही आदर के साथ याद किया है। 1922 में धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी राष्ट्र' और 'सूबा हिन्दुस्तान' के साथ राष्ट्र के लक्षणों का विवेचन करते हुए चार लेख जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' पत्रिका में प्रकाशित कराया था। जिसमें धीरेन्द्र वर्मा कहते हैं कि "साधारणतया हम कह सकते हैं कि राष्ट्र की एक मुख्य तथा प्रत्यक्ष पहिचान भाषा की एकता है, अतः भारत के जितने भूमि भाग में हमारी भाषा अर्थात् हिन्दी या हिन्दुस्तानी मातृभाषा की तरह बोली और समझी जाती हो, वह हमारा राष्ट्र है।"⁹ धीरेन्द्र वर्मा भाषाओं के आधार पर प्रान्त बनाने के हिमायती हैं। वे लिखते हैं कि "भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने पर ही शासन विभाग के ऐक्य से होने वाले लाभों का कुछ-कुछ लाभ दिग्दर्शन होसकेगा।"¹⁰ डॉ. शर्मा ने धीरेन्द्र वर्मा के उक्त लेख के आधार पर बड़े सम्मान के साथ स्वीकार किया है कि "धीरेन्द्र वर्मा सम्भवतः भारत के पहले विद्वान् है जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में भाषाओं के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की बात कही थी।"¹¹ अपने इसी लेख में धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी प्रदेश की सीमा क्षेत्र निर्धारित करते हुए कहा है कि "पश्चिम में राजपुताने के जैसलमेर राज्य से लेकर पूर्व में बिहार के भागलपुर जिले तक तथा उत्तर में यमुना और सतलज के बीच में अम्बाला नगर से लेकर दक्षिण में मध्य प्रान्त के रायपुर तक के, भारत के शेष मध्य भाग के इस प्रकार सहसा विभाग करना सरल नहीं है। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि इस संपूर्ण भूमि भाग में एक ही भाषा-हिन्दुस्तानी-बोली जाती है, यद्यपि लोगों की ठेठ बोलियों के रूप कुछ-कुछ भिन्न अवश्य हैं।"¹² धीरेन्द्र वर्मा के इस व्याख्या में हिंदी-प्रदेश के विस्तार और सीमा

दोनों स्पष्ट हैं। धीरेन्द्र वर्मा की इस व्याख्या को आधार बनाकर डॉ. शर्मा ने हिंदी प्रदेश और हिंदी जाति की अवधारणा निर्मित किया है।

डॉ. रामविलास शर्मा की एक और विशिष्ट देन है 'हिन्दी नवजागरण' की अवधारणा। रामविलास शर्मा ने भक्ति आंदोलन और उसके साहित्य को जातीय विकास की अभिव्यक्ति करने वाला सांस्कृतिक आंदोलन कहा। ठीक इसी तरह का एक आंदोलन 19वीं शताब्दी का नवजागरण है। भक्ति आंदोलन जातीय निर्माण को व्यक्त करने वाला सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर सामंतवाद विरोधी तथा मानवतावादी है, तथा 19वीं सदी का नवजागरण राष्ट्रीयस्वाधीनता का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन है, जिसका मुख्य स्वर साम्राज्यवाद विरोधी तथा सामंत विरोधी है। इस क्रम में डॉ. शर्मा 1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम को हिंदी नवजागरण का प्रथम चरण मानते हैं, भारतेंदु युग दूसरा, महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग तीसरा तथा छायावाद को चौथा चरण बताते हैं। हिंदी नवजागरण को हिंदी जाति का नवजागरण और हिंदी जाति के नवजागरण को राष्ट्रीय नवजागरण से जोड़ते हैं। अपनी सुचिंतित व्याख्या में हिन्दी नवजागरण और उसके साहित्य की प्रमुख विशेषताओं : सामंत विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना, इतिहास और परंपरा कानया मूल्यांकन, रूढ़िवाद का विरोध, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, खड़ी बोली हिंदी का जातीय भाषा के रूप में विकास, आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण का विकास, वैज्ञानिक चेतना का प्रसार, साहित्य में रीतिवाद का विरोध, वस्तुवादी चिंतन का विकास, स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी रचना प्रवृत्तियों के विकास को रेखांकित करते हैं। हिंदी नवजागरण की अपनी अवधारणा से डॉ. शर्मा ने भारतीय इतिहास के निर्माण में अंग्रेजों एवं पाश्चात्य सहयोग को अस्वीकार कर एक जातीय अस्मिता की पहचान कराया। साथ ही 19वीं सदी में शुरू होने वाले हिंदी नवजागरण और उसके साहित्य के विवेचन में अनेक प्रचलित भ्रमों का निराकरण कर आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन का एक व्यवस्थित ढांचा निर्मित किया। डॉ. शर्मा के ही प्रयास से 'हिंदी नवजागरण' की एक स्वतंत्र अवधारणा का जन्म हुआ। जो इतिहास को समझने की उनकी 'जातीय-दृष्टि' का परिणाम है।

भारत के इतिहास के सर्वाधिक विवादित मुद्दा भारत पर आर्य आक्रमण के सन्दर्भ में अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से भिन्न मत रखते हुए रामविलास शर्मा 'आर्य आक्रमण' की मान्यता को खारिज करते हैं, और आर्यों को भारत के मूल निवासी बताते हैं। आर्यों के सम्बन्ध में यह मान्यता सर्वविदित है कि आर्य बाहर से आए और उन्होंने द्रविड़ संस्कृति का विनाश किया। डॉ. शर्मा अपने तार्किक एवं तथ्य आधारित विवेचन में आर्यों की मूलभूमि भारत बताते हैं और आर्यों के भारत से बाहर जाने की धारणा को स्थिर करते हैं। आर्य और द्रविड़ समस्या में भारतीय इतिहास को उलझाने की प्रवृत्ति को वे साम्राज्यवादी कुचक्र मानते हैं। द्रविड़ और आर्यों के बीच नस्लभेद पैदा कर भारतीय जनता को दक्षिण-उत्तर में विभाजित करने का एक बड़ा षड्यंत्र था, जबकि दोनों का विकास एक ही भूमि के आसपास हुआ। साथ रहने और आपसी मेलजोल के कारण दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे से प्रभावित हुई हैं। डॉ. शर्मा की स्पष्ट मान्यता है कि यह सिर्फ प्रभाव है अतिक्रमण नहीं, और इसे इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

हिंदी साहित्य के इतिहास को भारत की अन्य भाषाओं के इतिहास के साथ जोड़कर देखने की कोशिश डॉ. शर्मा की एक खास इतिहास दृष्टि है। इस सन्दर्भ में डॉ. शर्मा का मानना है कि किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही लिखा जा सकता है। हिंदी साहित्य के इतिहास को तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं जैसे बंगला, गुजराती, मराठी आदि के साहित्य के इतिहास के साथ देखते हुए एक 'भारतीय साहित्य' के स्वरूप की पहचान की कोशिश रामविलास शर्मा को महत्वपूर्ण बनाती है।

इस तरह देखा जा सकता है कि रामविलास शर्मा ने अन्य इतिहासकारों की तरह हिंदी साहित्य का इतिहास तो नहीं लिखा, किंतु अपनी विशिष्ट इतिहास-दृष्टि के साथ भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आ. शुक्ल, प्रेमचंद, निराला, नई कविता के साहित्य और उसके समय (युग) का जो मूल्यांकन किया वह हिंदी साहित्य के साथ ही भारतीय साहित्य और राष्ट्रीयता की संकल्पना को सच करने के महत्वपूर्ण सूत्र देता है। इन्हीं सूत्रों के सन्दर्भ में हिंदी साहित्य के इतिहास एवं भारतीय साहित्य के इतिहास का एक नया साहित्यिक ढाँचा निर्मित हो सकता है।

हिन्दी विभाग

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003

सन्दर्भ -

1. शर्मा रामविलास, भाषा युगबोध और कविता, पृ. 186
2. शर्मा रामविलास, महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, 1989, राजकमल प्रकाशन, पृ. 161
3. तिवारी नित्यानंद, साहित्य के इतिहास का नया दृष्टिकोण, वसुधा-51, पृ.11
4. शर्मा रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, पृ. 9
5. वही, पृ. 11
6. शर्मा रामविलास, परंपरा का मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, पृ. 11
7. वही, पृ. 14
8. शर्मा रामविलास, हिंदी जाति का साहित्य, 1992, राजकमल प्रकाशन, पृ.15
9. शर्मा रामविलास, हिंदी जाति का साहित्य, 1992, राजकमल प्रकाशन, पृ.18
10. वही, पृ. 18
11. वही, पृ. 18
12. शर्मा रामविलास, हिंदी जाति का साहित्य, 1992, राजकमल प्रकाशन, पृ. 19

Paris Climate Agreement, COVID-19 and India's Dilemma of Competing Priorities

Shri Prakash Singh & Akshay Kumar Singh

Mapping the Context

With insistence on the world leaders to christen the current decade (2020-30) as “decade of action against climate change”¹ and securing a place among few countries of the world whose NDCs (Nationally Determined Contributions) under the Paris Climate Agreement is 2°Celsius compatible, India has gone along with its sheer commitment to help the world combat climate changes in the 21st century. It has been now five years since the world, worried of adverse impacts of climate change heaved a sigh of relief at 7.16 p.m. of 12th December 2015 at the Paris meeting venue when Laurent Fabius, the French Foreign Minister, brought down the green-topped gavel, a symbol of UN talks, and announced that a Paris Agreement had been signed.² Having resonated by a strong exigency of the crises of climate change, the representatives of almost all nations along with several thousand officials, advisers, diplomats, campaigners, and journalists gathered in Paris from 30th November to 12th December 2015 to strike a deal and replace the Kyoto Protocol. With this, the world finally reached a 'legally binding international treaty' on fighting climate change. The resulting agreement laid down a comprehensive regime to deal with the adverse impact of climate change within the United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCCC). The main attempt was essentially to gear up to limit “a global temperature rise this century well below 2°Celsius above pre-industrial levels and to pursue efforts to limit the temperature increase even further to 1.5°Celsius.”³ Markedly, one of the most spectacular achievements of the 2015 Paris Climate Agreement was that it witnessed almost universal participation with near-all (196) parties signing on a historic day, contravening the conventional wisdom of international engagement of this sheer size which has conceivably seldom secured consensus on such a common issue of the world. In the words of former US President Barak Obama: the deal shows what is possible 'when the world stands as one'; and in reality, this became possible because, what French President Francois Hollande noted, every country relinquished 'only its own interest' in mind.⁴

India, contrary to the widespread apprehension, helped the Agreement reaching to its due destination and turned out to be “a global agenda-setter.”⁵ Despite being the second-most populous country and the third-largest economy in terms of GDP based on the purchasing power parity (PPP) metrics, “India's per capita carbon footprint is 60 percent less than the global average”.⁶ This reality puts India in the dilemma of competing priorities. Fulfilling the pledge of the Paris Agreement amid the stark reality of securing developmental objectives accompanied by a decent living standard to such a mammoth population is a daunting task. The ongoing devastating situation of the pandemic COVID-19 has posed newer challenges. Indubitably, the whole world is reeling under the apocalyptic impact of the pandemic which has affected almost every walk of human lives all across the world. The COVID-19 has exacerbated the challenges to the efforts of maintaining the pace of Paris commitments. India's effort to meet the objectives under the Agreement is likely to face a bitter taste. Against this backdrop, the central focus of the paper is to look into the issues of the Paris Climate Agreement and how India has been carrying out its pledges in combating climate changes for the last six years. Besides, the paper will focus on the impact of the COVID-19 on the Agreement and India's situation as to how it navigates to tackle the dilemma of competing priorities.

Paris Climate Agreement: The Collective Wisdom of a Common Pursuit

The Paris Climate Agreement underscores the collective wisdom of the world directed towards a common pursuit of collective survival. It is a comprehensive framework, agreed upon by parties as a legally binding international treaty to tackle the menaces of climate change, facilitating a 'monumental triumph for people and our planet'.⁷ The Agreement was finally fructified on 12th December 2015 after grueling negotiations of three weeks in November and December between 196 parties who were aided by more than 50,000 delegates from diverse platforms all across the world. It was the culmination of long two-decade climate negotiations under the rubric of the 1992 UN Framework Convention on Climate Change (UNFCCC) and finally adopted at the 21st session of the Conference of the Parties (COP21)—the highest decision-making body of the UNFCCC. The Agreement was opened for signature on Earth Day, 22nd April 2016 at the UN Headquarters in New York and entered into force on 4th November 2016 after attaining the 'so-called double threshold ratification by 55 countries responsible for 55 percent of global emissions'.⁸

The Paris Agreement has six mainstays: Firstly, it sets a **milestone** in the multilateral engagement on the climate change issues primarily because, for the first time, “a binding agreement brings all nations into a common cause to undertake ambitious efforts to combat climate change and adapt to its effects”.⁹ The Agreement embraces several issues, that include mitigation, adaptation, financing, transparency, legal form, loss and damage, the nature of differentiation, and the blend between a bottom-up and a top-down structure. Secondly, the Agreement follows realistic objectives. To keep the rise in global average temperature to well 'below 2°C (3.6°F) above pre-industrial levels' aiming to reduce considerably the effect of climate change, the Agreement undertakes a 'long-term goal'. But given the threatening situation of getting inundated due to sea-level rise on account of glacial melting Pacific island states

insisted to reduce the target to 1.5°C.¹⁰ Thirdly, the Paris Agreement **resulted in a** bigger, bolder, wider, and more sophisticated than the Kyoto Protocol and the Copenhagen agreement, breaching the divide between the North and the South. In fact, this has retrieved the United Nations' mega-multilateralism and its universal approach to environmental treaty-making even after six years of Copenhagen's failure.¹¹ Moreover, the Agreement has broken a "new ground by supplementing the principle of common but differentiated responsibilities". The deal strikes an inclusive framework by including developing countries' participation insofar as without developing countries' active engagement, the battle wouldn't be won in the light of the reality that they will be responsible for nearly all the growth-in-emissions in the coming decades.¹²

Fourthly, imposition creates obstruction; for that reason, the Paris Agreement abstain from prescribing any specific mitigation actions and allows parties to follow the binding commitments called nationally determined contributions (NDCs) on their parts to bring into place domestic measures to attain them. The parties are also required to communicate their NDCs every 5 years and provide information necessary for clarity and transparency.¹³ The third clause of Article 4 of the Agreement evidently reads, "each Party's successive NDCs will represent a progression beyond the Party's then-current nationally determined contribution and reflect its highest possible ambition, reflecting its common but differentiated responsibilities and respective capabilities, in the light of different national circumstances."¹⁴ As to how the parties are fairing on their commitments, an enhanced transparency framework (ETF) has been brought into the function through which a transparent report on actions taken and progress in climate change mitigation, adaptation measures, and support provided or received has to be assessed.¹⁵

Fifthly, the Agreement pursues a positive approach under which a unique idea of 'net-zero emission' is carried out. The emphasis is on the natural ways to contain the deposition of Carbon called 'sinks and reservoirs' which are forests, oceans, freshwater bodies, wetlands, etc. Therefore, the parties are required to expand the natural sinks for atmospheric CO₂ and to take efforts of "joint mitigation and adaptation approaches for the integral and sustainable management of forests, while reaffirming the importance of incentivising, as appropriate, non-carbon benefits associated with such approaches".¹⁶ Finally, the Agreement enables the parties with "a framework for financial, technical and capacity-building support to those countries who need it".¹⁷ Without comprehensive planning of financing, action against global mitigation and adaptation would be futile. Besides the long-term goal on mitigation and adaptation, the Agreement includes the role of financial flows and calls the developed countries to take the lead in assisting financially to countries "that are less endowed and more vulnerable, while for the first time also encouraging voluntary contributions by other Parties".¹⁸

India's Climate Change Dilemma: Assessing the Challenges

Various authoritative studies, including IPCC's (Intergovernmental Panel for Climate Change) in their assessments, have confirmed that climate change is bringing startling changes in the biophysical environment and affecting human settlements,

ecosystem services, water resources, and food production, among other things with extensive implications for individuals, communities, nations, and regions.¹⁹ Needless to say, its impact would be adverse on humanity and likely be varied and far-reaching. Paraphrasing John F. Kennedy's once made observation, the UNDP's 2007/8 report warns that the present world's supreme reality is the spectre of dangerous climate change, not the spectre of nuclear holocaust.²⁰ A report of the World Bank noted that the biggest sufferer of climate change would be the developing world. They will suffer 80 percent of the damage from climate change despite accounting for only one-third of the greenhouse gases in the atmosphere.²¹ Richard A. Matthew has summarised the global impact of climate change as:

Climate change will weaken states that are already not able to provide a minimal set of developmental goals, including public goods, and sustainable livelihoods, and will have its most immediate adverse effects on agricultural economies, which are over-represented in the poor and conflict-prone regions of the world. Climate change will create conditions of absolute scarcity on a scale that might not be amenable to technological solutions and may disrupt many existing patterns of cooperation and conflict resolution mechanisms by redistributing resources (e.g., forests will migrate northwards, glacial and snowmelt fed rivers will diminish, and agreements based on earlier understandings of supply will be made problematic). The pace and variability of climate change will create short-term winners as well as losers, and sorely test mitigation and adaptation mechanisms, such that while it is a global problem challenging all of humankind, coordination and cooperation will be obstructed by its variable effects.²²

While estimating the challenges of climate change in India, it is assessed that by 2050, freshwater availability, particularly in large river basins of Ganga and Brahmaputra is projected to decrease.²³ Climate change is projected to compound the pressures on natural resources and the environment, associated with rapid urbanisation, industrialisation, and economic development. Endemic morbidity and mortality due to diarrheal disease primarily associated with floods and droughts are expected to rise in the Indian subcontinent due to projected changes in the hydrological cycle.²⁴ The swelling natural disasters have the potential to convert into violent inter-regional, intra-regional, and trans-regional conflicts. For a country like India, which is undergoing multiple crises, there is a fair possibility that climate change could exacerbate prevailing social disparities among vulnerable groups, compounding further the existing predicaments.²⁵

Climate change would bring unprecedented weather events. India is a victim of such extreme variation. For instance, due to precipitation changes and glacial melt, the annual runoff in the Brahmaputra is projected to decline by 14 percent and the Indus by 27 percent by 2050.²⁶ Monsoon variability, however, is poorly understood to have a clear enough picture about the incidence of precipitation and drought under climate change; nevertheless, a 2°C rise in the world's average temperatures will make India's summer monsoon highly unpredictable. Related to this is the issue of sea-level rise. Sea-level rise will have a significant impact on the low-lying coastal systems, and islands of the region. One-meter sea-level rise would displace 7 million persons in India; while there are

uncertainties on the extent of change, the IPCC's Fourth Assessment predicts a mean of about a 0.4-meter rise by the end of the century excluding future changes in glacier melt; and, in India, the current rise in sea level is reported to be about one millimeter per year.²⁷

Droughts are expected to be more frequent in some areas, especially in north-western India, Jharkhand, Orissa, and Chhattisgarh. Crop productions are projected to fall significantly because of extreme heat by the 2040s. Climate change also affects the well-being of the people. Millions of people in India suffer from severe deprivation, with little or no access to adequate nutrition, health, housing, water, sanitation, education, and employment. Climate change has dramatically affected the pace of poverty reduction and at the same time increased inequality in India. Studies present that "the districts that have warmed the fastest have seen the gross domestic product (GDP) grow on average 56 percent less than those that have warmed the slowest".²⁸ Further, "climate change could reduce India's GDP by around 2.6 percent by 2100 even if the global temperature increase is held below 2°C; however, this rises by up to 13.4 percent in a 4°C scenario".²⁹

Climate change is going to narrow the base of food security in the Indian subcontinent. **Wheat yields may drop by 2 percent** in a pessimistic climate change scenario. It is assessed that even after accounting for farm-level adaptation, a 2°C rise in mean temperature and a 7 percent decrease in mean precipitation will reduce net revenues by 8.4 percent in India. According to a study, Crop yield studies focusing on India have found that warming has reduced wheat yields by 5.2% from 1981 to 2009, despite adaptation.³⁰ The effect of climate on health would be harsh. India, being a developing country, is more prone to health-related problems. There may take place many other health-related problems, for example, extreme high air temperatures can kill directly. Heatwaves directly contribute to 'deaths from cardiovascular and respiratory diseases', especially among elderly people. Higher temperatures could influence the incidence of diseases such as malaria, dengue fever, yellow fever, and several types of encephalitis; besides, it is projected that malaria is likely to be prevalent in many parts of India.³¹ A recent case of heat-dome in the North American region is the severe side-effect of climate change. The region witnessed the highest temperature 49.6 °C (121.3 °F) recorded so far, killing hundreds of people in the cities like British Columbia, Washington, and Oregon.³² The heat also caused damage to physical infrastructure, marine life, affected heavily businesses, and accelerated snow melting in the glacial region. Currently, the highly infectious coronavirus has a direct or indirect link with climate change. It is believed that climate change aggravates the risk of pandemics. Deforestation, which occurs mostly for agricultural purposes, is the largest cause of habitat loss worldwide. Loss of habitat forces animals to migrate and potentially contact other animals or people and share germs. Large livestock farms can also serve as a source for spillover of infections from animals to people.³³

India's Priorities and the Paris Commitment

Indian Prime Minister Modi once said in an address to the Indian expatriates in Berlin, 'If anybody has served nature, it is the Indians'. By adopting Paris Climate Agreement on 2nd October 2016, India attempted to ease the dilemma of competing

priorities. India's dilemma, as Rajamani writes, lies in a logic that "unless the current generation generates and sustains high levels of economic growth, future generations will inherit an earth that is highly vulnerable to climate change".³⁴ Significantly, over the years India's climate change policy, according to Navroz K. Dubash, drifted from "Growth First Stone-wallers to Progressive Realists; and Progressive Internationalists".³⁵ Till 2009 India remain skeptical of compromising its stands to protect India's right to socio-economic development at the cost of the West-led commitment and struck to the differentiated role of the Parties. However, the 2009 Copenhagen Meeting and 2015 Paris Agreement corresponded to the preeminence of the narratives of the Progressive Realists and Progressive internationalists respectively.³⁶ In essence, India's objective to establish an effective, cooperative, and equitable global approach shifted from the principle of common but differentiated responsibilities and respective capabilities to self-determined responsibilities corroborating Gandhi's celebrated wisdom—the earth has enough resources to fulfill people's needs, but not enough to satisfy the greed.

Moreover, given the fact that India is the third-largest emitter of greenhouse gases (GHGs) in the world and accounts for about 7 percent of global GHG flows, its per capita CO₂ emissions is only 1.91 tones which is merely 12 percent of the US emission level of 15.2 tones.³⁷ This shows a paradox since it has a 'significant aggregate footprint with an insignificant per capita footprint'. However, studies show that India's emissions growth path has been on sustainable lines. A sizeable population in India doesn't have access to electricity. India's per capita commercial energy consumption is 20 percent of the world average, 4 percent of the US, and 28 percent of China. India's contribution to climate change in the last 200 years has been only three percent.³⁸ From 1850 to 2000, the United States and the European Union were responsible for about 60 percent of energy-related CO₂ emissions, while China contributed 7 percent and India 2 percent. World Bank's assessment also reveals that India is a relatively low carbon economy. Nevertheless, India, understanding the urgency of the climate change challenges, has responded through concrete domestic measures and multilateral cooperations. The basic policy goes on the line of 'adaptation to address the inevitable' and, 'mitigation to prevent the avoidable'.

India's Climate Change policies are shaped mainly by both local as well as global concerns and sensitivities towards domestic and international needs. India's main policy is articulated in the National Action Plan on Climate Change (NAPCC). NAPCC was constituted in June 2007, which finally came into operation on June 30, 2008.³⁹ The NAPCC lays down India's position on climate change. It draws emphasis on addressing climate change effectively without compromising with the overriding priority of maintaining high economic growth rates to raise living standards. To deal with the challenges of climate change, the government has chalked out a plan to build eight missions. The focus of these missions is on the promotion of understanding of climate change, adaptation and mitigation, energy efficiency, and natural resources. These eight missions are (i) National Solar Mission, (ii) National Mission for Enhanced Energy

Efficiency, (iii) National Mission on Sustainable Habitat, (iv) National Water Mission, (v) National Mission for Sustaining the Himalayan Ecosystem, (vi) National Mission for a Green India, (vii) National Mission for Sustainable Agriculture, and (viii) National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change.⁴⁰ India, through NAPCC, affirms to engage in multilateral negotiations in the UN Framework Convention on Climate Change (UNFCCC), in a positive, constructive, and forward-looking manner.

India played a major role in assuring the success of the Paris Climate Summit. Remarkably, Prime Minister Modi's personal intervention in the adoption of the landmark Paris Agreement was acknowledged by several world leaders. India, as a part of BASIC countries (Brazil, South Africa, India and China), the G77, the like-minded developing countries (LMDC), and the Coalition for Rainforest Nations (CfRN), agreed to NDCs and helped build a comprehensive approach "to curb the worst impacts of climate change while fostering economic growth, increasing energy access, creating jobs, protecting biodiversity, building resilience in communities to climate impacts, and providing cleaner air and water for its citizens".⁴¹ India pioneered to set up an International Solar Alliance (ISA) for promoting solar power worldwide. As stated above, with the Paris Agreement a new phase of NDCs entered into the scene. India's NDCs mainly comprises: (i) the emission intensity of its GDP has to be reduced by 33 to 35 percent from 2005 levels; (ii) about "40 percent cumulative electric power installed capacity from non-fossil-fuel energy resources by 2030" has to be achieved seeking "the help of technology transfer and low-cost international finance, including support from the Green Climate Fund"; and (iii) carbon sink of 2.5 to 3 billion tons of carbon dioxide equivalent has to be additionally added by expanding forest cover by 2030.⁴² These are marked as "the most ambitious NDC compared to its fair share of global emissions to limit global warming to 1.5°Celsius".⁴³ Moreover, India is very much close to reaching up to its level of commitment and expects to meet its pre-2020 Cancun climate pledge signed in 2010. According to the Emission Gap Report 2020, India's NDCs are 2°Celsius compliant and the country is also likely to meet and possibly overachieve its NDCs under the Paris Agreement.⁴⁴ However, out of three critical pledges, two targets seem to be attained as India has succeeded in reducing emissions intensity by 21 percent of GDP out of the claimed 33-35 percent by 2030; while it has already installed almost 38 percent of non-fossil fuel electricity of capacity as compared to its pledge of 40 percent by 2030.⁴⁵ It is expected that India's emissions intensity in 2030 will be around 50 percent below 2005 levels, as Climate Action Tracker (CAT) projects, far ahead of the 33-35 percent target.⁴⁶ Yet for the third pledge to create the carbon sink of 2.5 to 3 billion tones CO₂ equivalent India has been intensely taking up efforts however, to achieve the NDC target India needs to produce an additional 25-30 million hectares of forest cover by 2030 which is an additional 1/3rd of the existing green cover.⁴⁷ The CAT foresees "India could become a global climate leader with a 1.5°C compatible rating if it enhances its NDC target, abandons plans to build new coal-fired power plants, and instead develops a strategy to phase out coal for power generation before 2040."⁴⁸ It is reported that the target of achieving 40 percent of power from renewable sources by 2030 is likely

to be achieved several years in advance with the help of the National Solar Mission. India is also committed to building no new thermal plants which are 'not of the most efficient ultra-supercritical category'. To mention, India has huge renewable energy potential which is around 1,100GW including 300GW wind and 750GW solar power for commercially exploitable sources.⁴⁹ Against India's Paris pledge of 175 GW of renewable energy capacity to be attained by 2030, the Government has planned to 227 GW of renewable energy capacity (including 114 GW of solar capacity addition and 67 GW of wind power capacity) by 2022 and 523 GW (including 73 GW from Hydro) by 2030.⁵⁰

The COVID-19 Pandemic, Escalating Challenges to the Paris Agreement and the Case of India

The devastating COVID-19 pandemic has caused serious damage to the world, taking the toll of 3.6 million lives and infecting more than 180 million people worldwide.⁵¹ The impact is pervasive, deep, and in many ways irreparable. Apart from people's health, the economic damage it has caused is equated with the Great Depression of the 1930s.⁵² Studies based on the statistical data collected from the NASA Earth Observatory, the European Space Agency, and the Global Carbon Project revealed that the climate/environment has improved during COVID-19, including better environmental quality and water quality with low carbon emissions and sound pollution.⁵³ But all these took place due to temporary lockdown measures and closing down economic activities. Contrarily, there has been huge negative side-effects of the COVID-19 on climate change and vice-versa. A preliminary study by the Malaviya National Institute of Technology in Jaipur, India found a correlation between COVID-19 cases and air pollution and climatic conditions—like wind and humidity—in Delhi.⁵⁴ It is found that Chronic exposure to particulate matter—a type of pollution that results from a mix of chemicals that come from sources like smokestacks and fires—is likely linked to some 15% of global COVID-19 deaths.⁵⁵ Experts write that the COVID-19 pandemic is a symptom of larger malaise awaiting complex issues of a continuing economic recession, climate change, and biodiversity loss. “COVID-19 is itself an environmental problem brought by unsustainable human practices”, writes a Cambridge report, “as the transmission of most known zoonotic diseases happens indirectly, and is interlinked with the biodiversity crisis and food systems.”⁵⁶

The COVID-19 and Postponement of the COP26 : Due to the ongoing current of COVID-19, the COP26 UN climate change conference scheduled to be held in Glasgow in November 2020 has been postponed to 31st October—12th November 2021.⁵⁷ The COP26 is to help parties commit to 'new long-term goals' and 'setting out the rules for a carbon market between countries'. The main reason to reschedule the meeting is, what COP26 President-Designate and Secretary of State for Business, Energy and Industrial Strategy, Alok Sharma, says, “The world is currently facing an unprecedented global challenge and countries are rightly focusing their efforts on saving lives and fighting COVID-19.”⁵⁸ The COP26 is considered crucial insofar as it will be 'the first COP to take place after the landmark Paris Agreement's measures got operationalised' and 'the first

opportunity since then for nations to come together to review commitments and strengthen ambition'. It is considered that delaying the talks will mean that governments will ease off on pursuing stronger commitments to fulfill the Paris goals. For example, the US, taking advantage of the pandemic has furthered its agendas by rolling back regulations mandating auto companies to produce more fuel-efficient vehicles.⁵⁹ Nonetheless, it is difficult to see how this pandemic will affect emissions in the long term. However, the entire world is standstill. The measures to curb the infection halted main human activities leading to an annual fall in GHGs emissions up to 7 percent, which would be the biggest drop since last apocalyptic World War II.

NDCs under Jeopardy : The pandemic has compelled to shift the priority of nations from the long-term threats of climate change to the immediate urgency of tackling the menace of the pandemic. Given their priorities, the whole world is revisiting the NDCs for the time being. Despite, evidence suggesting environmentally invigorating fiscal policies as the most effective tools for economic recovery, "less than one-fifth of fiscal spending in 2020 contributed to a green recovery". An international report observes:

Most important, however, will be the effect of the economic shocks on the willingness of nations to meet (or augment) their existing Paris emissions pledges. The main effect of the pandemic on the threat of climate change, therefore, will be not its growth impact but its influence on national commitments to action.... Another uncertainty is the long-term effect of stimulus spending. Government debt, worldwide, has increased by an estimated US\$30 trillion as countries attempt to counter the economic effects of the pandemic. Some national governments and politicians may argue that environmental action is less pressing, as they turn inward to focus on investments for health services, the economy, and welfare while undermining environmental protections.⁶⁰

A handful of countries, including India, have paid attention or taken genuine effort focusing on climate or biodiversity measures in their stimulus packages.

Resources to the Developing Countries Narrowed : Climate inequality is poised to exacerbate in a post-COVID world. Countries that are more vulnerable to the effects of climate change but at the same time lacking adequate financial and technological resources would be suffering more compared to others. As a result, the developing countries have realigned their climate change budget to deal with the COVID-19. For instance, India has cut short the budget allocation for the Ministry of Environment, Forests and Climate Change from ₹ 3100 crores in 2020-21 to ₹ 2869 crores.⁶¹ Due to contraction in the developed economy, as the G-7 economy shrunk by 4.2 percent, there is a looming fear of a reduction in climate funding to the developing countries. This is evident as the UK's economy would lose 6.5 percent a year by 2050 on current policies and projections, compared with 2.4 percent if the goals of the Paris Agreement are met.⁶² India has been one of the worst affected countries in the world. Its economy shrunk by 7.3 percent in the financial year 2020-21. The economy, which was facing a slowdown even before the pandemic broke out last year, contracted during the

financial year 2020-2021 weighed down by nationwide lockdown that pummeled consumption and halted most economic activities.⁶³ MIT Joint Program Co-Director, John Reilly has written that “while pandemic-induced economic shocks will likely have a little direct effect on long-term emissions, they may well have a significant indirect effect on the level of investment that nations are willing to commit to meet or beat their Paris emissions targets.”⁶⁴

Newer Challenges : During the coronavirus pandemic newer challenges, like the swelling demand of plastics for extensive medical usage such as personal protective equipment (PPE), masks, gloves, packaging, and single-use items, have gone up. This has added further woe to the already existing environmental hazards. A large amount of sanitizer use has also an environmental impact. Alcohol-based sanitizers are made up of mainly ethanol and isopropyl. It is established that “if large amounts of isopropanol are spilled on soil, it may get infiltrated and could contaminate the groundwater; and, Large amounts of spill in aquatic bodies may cause environmental impairment because it has high potency to deplete oxygen in water body”.⁶⁵

Whither India? “Reforms by conviction and incentives”, what PM Modi states while embracing a comprehensive stimulus plan for over a year. The Government of India's four major attempts to fight the pandemic with massive economic stimulus totaling more than US\$300 billion declared on 26th March 2020, 15th May 2020, 14th November 2020 and 30th June 2021 have enough scope as pro-climate measures. Since March 2020 when the pandemic intensified, the Government has allocated at least US\$35.37 billion of its fiscal stimulus package to clean energy, including renewables (especially solar power) and energy efficiency. Department for Promotion of Industry and Internal Trade (DPIIT) estimates that the Foreign Direct Investment (FDI) inflow in the Indian non-conventional energy sector stood at US\$ 9.83 billion between April 2000 and December 2020 helping India secure 3rd rank globally in terms of its renewable energy investments and plans in 2020.⁶⁶ When looked at India's Budget 2021-22, for 42 urban centres with a population more than one million, Rs. 2,217 crore has been allocated for tackling the problem of air pollution. While, the Budget also secure a capital outlay of Rs 1.4 lakh crores over five years (2021-26) for Urban Swacch Bharat Mission 2.0 centrally focusing the core pro-climate measures such as fecal sludge management, reduction in single use plastic, source segregation of garbage, and reduction in air pollution.⁶⁷

Conclusion

Climate change and the COVID-19 pandemic together constitute a double whammy for the world. India is also a victim of this ongoing situation. The Paris Climate Agreement is a paradigm shift in the effort of multilaterally engaging the world and striking a deal to lay down comprehensively for combating climate change in the 21st century. The consensus on how to craft the measures which could be agreeable to both the developed world, by far a culprit of the climate change, and the developing world, a victim. Besides many controversies, the Agreement is a hope to salvage the damage so far caused to the environment by humanity and to save them from the climate change-

related existential threat looming large in the coming decades. It is not a hidden fact that “unbridled carbon emissions especially by Europe and the US over the last 200 years, and in the last 40 years by China have caused the climate change disaster”.⁶⁸ India's case is contradictory as it has been responsible for only 3 percent of climate change, yet India's gross emission is high with low per capita emissions. Being the world's second-most populous country with a sizeable portion living below-poverty-line, India is struggling to settle the dilemma of competing priorities and complex climate justice debate. The hard-pressed measures to contain climate change within the framework of the Paris Agreement have a direct bearing upon developmental measures the country pursues with all its limitations of technology-gap and narrow resource availability. India stepped out in a well-calibrated move to lead the world in its collective venture of tackling the perils of climate change in Paris and still remains tied to the NDCs inspiring many to follow suit. However, all of a sudden breaking off pandemic COVID-19 in 2020 swept the world by surprise. The pandemic continues to afflict the entire world insofar as its ramifications are deeply entrenched and all-pervasive. The close connection of climate change and infectious diseases like COVID-19 has aggravated the challenges of the developed countries and developing countries alike. The most vital parameters of the Agreement are being driven through the NDCs of the parties, which are bound to face a setback. Pressure on existing resources of the developing countries will see priority allocation to meet the exigency of the health crisis over the climate change agenda; nonetheless, ingenious policy design striking balance between the requirements induced from the two crises can salvage the threatening changes to the world.

*Department of Political Science,
University of Delhi, Delhi*

*School of Law, Justice & Governance,
Gautam Buddha University, Greater Noida, U.P.*

References -

1. Vishwa Mohan, “Modi announces India-US partnership on climate and clean energy, pitches for 'back to basics' philosophy to fight climate change”, *The Times of India*, 23 April 2021, Accessed on 25 April 2021, URL: <https://timesofindia.indiatimes.com/india/modi-announces-india-us-partnership-on-climate-and-clean-energy-pitches-for-back-to-basics-philosophy-to-fight-climate-change/articleshow/82201787.cms>.
2. Fiona Harvey, “Paris climate change agreement: the world's greatest diplomatic success”, *The Guardian*, 14 December 2015, Accessed on 25 April 2021, URL <https://www.theguardian.com/environment/2015/dec/13/paris-climate-deal-cop-diplomacy-developing-united-nations>.
3. See: The UNFCCC, “The Paris Agreement”, Accessed on 27 April 2021, URL <https://unfccc.int/process-and-meetings/the-paris-agreement/the-paris-agreement>.
4. Fiona Harvey, “Paris climate change agreement: the world's greatest diplomatic success”, *Op. cit.*, n.2.
5. See: Aniruddh Mohan, “From Rio to Paris: India in Global Climate Politics”, *ORF Occasional Paper*, No. 130, Accessed on 27 April 2021, URL: https://www.orfonline.org/wp-content/uploads/2017/12/ORF_Occasional_Paper_130_Climate_Mohan.pdf.

6. Vishwa Mohan, "Modi announces India-US partnership on climate and clean energy, pitches for back to basics", *Op. cit.* n.1.
7. Business Standards, "UN chief terms Paris deal 'monumental triumph' for planet Earth", Accessed on 27 April 2021, URL: https://www.business-standard.com/article/pti-stories/ban-terms-paris-deal-monumental-triumph-for-planet-earth-115121300088_1.html.
8. United Nations Climate Change, "The Paris Agreement", Accessed on 28 April 2021, URL: <https://unfccc.int/process-and-meetings/the-paris-agreement/the-paris-agreement>.
9. *Ibid.*
10. See : UNFCCC, "The Paris Agreement", Accessed on 28 April 2021, URL: https://unfccc.int/sites/default/files/english_paris_agreement.pdf.
11. Karin Bäckstranda and Eva Lövbrandb, "The Road to Paris : Contending Climate Governance Discourses in the Post-Copenhagen Era", *Journal of Environmental Policy & Planning*, Vol. 21, No. 5, 2019, pp. 519-532.
12. *Ibid.*
13. UNFCCC, "The Paris Agreement", *Op. cit.* n.10.
14. United Nations Climate Change, "The Paris Agreement", *Op. cit.* n.8.
15. *Ibid.*
16. See : Ruth Metzel, "Forests in the Cop21 Climate Change Agreement: Momentum on and Mention of Forests in the Climate Change Text", *Yale School of the Environment Blog*, 4 January 216, Accessed on 30 April 2021, URL: <https://environment.yale.edu/blog/2016/01/>.
17. Article 13 of the Agreement clearly draws upon transparency of support UNFCCC, "The Paris Agreement", Accessed on 28 April 2021, URL: https://unfccc.int/sites/default/files/english_paris_agreement.pdf.
18. United Nations Climate Change, "The Paris Agreement", *Op. cit.* n.8.
19. Karen O'Brien and Robin Leichenko, "Human Security, Vulnerability and Sustainable Adaptation", in *Human Development Report 2007/2008*, Human Development Report Office Occasional Paper, Accessed on 30 April 2021 URL: http://hdr.undp.org/sites/default/files/obrien_karen_and_leichenko_robin.pdf.
20. UNDP, *Human Development Report 2007/2008*, "Fighting Climate Change Human Solidarity in a Divided World", (New York: Palgrave Macmillan), p.21.
21. World Bank, *World Development Report 2010: Development and Climate Change*, Washington DC: World Bank, 2009.
22. Richard A. Matthew, *Resource Scarcity: Responding to The Security Challenges*, International Peace Institute (IPI), 2008, Accessed on 30 April 2021, URL: <https://www.ipinst.org/wp-content/uploads/2015/06/rscar0408.pdf> p.9-10.
23. See: S. K. Gupta and R. D. Deshpande, "Water for India in 2050: First-Order Assessment of Available Options", *Current Science*, Vol. 86, No. 9, May 2004, pp. 1216-1224.
24. Martin Parry et.al. (eds.), *Climate Change 2007: Impacts, Adaptation and Vulnerability* (Cambridge: Cambridge University Press, 2007), p. 13.
25. See Ulka Kelkar and Suruchi Bhadwal, "South Asian Regional Study on Climate Change Impacts and Adaptation: Implications for Human Development", *Occasional Paper for Human Development Report 2007/08*, URL: http://hdr.undp.org/sites/default/files/kelkar_ulka_and_bhadwal_suruchi.pdf.
26. Anjal Prakash, "Retreating Glaciers and Water Flows in the Himalayas: Implications for Governance", *ORF Issue Brief No. 400*, September 2020, Observer Research Foundation.
27. Martin Parry et.al. (eds.), *Climate Change 2007: Impacts, Adaptation and Vulnerability*, *Op.cit.*, n. 24.
28. A. Picciariello, et.al., "The Costs of Climate Change in India: A Review of the Climate-related Risks Facing India, and Their Economic and Social Costs", *ODI Literature review*. London: ODI, Accessed on 30 June 2021, URL: <https://cdn.odi.org/media/documents/ODI-JR-CostClimateChangeIndia-final.pdf>.
29. *Ibid.*

30. C. Mbow, et.al., "2019: Food Security" In *Climate Change and Land: an IPCC special report on Climate Change, Desertification, Land Degradation, Sustainable Land Management, Food Security, and Greenhouse Gas Fluxes in Terrestrial Ecosystems*, Accessed on 30 June 2021, URL: https://www.ipcc.ch/site/assets/uploads/sites/4/2021/02/08_Chapter-5_3.pdf.
31. World Health Organization, *Climate Change and Health*, Accessed on 30 June 2021, URL: <https://www.who.int/news-room/fact-sheets/detail/climate-change-and-health>
32. BBC, "Canada weather: Dozens dead as heatwave shatters records", Accessed on 2 July 2021, URL: <https://www.bbc.com/news/world-us-canada-57654133>
33. Harvard T.H. Chan School of Public Health, "Coronavirus, Climate Change, and the Environment: A Conversation on COVID-19 with Dr. Aaron Bernstein, Director of Harvard Chan", Accessed on 2 July 2021, URL: <https://www.hsph.harvard.edu/c-change/subtopics/coronavirus-and-climate-change/>
34. LavanyaRajamani, "India and Climate Change: What India Wants, Needs, and Needs to Do," *India Review*, Vol. 8, No. 3, 2019, pp. 340-374.
35. N.K. Dubash, "Toward a Progressive Indian and Global Climate Politics", Working Paper, 2009/1, CPR, New Delhi, pp. 8-9.
36. Aniruddh Mohan, "From Rio to Paris: India in global climate politics", *Op.cit.*, n.5.
37. J.G.J. Olivier and J.A.H.W. Peters, "Trends in global CO₂ and total greenhouse gas emissions: 2019 Report", PBL Netherlands Environmental Assessment Agency, 2020, Accessed on 30 June 2021, URL: https://www.pbl.nl/sites/default/files/downloads/pbl-2020-trends-in-global-co2-and-total-greenhouse-gas-emissions-2019-report_4068.pdf.
38. The Hindu, "India's contribution to climate change in last 200 years just 3%: Javadekar", 14 June 2021.
39. H.T. Pandve, "India's National Action Plan on Climate Change", *Indian Journal of Occupational and Environmental Medicine*, Vol. 13, No. 1, pp.: 17–19.
40. Ibid.
41. NRDC, "The Road from Paris: India's Progress towards Its Climate Pledge, Issue Brief, September 2020, Accessed on 25 April 2021, URL: <https://www.nrdc.org/sites/default/files/road-from-paris-202009.pdf>.
42. Government of India Ministry of Environment, Forest and Climate Change, "India's Intended Nationally Determined Contributions–Towards Climate Justice", Accessed on 10 May 2021, URL: <http://moef.gov.in/wp-content/uploads/2018/04/revised-PPT-Press-Conference-INDC-v5.pdf>.
43. Climate Action Tracker, "India", Accessed on 25 June 2021, URL: <https://climateactiontracker.org/countries/india/>.
44. Ibid.
45. NRDC, "The Road from Paris: India's Progress Towards Its Climate Pledge", *Op.cit.*, n. 41.
46. Climate Action Tracker, "India", *Op.cit.*, n.43.
47. Alice Saju, "Can India Meet its NDC Target under Paris Climate Agreement by 2030", *Businessline*, 23 January 2021.
48. Climate Action Tracker, "India", *Op.cit.*, n.43.
49. Jocelyn Timperley, "The Carbon Brief Profile: India", Accessed on 25 May 2021, URL: <https://www.carbonbrief.org/the-carbon-brief-profile-india>.
50. IBEF, "Renewable Energy Industry in India", Accessed on 25 May 2021, URL: <https://www.ibef.org/industry/renewable-energy.aspx>.
51. World Health Organization, "WHO Coronavirus (COVID-19) Dashboard", 30 June 2021, Accessed on 30 June 2021, URL: <https://covid19.who.int/>.
52. Gita Gopinath, "The Great Lockdown: Worst Economic Downturn since the Great Depression", *IMF Blog*, Accessed on 25 May 2021, URL: <https://blogs.imf.org/2020/04/14/the-great-lockdown-worst-economic-downturn-since-the-great-depression>.
53. MudassirHusnain, et. Al., "Climate Change during the COVID-19 Outbreak: Scoping Future Perspectives" *Environmental Science and Pollution Research*, Online Pub. 2 May 2021, Accessed on 10 May 2021, URL: <https://link.springer.com/content/pdf/10.1007/s11356-021-14088-x.pdf>.

54. Justin Worland, "Fossil Fuels, Climate Change and India's COVID-19 Crisis", *Time*, 6 May 2021, Accessed on 30 June 2021, URL: <https://time.com/6046334/india-covid-19-climate-change/>.
55. *Ibid.*
56. A.M.D. Ortiz et.al., "Implications of COVID-19 on progress in the UN Conventions on biodiversity and climate change", *Global Sustainability*, OEJ, Cambridge University Press, 2021.
57. UN Climate Press Release, 1 April 2020, Accessed on 15 May 2021, URL: <https://unfccc.int/news/cop26-postponed>.
58. *Ibid.*
59. *The New York Times*, "U.S. to Announce Rollback of Auto Pollution Rules, a Key Effort to Fight Climate Change", 30 March 2020. Accessed on 13 April 2021, URL: <https://www.nytimes.com/2020/03/30/climate/trump-fuel-economy.html>
60. John M. Reilly, Y.H. Henry Chen, and Henry D. Jacoby, "The COVID-19 Effect on the Paris agreement", *Humanities and Social Sciences Communications*, MIT, Cambridge, 2021, URL: <https://www.nature.com/articles/s41599-020-00698-2.pdf?origin=ppub>.
61. Govt. of India, Ministry of Environment, Forests and Climate Change, URL: <https://www.indiabudget.gov.in/doc/eb/sbe27.pdf>.
62. Fiona Harvey, "Climate crisis to shrink G7 economies twice as much as Covid-19, says research" *The Guardian*, 7 June 2021, URL: <https://www.theguardian.com/environment/2021/jun/07/climate-crisis-to-shrink-g7-economies-twice-as-much-as-covid-19-says-research>.
63. Outlook, "Indian economy contracts 7.3 pc in FY21", 31 May 2021, URL: <https://www.outlook-india.com/newscroll/indian-economy-contracts-73-pc-in-fy21/2093372>.
64. John M. Reilly, Y.H. Henry Chen, and Henry D. Jacoby, "The COVID-19 Effect on the Paris agreement", *Op.cit.*, n. 60.
65. A. Mahmood et.al., "COVID-19 and frequent use of hand sanitizers; human health and environmental hazards by exposure pathways", *Science of the Total Environment*, 2020, URL: <https://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC7320712/pdf/main.pdf>.
66. IBEF, "Renewable Energy Industry in India", *Op.cit.*, n.50.
67. Govt. of India, Budget 2021-22, 1 February 2021, Accessed on 12 June 2021, URL: https://www.indiabudget.gov.in/doc/budget_speech.pdf.
68. *The Hindu*, "India's contribution to climate change in last 200 years just 3%: Javadekar", *Op.cit.*, n.38.

E-Content : Teaching Through Web

Harel Thomas

Introduction

In the world of globalization, World Wide Web has emerged as a useful tool to gain knowledge about the changing scenarios. Educational systems around the world are under increasing pressure to use the new information and communication technologies (ICTs) to teach students the knowledge and skills they need in the 21st century. The inclusion of e-content in learning is now inevitable and the MHRD-UGC-CEC initiative is designed to meet the new challenges and to help India take the lead in this newly emerging field. For the upcoming generation, we need to create a digital learning culture and environment. E-learning serves this purpose in its various forms such as web-based learning; computer based learning virtual classrooms etc. UGC-CEC e-content scheme aims at developing high quality e-content as well as expertise for generating such content over the long term. The e-content development and associated web based learning does not seek to replace traditional teaching and learning but is expected to supplement them. The Department of Applied Geology, Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar is involved in the process of e-content development wherein audio, video, graphics, animation, and text are used to involve learners and make them a part of the exotic voyage of discovery, wonder and enquiry. This is Government of India's planning and curriculum mainly based on UGC syllabus and Choice Based Credit System (CBCS). The ultimate aim of e-content development is to create an information rich society where everyone, irrespective of gender, region, caste, and religion etc. is empowered to create, receive, share, and utilize information and knowledge for the educational upliftment and development. In the process of e-learning structure and validated e-content can serve as an effective virtual teacher.

Information Technology (IT) and Internet have become backbone of researches, innovations and social changes. The diffusion of Internet has immensely affected the daily life not sparing even the education sector. Educational material provided through Information Technology and Internet in E format termed E-content is delivered through various electronic media from "old media" viz print etc. to the sophisticated electronic tools combining sounds, images and text. E-content requires huge amounts of creativity both at 'information' level as well as the 'technology' level.

Evolution of E-learning Standards

Almost every technology has its own standards evolved by different organizations. The Dublin Core started in 1994 to develop a meta-data framework for web resources. The Dublin Core is a metadata element set intended to facilitate discovery of electronic resources used in museums, libraries, Government agencies. In 1997, the EDUCOM consortium (now EDUCAUSE) of US institutions of higher education and their vendor partners established an effort to develop standards for on-line learning, specifications for metadata. Also in 1997, NIST (National Institute for Standards and Technology) and the IEEE study group began similar efforts.

Learning Object Design

Learning Management Systems (LMSs) are web-based application platforms used to plan, implement, and assess learning processes related to online and offline training, administration and performance management. LMS are defined as systems to manage learners, keeping track of their progress and performance across all types of learning activities. LMSs provide an instructor a way, in which, to create and deliver content, monitor learners' participation, and assess learners' performance become feasible. In fact in many institutions, the Learning Management System may have one or two content-authoring tools. The content-authoring tool is a software used to create multimedia content for delivery on instructional design.

What is an in Instructional Design?

- i. An instructional design model by Kemp (1977) defined nine different components and adopted a continuous update with evaluation;
- ii. Teaching of media in a systematic approach model by Vernon & Donald (1980) compared the different instruction design models;
- iii. A Systematic Design of Instruction model by Dick & Carey (1990; 2000) described all the phases of process starts with instructional goals and ends with summative evaluation;
- iv. Systems Reusable Information Object Strategy by CISCO (1999) consists of six content items viz., introduction; importance; objectives; pre-requisites; scenario; and outline with Learning Management System (LMS).
- v. Content based model by Cernea (2006) explained the learning objectives of a content and the contents accessibility and reusability between various Learning Content Management System (LCMS).

E-content Development Aspect Consists of Six Phases Eg

- i. Analysis: identifies area, influenced by views of subject experts, target audiences, objectives and its goals. At this phase, we must know the audience, their skill, budget of the e-content, delivery methods and its constraints;
- ii. Design: This phase involves the design of the learning solution. Helps to plan e-content preparation. Arrived here we must know the planning, use of relevant software; required skills; creative and innovative interactions of subject contents like texts, pictures, videos and suitable animations;

- iii. Development: Brings the actual concept of the e-content design. creates the e-content by mixing of texts, audio, video, animations, references, blogs, links, and MCQs (multiple choice questions) with some programming specifications like home, exit, next etc.;
 - iv. Testing: Helps to administer the e-content in the actual educational field. In this phase, we must test the spelling mistakes, content errors, clarity of pictures, relevant videos, appropriate audios, timing of animations, and hyperlinks;
 - v. Implementation: It helps to administer the e-content to the target audience. This phase explains how to install and how to use it and their difficulties experienced while using e-content. It checks the product accuracy and quality maintenance;
 - vi. Evaluation: helps to satisfy the e-content and its effectiveness. Considers feedback from both learners and instructors. After the feedback reactions, the e-content is designed again as post-production for effective delivery of e-content
- As per the UGC (University Grants Commission, India) guidelines of e-content development needs the following categories viz.,
- i. Home; ii.Objectives; iii. Subject mapping; iv. Summary; v. Text with pictures & animations; vi. Video and audio; vii. Assignments, quiz & tutorial; viii. References, glossary & links; ix. Case studies;

In an online classroom, technology stimulates the learner and gets the learner involved in the learning. Books are an extension of brain; video is an extension of eye; audio is the extension of an ear; audio conferencing is the extension of mind& vocalchord; computer is an extension of fusion on mind, hands,& eyes; satellite technology is an extension of human reach and computer network is an extension of human co-operation. So what we would expect from e-contents that it should beable to stimulate the learner in such a way that we utilizes the maximum of its potential in learning (Vijayakumari, 2011). The ultimate aim of the e-content is to abolish the disparity among the learners. E-content is facilitates the teacher in a very effective manner. It enhances the learner'sknowledge level which leads to creative thinking andgives the future ideas on the basis of given links, and references.

When one talks about growth of technology applications in education, one normally asks a question: what we are moving towards? Probably the appropriate answer is,towards aconvergence point of technologies& what is that? The answer is,towards a virtual reality i.e. a “Virtual Classroom”. What is a virtual classroom? The answer is,where the distance between the teacher and the taught is nil. And finally, how can one make the distance nil? The answer is by generating good e-contents and by making them available to all those who wish to learn.

What is E-content?

E-contents are basically a package that satisfies the conditions like i.e. minimization of the distance, cost effectiveness, user-friendliness, and adaptability to local conditions. It is digital content that can be transmitted over a computer network such as the internet. Digital content is a product available in digital form. It typically refers to music, information and images that are available for download or distribution on electronic media.

E-contents are technology based and technology does serve as an aid to learning. According to Mayer(2005)and Siveco (2008), “multimedia learning is defined as learning from words (e.g., spoken or printed text) and pictures (e.g., illustrations, photos, maps, graphs, animation, or video)”.

Forms of E-Content

There are different forms of e-content and main are simulation, multimedia learning object, RLOsetc.RLO is reusable learning object and it is also used in learning object repository (LOR).

One can find enormous literature on the development of content. Then why we are discussing on methodological issues of e-content generation. It is because e-contents differ from conventional contents in many ways.

The National Mission on Education through information and communication technology (ICT) is a project of MHRD which provides a momentous opportunity for all the teachers and experts in the country to pool their collective wisdom for the benefit of every Indian learner and, thereby, reducing the digital divides.

Indian learner, thereby, reduces the digital divides. Under this Mission, a proper balance between content generations, research in critical areas relating to imparting of education and connectivity for integrating our knowledge with the advancements in other countries is to be attempted.

Consortium for Educational Communication (CEC), New Delhi, as an active partner, is engaged in generation of e-content courseware for undergraduate subjects under the plan project of NME-ICT of MHRD. After launching “National Mission on Education through ICT” on February 2nd, 2009 at Tirupati, the MHRD invited proposals from leading institutions of the country regarding development of e-content.

The MHRD via its communication dated March 31st, 2009 has approved on the project proposal submitted by CEC on “Development of Courseware E-Content for Undergraduate”.

The Consortium for Educational Communication (CEC) in its project report submitted to MHRD had indicated that e-content course ware in 19 subjects (Phase-I) will be produced in collaboration with Media Centers. E-content courseware in 68 subjects (Phase-II) will be produced with the assistance of production agencies other than Media Centers.

Nmeict Project of Mhrd New Delhi

Due to world of globalization, World Wide Web (<https://www>) has emerged as a useful tool to gain knowledge about the changing scenarios. Educational systems around the world are under increasing pressure to use the new Information and Communication Technologies (ICTs) to teach students the knowledge and skills; they need in the 21st century.

The inclusion of e-content in learning/teaching system is now inevitable, so MHRD-UGC-CEC has initiated such programme to meet the new challenges. For the upcoming generation, we need to create a digital learning culture and environment. E-learning/teaching is the essential methods in all the fields such as web-based learning;

computer based learning and virtual classrooms etc. UGC-CEC e-content scheme aims to develop high quality e-content and expertise for generating such content over the long term. The e-content development and associated web based learning does not seek to replace traditional teaching and learning, but is expected to supplement them.

National Mission on Education through Information and Communication Technology is a project of MHRD; New Delhi has created a National Working Group (NWG) and asked the CEC and different media centre's (EMMRCs) for planning and proposal submission and also for pilot creation and preview. The National Working Group (NWG) also redesigns the new interface for e-content and provided new template for e-content. As per the MHRD requirement e-content must be based on model curriculum of UGC and also engage the subject expert from all over the India. The CEC assigned geology subject to EMMRC Sagar for pilot creation Thomas, (2013, 2014& 2015) (Fig. 1).



Fig. 1 : Template for e-content.

Where can students read the text and even watch the video (Fig.2) etc.? Through template one can see and read the objective of the e-content (Fig.3), summary of the content (Fig.4), read full text of the e-content (Fig.5), even can read the FAQ of the content, and solved assignment, and answer the quiz based on text (Fig.6). He/she can read the reference (Fig.7) for further details and even can down load the whole text for future. He/she can also quarry the doubt if have any from the subject experts.



Fig. 2 : Video/audio of the e-content.



Fig. 3 : Objectives of the e-content.



Fig. 4 : Summary of the e-content.



Fig. 5 : Full text of the e-content .



Fig. 6 : Quiz of the e-content.



Fig. 7 : References used in e-content.

The Department of Applied Geology, Sagar is involved in the process of e-content development with EMMRC Sagar, Thomas, (2013, 2914 & 2015), wherein, audio, video, graphics, animation and text are used to involve learners and make them a part of the exotic voyage of discovery, wonder and enquiry. This is Government of India planning and curriculums mainly based on UGC syllabus and Choice Based Credit System (CBCS).

E-content development is the process of gathering together, writing, editing, and otherwise adapting content materials specifically for publication on the web. It is important to understand the many considerations essential to develop an effective content strategy for your initiatives. Only then can we create content that will attract users to your online properties and powerfully communicate your key messages. Information, visual and interaction design all have an impact on the text and other content materials.

Content development is therefore a collaborative, iterative process that overlaps with creative and technical development. The content developer as well as the information architect, visual designer and programmer is responsible for making sure the content and the site's design and functionality are compatible and integrated.

Target Audience

It is essential to begin by identifying the target audience and determining both how much they already know about the topic and whether they have the necessary computer skills to access and complete the course.

Objectives

Critical for helping learners get the most out of an e-learning experience is a clear statement of learning objectives. You should consider attitude objectives as well as knowledge and skill objectives. You should state these objectives in measurable terms with expected outcomes and explain the criteria against which the outcomes will be measured. It is important to share these objectives with the learners so they know what is expected of them. According to Parer (1995), "Quality in distance teaching is based on a well-structured design plus dialogue and communication". These designs are based on Moore's three dimensional theories of distance education with learner dialogue and structure, Moore, (1973 & 1980) i.e. the learner is independent, he interacts with the instructor and element of course design thereby responds to his needs.

Motivation

Learners need motivation to continue. Your course should appeal to their intrinsic motivation to learn, to do a better job, and to enjoy doing it. Does your program provide sufficient consistency and yet variety to maintain the interest of the learner? An e-learning course can engage the user through novelty, humor, game elements, testing, adventure, unique content, surprise elements, etc. Frequent learning checks and appropriate and timely feedback can also motivate the user. Above all, it pays to address the learner's primary concern: what is in it for me?

Media

The term rich media is used to describe the use of graphics, animations, video, and sound. It can be very effective in helping the learning process, but it is extremely important that its use be appropriate to the topic, the audience, and the objectives, and not is merely for effect.

The following questions may help guide you in its use.

Is the on-screen text easy to read (font size and color)?

Is the amount of on-screen text appropriate?

Are graphics and illustrations appropriate to the topic, audience, and objectives?

Do screens require scrolling?

Are there too many or too few graphics?

Is the use of animation or video distracting?

Does the use of rich media sound and look professional?

List of The Content Provided By The Subject Expert

Full academic script (with its fig. photo & graphs etc.); Transcript of lecture; Objective; FAQ; Assignment; Quiz (multiple answer type question); Glossary; Reference; Links; Case study if any; Summary and Tutorials.

The font of the text should be Arial 16 size and type in the MS word PGM. Please ensure that your contents should not contain any material which may subject to copy right intellectual property act or he/she must properly cite the content. Subject expert should provide :

- A text in soft and hard copy;
- Deliver a lecturer in front of professional camera setup in the given time;
- Also provide a support material related to e-content such as photograph, graph, books, maps, sample etc.
- E-content should be duration of 25-30 min and it contains 5 to 8 chunks of 3 to 5 min which means contents should be divided into sub topics according to main topic.

Conclusion

UGC-CEC e-content scheme aims at developing high quality e-content, as well as expertise for generating such content over the long term. The e-content development and associated web based learning does not seek to replace traditional teaching and learning, but is expected to supplement them. The ultimate aim of e-content development is to create an information rich society where everyone, irrespective of gender, region, caste, and religion etc. is empowered to create, receive, share, and utilize information and knowledge for the educational upliftment and development. In the process of e-learning structure and validated e-content can serve as an effective virtual teacher. Geology e-content for undergraduate students is completed in 276 modules and available at <http://cec.nic.in/E-Content/Pages/default.aspx>.

Acknowledgements

The author is thankful to Director EMMRC/Producer and other technical staffs for the helping the development of complete courseware for under graduation (Geology - Subject). Thanks too Director CEC-UGC, New Delhi for financial Support. But last not the least my sincere thanks to faculties of Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar; Calcutta University and Mysore University for their supports during the content developments.

Department of Applied Geology

Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar - 470003

References -

- Cernea, M. Michael., (2006). *Re-examining "Displacement": A Redefinition of Concepts in Development and Conservation Policies, Social Change, New Delhi, v.36, No. 1, pp.08-35.*
- CISCO (1999). *Systems Reusable Information Object Strategy in the book Rory McGreal (2007) Online Education Using Learning Objects, The University of Michigan, Routledge, pp.13-15.*
- Dick, W., & Carey, L. (2000). *The systematic design of instruction (5th ed.)*. New York: Addison- Wesley.
- Dick, W & Carey, L (1990) *The Systematic Design of Instruction, Third Edition, Glenview, IL: Scott, Foresman.*
- Kemp, Jerold. (1977). *Instructional Design: A plan for unit and course development. Belmont: Fearon-Pitman Pub, pp.82-90.*
- Mayer E. Richard (2005). *The Cambridge Handbook of Multimedia Learning. Cambridge University Press, pp.45-67.*

- Moore, M.(1973). *Towards a Theory of Independent Learning & Teaching*. *Journal of Higher Education*, v. 44, pp.661-79.
- Moore, M. (1980). *Three Types of Interaction*. *American Journal of Distance Education*, v.3 (2).
- Parer, M. S. 1995. "Good Distance Teaching: Quality Distance Teaching = Structured Design + Dialogue + Communication, One World Many Voices - Quality in Open & Distance Learning." In 17th World Conference Proceedings of ICDE.
- Thomas, H. (2013). *Keynote lecture on E-content: The Newly Emerging Technique for Teaching through Web*. One day workshop held in Department of Soil Science, Allahabad School of Agriculture SHIATS, Allahabad.
- Thomas, H. (2014). *E-Content: Newly Emerging Technique for Teaching Through Web*. Presented at National Seminar on Geology, Tectonics Geo-Hazards & Natural Resources of North East India. Aizawl, Mizoram.
- Thomas, H. (2015). *E-Content: Teaching through Web*. *Journal of Nepal Geological Society*, p.35.
- Vijayakumari, G. (2011). *Role of Educational games improves meaningful learning*, *Journal of Educational Technology, I-manager pub*, v.8, No.02, pp.08-11.

Internal Marketing to Ethical Internal Marketing

Astha Dewan

Introduction

“A service is an act of performance that one party can offer to another that is essentially intangible and does not result in the ownership of anything.”¹ For example, banking, education, hospitality etc falls within the ambit of the concept of services. Services can be identified due to these different characteristics such as intangibility, inseparability, heterogeneity and perishability. Intangibility means that the service cannot be seen, touched, heard. Inseparability means that the services cannot be separated from the service provider. Heterogeneity means that the services are variable in nature. Perishability means that the services cannot be stored.

In contrast to a product, marketing theorists and practitioners have agreed that due to these different traits of services, service marketing has to be considered as a separate field of study. In service marketing, the terms internal marketing, external marketing and interactive marketing are used to describe the relationship between organisation, employee and customer.² Internal marketing deals with marketing directed to people within an organisation. External marketing deals with marketing directed to people outside the organisation. Interactive marketing deals with the interaction between employees and customers.

The existing literature focused more on the term external marketing due to customers being involved at one end and organisation on the other end.³ The usage of the concept of external marketing helps in profit generation through customer satisfaction which has been in the interest of both the parties, be it organisation or customer.⁴ Therefore, marketing theorists and even critics, focused on many things in external marketing including customer rights⁵ and ethics from the perspective of organisation to honour those rights of customers.⁶

Importance of the study

The term ethics have been incorporated within the realm of few areas of marketing. For example, ethics of organisation in providing conducive work environment to its employees⁷ and ethics in all P's to customers⁸ has already been discussed by marketing theorists. However, ethics in communication from organisation to its own

employees have not been found anywhere in literature related to internal marketing. Similarly, ethical questioning by employees from their organisation is missing in the evolution of the terminology of internal marketing. Therefore, the concept of internal marketing needs to be expanded to ensure that the concept of internal marketing becomes prevalent as is the case with the concept of external marketing.

Objectives and Methodology

This paper attempts to throw light on the reasons why the concept of internal marketing has not gained prominence as compared to external marketing. An endeavour has been made to highlight things that need to be supplemented with internal marketing to make it more effective in organisational settings. The study tries to build the theoretical understanding of internal marketing which needs to be strengthened from the point of view of employee or employer or both.

To achieve the objectives of the study, existing literatures have been used to bring out the missing factor(s) in the concept of internal marketing. The reasons for adding the missing factor in the concept of internal marketing is supported with the recent scam case study of Wells Fargo, the fourth largest bank of America.

Discussion : Ethical Internal Marketing in the Present Scenario

Services are variable in nature. The word variable means lack of consistency. In service marketing, concept of variability is linking the quality of the services rendered with the service provider depending upon when, where and how the services are being rendered. The term internal marketing helps to overcome this inherent problem of variability in services.

The organisational setting has two parties for executing the concept of internal marketing namely, the organisation itself and its employee. If an attempt has been made by marketing theorists to standardize the human behaviour in an organisational backdrop, then this is required to be done from the point of view of employer and employee.

The concept of internal marketing has evolved through different phases. On the basis of review of existing literature, there are three different phases which lead to the development of the idea of internal marketing. These three phases are employee motivation, customer orientation and implementation.⁹

However, despite these three phases in internal marketing, even today there is no consensus on the conceptual understanding of the internal marketing.¹⁰ The definition of the internal marketing lacks consensus, therefore, the concept has poor effectiveness in today's organisational scenario. The concept of internal marketing has not gained prominence because it's overlooking a foundation which is a basis of growth of an individual or an organization in long run.

There are two aspects in internal marketing. Firstly, every employee is the internal customer of the organisation.¹¹ Secondly, employers must focus on employee's needs because satisfied employees will be better service deliverers.¹² Therefore, the present concept of internal marketing has been developed only from the perspective of

receiver which are employees. The role of sender of the message thereby meaning organisation/service provider in the concept of internal marketing has not been brought forward in any of the literature related to internal marketing.

Now-a-days, internal marketing is more than just employee motivation and customer orientation. Just focusing on these two alone is not sufficient in today's competitive environment. If correct ethical information has not been disseminated to employees then no matter how motivated and customer oriented the employees are, then end result will be zero. Similarly, if the employees do not raise ethical questions challenging the un-ethical intentions of the corporate, then also the end result will be zero. So the term 'ethics' need to be added in the theoretical concept of internal marketing. The word 'ethics' encompasses principles governing human behaviour. Ethics helps in deciding what is right or wrong in the person's behaviour. For example, transparency, lawfulness are examples of business ethics which set the standards for any organisation's work culture and environment. Ethics in business means application of ethical norms to business according to the value system. An individual develops their values from their experiences, education, family, work environment and culture. In addition to these factors, business ethics have evolved over time. For example, business practice which had been acceptable 150 years ago may not be considered ethical today and vice versa. The term business ethics gained more popularity with the increased popularity of the concept of social responsibility by the corporates. Adherence to ethical norms help organisation gain public acceptance in society.

The case of Wells Fargo Scandal supports that ethics in internal marketing is the key word which needs to be supplemented for the successful implementation of the term 'internal marketing'.

Wells Fargo is a financial service company in United States. It is the fourth largest bank in America. Wells Fargo executives pressurised its employees to resort to unacceptable practices to meet targets and increase bank's revenue. Wells Fargo's employees created fake saving accounts, checking accounts, safety deposit boxes, credit card for its customers without their consent and transferred money from existing accounts to new accounts. The employees used their own contact details on customer's forms and set the customer's PIN to "0000" to prevent customers from identifying the fraud. Some employees send fraud alerts on customer's accounts so that they close their accounts and open new accounts rather forced people to open additional accounts for their family members for special occasions with credit card backup for those accounts.

Later, when bank's customers noticed the charges levied in their accounts, the scandal came into limelight and brought regulatory agencies into action. John Stumpf, Wells Fargo' Chief executive was made to resign from his post and barred from ever working at a bank again. John Stumpf has been ordered by the Office of the Comptroller of the Currency (OCC) to pay \$17.5 million for his alleged involvement in this scam. The bank admitted that it set unrealistic targets that lead thousands of employees to open millions of new accounts for customers without their knowledge by misusing customer's identities.

Wells Fargo for their vested interests deliberately communicated impossible high targets to its employees. The company even gave incentives to its employees to meet these unachievable targets and encouraged them to open fake accounts for customers. The sender (organisation) overlooked ethics in internal marketing. The sender motivated employees and encouraged them to view cross-sell strategy as a tool of offering better services to customers to remain customer oriented. On other hand, the employees never questioned the un-ethical communications from Wells Fargo. If employees would have questioned Well Fargo then this fraud going on in front of their eyes for around 14 years could have been prevented.

Wells Fargo made a short term profits of more than \$ 2 million from these fake accounts but cannot sustain in long run. Ultimately, Wells Fargo paid \$ 3 billion fines to the Department of Justice and the US Securities and Exchange Commission.

Overlooking ethics in internal marketing at the cost of losing customer's trust will never be a clinching deal. Even though Wells Fargo made profits in short run at the cost of frauding with customers, still in long term they lost their brand value, goodwill and above all customer trust.

The Wells Fargo case brings out how certain groups within an organisation for their vested interest can misuse internal marketing which can be fuelled by the complacent non-questioning attitude among the organisation's employees. If a stakeholder develops a complacent attitude that all is well too without questioning even wrong things openly done in front of their eyes, then system will collapse.

There are two questions which arose in the light on internal marketing:

1. Is the responsibility of organisation only to communicate correct facts to its employees in an ethical manner?
2. Is the responsibility of the employees only to question the ethicality behind any un-ethical communication from their organisation?

The answer to these two questions is no. Both organisation and employee are equally responsible to prevent misuse of internal marketing.

Organisations are bound to function in an ethical manner otherwise they cannot flourish and grow in long run. In the same manner, employees' career path is linked with the growth of an organisation.

The employees must raise ethical questions on the basis of facts otherwise it will become a case of vendetta. Organisations must communicate ethically to its employees. On other hand, if organisations know that their employees are going to question their steps and communications, then because of this challenge, organisations will automatically work in a true and fair manner which is in the long term interest of organisation, employees, customers and other stakeholders.

A motivated customer oriented employee must raise ethical question from organisation because it is in the long run interest of their organisation and self. Similarly, a motivated customer oriented corporate must pass only ethically correct information to its employees because it is in the long run interest of organization, employees, customers

and other stakeholders. Therefore, both organisation and employee cannot pass on their responsibility to each other and remain accountable to practice ethical internal marketing.

Employees must go for ethical questioning from their organisation and organisations must go for ethical communication with its employees. The term internal marketing will be effective in its implementation only when word ethics is brought into its preview.

Conclusion

The word 'service marketing' needs a different understanding from the term 'product marketing' due to the inherently different characteristics of services namely intangibility, inseparability, heterogeneity and perishability. In service marketing, the terms internal marketing, external marketing and interactive marketing are used to describe the relationship between organisation, employee and customer.¹³ The existing literature in the area of marketing focused more on the term external marketing due to customers being involved at one end and organisation on the other end.¹⁴ Even though the concept of internal marketing has evolved through different phases but even today there is no consensus on the conceptual understanding of the internal marketing.¹⁵ The definition of the internal marketing lacks consensus, therefore, the concept has poor effectiveness in today's organisational scenario. An endeavour has been made to highlight things that need to be supplemented with internal marketing to make it more effective in organisational settings. The reasons for adding the missing factor in the concept of internal marketing is supported with the recent scam case study of Wells Fargo, the fourth largest bank of America. Wells Fargo executives pressurised its employees to resort to unacceptable practices to meet targets and increase bank's revenue. The company even gave incentives to its employees to meet these unachievable targets and encouraged them to open fake accounts for customers. The sender (organisation) overlooked ethics in internal marketing. The sender motivated employees and encouraged them to view cross-sell strategy as a tool of offering better services to customers to remain customer oriented. On other hand, the employees never questioned the un-ethical communications from Wells Fargo. If employees would have questioned Well Fargo then this fraud going on in front of their eyes for around 14 years could have been prevented. Wells Fargo made a short term profits but cannot sustain in long run. Therefore, the present concept of internal marketing focusing on employees alone needs to be expanded. The framework of internal marketing must also be from the point of view of corporate/service provider/organisation. However, just focusing on both organisation and employees will not provide a sufficient basis for successful implementation of the term internal marketing in any organisational setting no matter how motivated and customer oriented these two parties would be. The term ethics must be supplemented to strengthen the concept of internal marketing. Ethics helps in deciding what is right or wrong in the person's behaviour. Ethics in business means application of ethical norms to business according to the value system. An individual develops their values from their experiences, education, family, work environment and culture. In addition to these

factors, business ethics have evolved over time. The term business ethics gained more popularity with the increased popularity of the concept of social responsibility by the corporates. Adherence to ethical norms help organisation gain public acceptance in society. Thus, the concept of ethics must be added from the point of view of both organisation and employees. The term ethics must be incorporated for corporate to keep in their mind while communicating information with their employees. In the same manner, ethical questioning from corporate by employees to improve the overall functioning of the organisations needs to be encouraged. In nutshell, the focus in today's world should move from 'internal marketing' to 'ethical internal marketing'.

Department of Commerce
Shri Ram College of Commerce
North campus, Maurice Nagar
University of Delhi-110 007

References-

1. Kotler, Philip and Keller, Kevin Lane (2009). *A Framework for Marketing Management*. 4th Edition. New Jersey: Pearson Prentice Hall, pages-214-215.
2. Tansuhaj, P., Wong J. & J. McCullough. (1987). *Internal and External Marketing Effects on Consumer Satisfaction in Banks in Thailand*. *International Journal of Bank Marketing*, Vol. 5 No.3, pp 73-83.
3. Greenley, G. E. , & Foxall, G. R. (1998). *External Moderation of Associations among Stakeholder Orientation and Company Performance*. *International Journal of Research in Marketing*, Vol.15 No.1, pp 51-69.
4. Lings, Ian & Greenley, Gordon. (2009). *The Impact of Internal and External Market Orientations on Firm Performance*. *Journal of Strategic Marketing*, Vol. 17 No.1, pp 41-53.
5. Harland, D. (1987). *The United Nations Guidelines for Consumer Protection*. *Journal of Consumer Policy*, Vol.10, pp 245-266.
6. Hansel, Paul J. & Alan J. Dubinski. (1986). *Ethical Dilemmas in Marketing Rationale*. *Journal of Business Ethics*, Vol. 5 February, pp 63-67.
7. Mc Claren, N., Adam, S. & Vocino, A. (2010). *Investigating Socialization, Work-Related Norms, and the Ethical Perceptions of Marketing Practitioners*. *Journal of Business Ethics*, Vol. 96, pp 95-115.
8. Wood, M. (2008). *Applying Commercial Marketing Theory to Social Marketing: A Tale of 4Ps (and a B)*. *Social Marketing Quarterly*, Vol. 14 No.1, pp 76-85.
9. Rafiq, M., & Ahmed, P. K. (2000). *Advances in the Internal Marketing Concept: Definition, Synthesis and Extension*. *Journal of Services Marketing*, Vol.14 No.6, pp 449-462.
10. Ibid
11. Brown, S.T., Fisk, R.P. and Bitner, M.J. (1996). *The development and emergence of services marketing thought*. In Lovelock, C. (Ed.), *Services Marketing* (3rd Ed.), Prentice Hall, New Jersey, pp. 76-93.
12. Grönroos, C. (1990a). *Relationship approach to marketing in service contexts: the marketing and organizational behaviour interface*. *Journal of Business Research*, Vol 20 No 1, pp.3-11.
13. Tansuhaj, P., Wong J. & J. McCullough. (1987). *Internal and External Marketing Effects on Consumer Satisfaction in Banks in Thailand*. *International Journal of Bank Marketing*, Vol. 5 No.3, pp 73-83.
14. Greenley, G.E., & Foxall, G. R. (1998). *External Moderation of Associations among Stakeholder Orientation and Company Performance*. *International Journal of Research in Marketing*, Vol.15 No.1, pp 51-69.
15. Rafiq, M., & Ahmed, P.K. (2000). *Advances in the Internal Marketing Concept: Definition, Synthesis and Extension*. *Journal of Services Marketing*, Vol.14 No.6, pp 449-462.

Women in Gandhi's Swaraj with Special Reference to Raja Rao's Kanthapura

Nishtha Saxena

The present essay is aimed at critically examining the significance of Gandhi's views on the agency and empowerment of women in Indian socio-cultural contexts with special reference to Indian cultural texts, particularly the Vedas, the Upanishads, and Manusmriti. The essay also seeks to critically analyse Raja Rao's Kanthapura (1938) in the light of Gandhi's views on women and swaraj. In this sense the present essay may be considered as an essay in Indian cultural studies. Needless to say, there is an urgent need to decolonize the Euro-Americo-centric field of cultural studies as its hegemony is omnipresent in the pedagogical and research modules of most of Indian Universities. Hence the significance of establishing, in Gandhian sense, a state of “swaraj” (true self-rule or true freedom) in Indian academy by using the insights and the world-views of Indian thinkers, activists and writers in the field of cultural studies. Accordingly, the paper will argue, though in brief, how Gandhi's swaraj will remain imperfect and deeply flawed if women, like men, are not allowed to realize their full potential as good (in the sense of being “dharmic” or “ethical”) human beings and are subjected to all kinds of oppression, inequalities and injustices. Gandhi candidly draws a sketch of his all-inclusive, holistic swaraj(self-rule):

Let there be no mistake about my conception of Swaraj. It is complete independence from alien control and complete economic independence. So at one end you have political independence, at the other the economic. It has two other ends. One of them is moral and social, the corresponding end is Dharma.Let us call this the square of Swaraj, which will be out of shape if any of its angles is untrue. (Young India, January 2, 1937¹).

Accordingly, what Gandhi implies by a 'Swaraj-centric' society is a “Dharmic” (ethical, good) society in which men and women, irrespective of their differences of race, class, gender, caste and class coexist (in fact, in Gandhi's Swaraj, these differences will cease to exist). True freedom or Swaraj for Gandhi does not mean the attainment of (women's or men's) “rights” only as human beings; rather in the Gandhian scheme of things, people derive their rights only in lieu of the performance of their duties. Much to

the chagrin of the so-called champions of human-rights-activists and even the self-styled feminists/post-feminists of all sorts, Gandhi unequivocally, asserts that if “we discharge our duties, rights will not be far to seek. If leaving duties unperformed, we run after rights, they will escape us like a Will O’ the Wisp. The more we pursue them, the farther will they fly” (Young India, December 25, 1927). Furthermore, Gandhi continues to emphasize the performance of one’s duties and obligations to others in all circumstances (which is the meaning of ‘dharma’ also) which will always yield ‘rights’ to any individual or people at large: “Duty well done undoubtedly carries rights with it; but a man who discharges his obligations with an eye upon privileges, generally discharges them indifferently and often fails to attain the rights he might have expected; or when he succeeds in gaining them, they turn out to be burdens” (Young India, October 10, 1929). Let us illustrate Gandhi’s position through a simple example: Satyagraha (use of non-violence resistance against all forms of injustice, violence is to be resorted to only in extreme circumstances according to Gandhi and the Indian cultural tradition) against all forms of injustice and oppression is the duty or dharma of one and all. And therefore, if a woman or a man, because of her/his commitment to duty or dharma, chooses to protest against *anyaaya* (injustice) and *adharma* (immorality) in any walk of life, will eventually secure her/his right to justice and true freedom. That is why Gandhi’s discourse on women cannot be appropriated by the ideologues of any kind of “ism” or ideology as it is grounded in truth, non-violence, good conduct and performance of duty (that is, *sadaachaara* or *dharma*). In this way, Gandhi hugely disappoints the professional “feminists” (of all shades and hues) and “arm-chair-activists-intellectuals” writing their theories/ideologies of esoteric nature-full of jargon and cant- that primarily marks the prescribed courses of the postgraduate students of English and cultural studies in India! Gandhi’s vision of “women” (or human) was in consonance with Bharatiya/Indian dhrama-centric darshana or world-view. In Bharatiya/ Indian cultural traditions/texts, “*atma/jevatma*” (or self) is neither male nor female nor a hermaphrodite, it manifests itself into the form of a “(gendered) body” with which it gets combined (*Svetashvataropanishad*, *IshadiNau Upanishad*, 5.10, 410). Women, men and all that exists in the universe (hence no anthropocentrism in the Indian world-view) have been conceptualized as manifestations of “*Devi/ Shakti* (the primal cosmic power or energy)”. This is how *Durgasaptashati* describes the cosmic power as “*Devi*” that is the source of all entities in this cosmos in seemingly feminine terms: “I am the source of all. From me emerges this entire cosmos- the manifest and the unmanifest. I am the divine joy as well as sorrow; science as well as ignorance; the Truth as well as Untruth; ... I exist above, below, as well as in all directions”.² (*Durgasaptshati*, 44-5). Even in *Manusmriti*, one of the much-maligned and least-read texts of Indian tradition, women have been given a place of prominence – worthy of being accorded profound reverence – without which no society can exist as a good society. Consider the following examples (out of many examples advocating women’s empowerment, equality and emancipation) from the interpolation-free version of *Manusmriti* :

YatraNaaryastuPoojyanteyRamanteyTatraDevataah/Yatraitaastu Na PoojyanteySarvaastatraaphalaahKriyaah (3.56, 184-85)

(Wherever women are accorded great reverence, persons of divine virtues inhabit that place; to the contrary, wherever women are dishonoured or oppressed, that place gets destroyed).

ArakshitaGriheyRuddhaahPurushairaaptakaaribhih/AatmaanaatmanaaYaastu RaksheyumstaahSurakshitaah (9.12, 450)

(Women, even if they are confined to home and remain under supervision, remain unprotected; women are/can be protected from evil and dangers only when they protect themselves from all evils and dangers).

It is worthwhile to mention here that Gandhi, in accordance with the sublime position of women in Indian knowledge tradition, was all for according dignity and reverence to women and he never acknowledged or accepted that women's condition can be ameliorated through men's charitable activism. Or Gandhi never believed in women's empowerment being privileged men's burden! He always upheld that women have to empower themselves and realize their potential as equal humans. As an adherent to satya and ahimsa, Gandhi announced in no uncertain terms that he is even ready to discard those portions of sacred texts which are inimical to or violative of human dignity and morality: "Nothing can be accepted as the word of God, which cannot be tested by reason or be capable of being spiritually experienced" (Harijan, July 18, 1936). If there is any interpretation of any sacred text (or even of a text that is related to science) which is repugnant to reason and moral sense, Gandhi would oppose it tooth and nail, however learned the interpreter might be/ have been. Very few nationalists, save Swami Dayananda and Swami Vivekananda, could make a public pronouncement like this in the early days of Indian freedom struggle. Even the discourses of the so called radical new age thinkers (for example - Yuval Noah Harari) on women are marked by blatant generalizations under the camouflage of value-free secularization of life that justifies the subjugation or exploitation of women in newer ways peculiar to western modernity. Harari, in his much talked-about book, *Sapiens: A Brief History of Humankind* showcases how women have always been the "property of men... and to be a husband was to have full control of your wife's sexuality" (164). Throughout the book, Harari does not see any escape for women from a male-centred binarization of culture/life and asserts that it is "hard to believe that the most influential and most stable social hierarchy in history is founded on men's ability physically to coerce women" (173). How reductive, negative and claustrophobic is Harari's vision of man-woman relationship as compared to the Vedantic or non-dualistic vision of India as stated above – which Gandhi inherited and made anew.

Raja Rao's *Kanthapura*: Literary Representation of Women's Satyagraha (truth or soul-force) for Swaraj

First, what may possibly be meant by Gandhi's swaraj where we wish to locate women? To Gandhi "swaraj" or self-rule does not merely imply political freedom; it stands for true holistic liberation that includes the availability of political, economic,

socio-cultural and spiritual freedom to one and all members of society- irrespective of their caste, gender, class, ethnic, linguistic and regional differences. Gandhi emphatically spells out the all-inclusive dimensions of “dharma-centric/ morality-centric “swaraj”. Some of his radical views on women's agency were much ahead of his times. For instance,

If you (women) want to play your part in the world's affairs, you must refuse to deck yourself for pleasing man. If I was born a woman, I would rise in rebellion against any pretension on the part of man that woman is born to be his plaything”(Young India, February 20, 1920).

Man has converted woman into a domestic drudge and an instrument of his pleasure, instead of regarding her as his helpmate and better-half. The result is a semi-paralysis of our society (Harijan, 12 February, 1939).

To me, this domestic slavery of women is a symbol of our barbarism. In my opinion the slavery of the kitchen is a remnant of barbarism mainly. It is high time that our womankind was freed from this incubus. Domestic work ought not to take the whole of a woman's time (Harijan, June 8, 1940).

Raja Rao's *Kanthapura* has generally been hailed as a Gandhian novel. Raja Rao himself was highly influenced by Gandhi as is evident from his work (*The Meaning of India*, and *The Great Indian Way: A Life of Mahatma Gandhi*). Raja Rao highlights how, under the influence of Gandhi's satyagraha, swaraj and swadeshi, Indian women belonging to nondescript rural areas of India were sensitized about and awakened to their duty or dharma to proactively participate in India's freedom struggle.

They say Rangamma will come out of prison soon. They say Rangamma is all for the Mahatma. We are all for the Mahatma. Pariah Rachanna's wife, Rachi, and Seethamma and Timmamma are all for the Mahatma... . They say the Mahatma will go to the Red-man's country and he will get us Swaraj. He will bring us Swaraj, the Mahatma. And we shall all be happy. (*Kanthapura* 258)

Kanthapura (1938) portrays the story of *Kanthapura*, a non-descript village in South India which becomes the hub of political activity when it joins Gandhi's struggle for freedom from the British. The villagers of *Kanthapura*, who were till now only worried about their mundane affairs, are mobilised into action by the Gandhian leader, Moorthy. It is significant to note how Gandhi's call for swaraj inspired thousands of Indian women, who were hitherto not actively participating in India's struggle for freedom, to come forward to become the agents of political action.

Kanthapura portrays the protest of villagers against British hegemony (non-violently) by boycotting British goods and spinning their own yarn. As a result, they are beaten, harassed, threatened and even displaced from their village because their Satyagraha or soul-force forbids them to yield to the oppressive power-structures. By the end of the novel, Moorthy, the representative of Gandhi's activism in *Kanthapura*, who had stirred and united the old with the young, the twice-born castes with the untouchables, men with women, is doubtful of the validity of naive Gandhian principles while resisting the staunch British enemy. He, thus, deviates towards the more promising

and socialist, Jawaharlal Nehru, Gandhi's disciple who contested Gandhi's village-centric idea of swaraj.

Besides Moorthy's shift of belief from Gandhi to Nehru, one also notices another striking feature in the story of Kanthapura: it is the women, dispossessed and illiterate, young and old, widows and untouchables, who remain firm in following Gandhi's ideas in order to liberate them from foreign yolk. Although they have faced violence on behalf of the authorities, they have not given up their support for Gandhi who is not less than an avatar of God for them. As Madhu Kishwar aptly points out: "Kanthapura is one of the very few attempts made to show us what the movement looked like and meant to ordinary women" (Gandhi and Women 24). Women, who had hitherto, been concerned about "the blowpipe and the broom-stick, and the milking of the many cows" are motivated by the brave testimonies of other women leaders like Sarojini Naidu, Kamaladevi and Annie Besant (Kanthapura 150). Kishwar in her analysis of women's role as portrayed in the novel is critical of the passive characterization of women by Raja Rao. But it is also important to notice that widows like Rangamma, Ratna and even the widowed narrator of the story, Achakka are resisting authority in their own way, if not in the narrow way as traditional feminists conceptualise resistance.³ For instance, Ratna was widowed when she was a mere child of ten and now she carries no fake remorse on her face. Neither does she dress up conventionally like widows: she wears jewellery. Nor does she consider herself properly married as she just saw her husband for a day, and the next day he was dead. In short, she blatantly defies decayed customs (Kanthapura 44).

Besides, Rangamma's house is the centripetal force which awakens the villagers politically as it has become "something of a Congress House" at Kanthapura (23). Rangamma is well-educated and aware of the political upheaval India was facing at that time. No doubt, her knowledge of current affairs increased thanks to her subscription of national newspapers like "Tai-nadu, Vishwakarnataka, Deshabhandu, and Jayabharatha" (41).

In the light of the above statements, it is pertinent to highlight that for Gandhi, swaraj at an individual level was equally important as Swaraj at the political level. Women – the most repressed section of Indian society after the Dalits – actively participated in the struggle for independence. For example, even in South Africa, when the struggle of Indian community was just limited to securing the abolition of the annual poll-tax of three pounds tax on every indentured labourer and his family members, and protesting against the Black Act, women formed a considerable part of the "army" of satyagrahis who resisted oppression non-violently. Because of their faith in the power of truth/soul-force or satyagraha, they were relentless in their support to resist the exploitation of Indians in South Africa. Not only did they perish in jails but some of them, like Valliamma, a girl of sixteen, even died. Gandhi extolled the "pure sacrifice" of such women that symbolised selfless service to their motherland (Gandhi Satyagraha 259). Furthermore, during Gandhi's Salt Satyagraha or Dandi March (1930), women led by Sarojini Naidu, Kamaladevi Chattopadhyay, Aruna Asaf Ali and others resisted boldly the oppression of British forces by manufacturing their own salt from the sea.

Women's independence from dogma and patriarchy, in Gandhi's opinion, was important in order to realise a true swaraj. For instance, he believes that:

There is no occasion for women to consider themselves subordinate or inferior to men. Languages proclaim that woman is half of man and, by parity of reasoning, man is half of woman. They are not two separate entities, but halves of one. The English language goes further and calls woman the better half of man. Therefore, women should resort to civil rebellion against all undesirable and unworthy restraints. (Harijan: Mar. 23, 1947)

Men and women are equal in Gandhi's ideal social order. In fact, women go a step further in qualifying as satyagrahis because they have greater resilience and patience when faced with exploitation. Ahimsa (non-violence) and Satyagraha (insistence on truth) were considered as the weapon of the weak in the vocabulary of popular resistance. Gandhi, on the other hand, radicalised them by involving both men and women, the young and the old in their domain. In other words, one can say that "by invoking the feminine in a political situation whose norms were masculine, he unsettled gender and colonial politics at once" (Young 327). Spinning of charkha and picketing of shops selling foreign products was a significant component of Gandhi's swadeshi. And women, including Gandhi's own wife, Kasturbai, led the revolt against the British with as much zeal as their male counterparts.

It is important to understand why Gandhi's insights on women's swaraj need to be located in field of cultural studies which is also concerned about issues related to gender in the contemporary world. First, there is urgent need to decolonize cultural studies from its largely Euro-Americo-centric theoretical principles. Second, Gandhi's idea of swaraj is relevant enough to address the gap between theory and practice of cultural values which stares cultural studies in the face. Third, Gandhi does not treat women as commodities or objects to be "utilized" according to one's own convenience.⁴ For example, when Gandhi wrote a primer for children (balpothi), he advises a boy to learn household chores as efficiently as he thinks his sister should. A son in conversation with his mother ignorantly says that since he has to study and earn, he cannot do household tasks. In response the mother says,

You are wrong my son. Woman also makes an earning for the family. And there is a lot to learn in housework – cleaning, cooking and laundry. By doing housework you will develop various skills of the body and will feel self-reliant. In good housework, you need to use your eyes, hands and brain. Therefore, these activities are educative and they build your character. Men and women both need to be educated equally in housework because the home belongs to both". (Patel)

The above quotation illustrates that Gandhi aimed at sensitising little children (who have the power to change the future) about the respect they should accord to women and the household chores they perform. The hierarchy of duties that had hitherto divided men from women got dissolved in the constructive programme led by Gandhi and his associates like Sarojini Naidu, Miraben, Annie Besant, Kasturbai Gandhi, Sarladevi Chaudhurani etc. It is evident in Gandhi's own life-story how he used to clean toilets, practise village-sanitation, spin khadi, nurse patients, and educate children – tasks that

were stereotypically assigned to women. Subversion of gender-typical roles by an eminent social leader like Gandhi prompted the whole nation to pay attention to the power that is implicit in the ordinary tasks that women perform. As AshisNandy points out, "Gandhi was clear in his mind that activism and courage could be liberated from aggressiveness and recognized as perfectly compatible with womanhood, particularly maternity" (54).

Cultural studies lays emphasis on the issue of gender difference and the need to administer equal justice to all regardless of one's sex (Barker Making Sense113). As Gandhi too was influenced by the women rights' (suffragette) movement of the early twentieth century Britain and the passive resistance they offered, it is important to highlight how Virginia Woolf, in her seminal book, *A Room of One's Own* (1929), advocates women's freedom from dogma in education, literature, politics and household duties. Just as Gandhi stressed the economic liberation of women by empowering them through khadi and handicrafts, Woolf also advocates economic independence of women in order to represent themselves fairly in the social sphere. Her book can be read as a defence of a woman to be proud of her womanhood and a treatise which supports the equal treatment of sexes:

Women are supposed to be very calm generally: but women feel just as men feel; they need exercise for their faculties and a field for their efforts as much as their brothers do...and it is narrow-minded in their more privileged fellow-creatures to say that they ought to confine themselves to making puddings and knitting stockings, to playing on the piano and embroidering bags. (66)

In the field of critical theory, the works by Virginia Woolf (*A Room of One's Own*) and Simone de Beauvoir (*The Second Sex*) are of immense importance. It is not because they highlight the exploitation women have been suffering over the centuries, but because they put forth a just, humane idea of a world order that cannot be broken down by narrow, orthodox walls of primitive thinking. For instance, Beauvoir in the "Conclusion" to her book, *The Second Sex* (1949), points out that "the relation of man to woman is the most natural relation of human being to human being... men and women must, among other things and above and beyond their natural differentiations, unequivocally affirm their brotherhood" (782). This is how one can note the cross-cultural similarity between some of the themes reflected in the works of above-mentioned feminist critics and Gandhi's writings and practice.

But what is to be understood is that Gandhi's notion of women's swaraj which is put into practice through swadeshi is also inevitably linked with the sarvodaya of the nation as a whole. In this way, Gandhi suggests that in order to attain a state of "real organic swaraj", men need to break down "the walls of prejudice, passion and superstition" by treating women "as co-partners in their work of nation-building" (Collected Vol 33, 148-49). Thus, he used enabling terms such as "ardhangini" ("the better half") and "sahadharmini" ("the help-mate") to "describe a wife" so as remind the dominant power-structures of society that "she is the queen, not the slave of the household over which she presides" (Joshi 292). One can, however, legitimately

question Gandhi's treatment of his granddaughter (and other women), Manu, while trying to assess his control over his sexual desire. One cannot justify the affliction of Gandhi's own will onto other women to the extent of reducing the other to the status of an experimental guinea pig! That is precisely what Gandhi's eccentric and strange obsession with his own sexuality resulted into the patent case of a young girl's subjugation and torture- so much against Gandhi's own "dharmic or ethical" principles of equality, morality and good conduct or sadaachaara.⁵

Despite these facts, the agency of women in the just society as envisioned by Gandhi is of supreme importance. Needless to say, he criticised the social evils like purdah, caste system, child marriage, exploitation of widows, female infanticide etc. that were a hindrance to the social, economic and spiritual empowerment of women in pre-independence India. And even in post-independence India where most women are exploited, raped and assaulted, Gandhi's emphasis on women empowerment remains significant in order to bring about true freedom or Swaraj. There are indeed certain activists like Ela Bhatt (founder of Self-Employed Women Workers – SEWA), Vandana Shiva (a prominent environmentalist), Phoolbasan Bai (a social activist in Chhattisgarh) and several other unsung women who work with their hands and assert their identity by following Gandhi's satyagraha in their own way (knowingly or unknowingly) to attain swaraj against the decadent forces of orthodoxy.

Department of English,
Gandhi Memorial National College,
Ambala Cantt. (Haryana)

References -

1. All quotations from Gandhi's *Young India* and *Harijan* have been culled from the *Encyclopedia of Gandhian Thoughts* edited by Anand and Ganga Hingorani.
2. Translation mine.
3. It is important to remember that Kishwar does not label herself as a feminist. She refuses to delimit her actions under the rubric of any "ism". Read Kishwar's "Why I do not Call Myself a Feminist" for an in-depth account of her denial to imprison her thought and practice in a particular credo. But in her analysis of Rao's novel *Kanthapura*, she misses the subtlety of women's resistance.
4. However, there is one aspect of Gandhi's life which deserves ample criticism in the present cultural scenario. It is not unknown that some of his practices especially his obsession to unnaturally control his sexual desire in the form of brahmacharya experiments have been condemned and critiqued by all. So immense was his obsession to purify himself sexually that he undertook experiments of brahmacharya (celibacy) by sleeping naked with his grandniece, Manu, during the turbulent days of Indian independence. Although Manu regarded Gandhi as her "mother" (Bapu – My mother 5) and even Gandhi took care of Manu like a strict but loving mother, Gandhi's experiments of celibacy with her suggest that he treated her like a catalyst in the laboratory of his whims to purify himself. However, Gandhi remained immune to all criticisms as he believed that he was not seeing Manu with a carnal eye and she could share her bed with him as freely as a daughter does with her mother (Joshi 378-79). Notwithstanding how innocent and ideal Gandhi's intention was, such eccentric experimentation or yagna (ritualistic sacrifice) of Gandhi was criticised severely by his peers, particularly by Nirmal Kumar Bose in his book – *My Days With Gandhi* (1953).

5. For details see *The Diary of Manu Gandhi* and Prof. Shankar Sharan's series of articles available on: <https://www.nayaindia.com/main-stories/bramcharya-ke-prayog-mahatma-gandhi-mnuben-2-86839.html>.

Works Cited

- Barker, Chris. *Making Sense of Cultural Studies: Central Problems and Critical Debates*. Sage, 2002.
- Beauvoir, Simone de. *The Second Sex*. Translated by Constance Borde et al. 1949. Vintage, 2011.
- *Collected Works of Mahatma Gandhi*. 1971. Vol. 33. Govt. of India, 1994.
- *The Diary of Manu Gandhi: 1943-44*. Edited by Tridip Suhrud. Oxford University Press, 2019.
- *Durgasaptshati*. Gita Press. 1996.
- Gandhi, Manubehn. Bapu – My Mother. Translated by Chitra Desai. 1949. Navajivan, 2014.
- Harari, Yuval Noah. *Sapiens: A Brief History of Humankind*. Vintage, 2015.
- Hingorani, Anand T and Ganga Hingorani. *The Encyclopaedia of Gandhian Thoughts*. All India Congress Committee, 1985.
- *Ishaadi Nau Upanishad*. Edited by H. K. Das Goindaka. Gita Press, 1990.
- Joshi, Pushpa. *Gandhi on Women: Collection of Mahatma Gandhi's Writings and Speeches on Women*. 1988. Navajivan, 2011.
- Kishwar, Madhu. *Gandhi and Women*. Manushi, 1986.
- Nandy, Ashis. *The Intimate Enemy. Loss and Recovery of Self Under Colonialism*. Oxford UP, 1993.
- Patel, Vibhuti. "Gandhiji and Empowerment of Women." *mkgandhi.org*, 23 Nov, 2017, http://www.mkgandhi.org/articles/womens_empowerment.html.
- Rao, Raja. *Kanthapura*. 1938. 2nd ed. Oxford UP, 2009.
- *Vishuddha Manusmriti*. Edited by Prof. Surendra Kumar. Arsha Saahitya Prachaara Trust, 1986.
- Young, Robert J. C. *Postcolonialism: An Historical Introduction*. Blackwell, 2001.

Girish Karnad's Yayati : A Tale of an Old Man's Lechery and an Un-heroic Filial Sacrifice

R.T. Bedre

It is quite surprising that a play written in the early sixties takes near about a half century to appear in English. Inscrutable are the ways of a complex playwright like Girish Karnad! This is the first play written by Karnad in 1960 originally in Kannada. So far he has translated all his Kannada plays (except two) into English and published them but he had somehow avoided to bring the present play as he considered it as a part of his juvenilia. But finally, he has to give in to the complaints and demands of his fans in print and theater, and he has brought the play in his own English translation in 2008 (as already a noted translator Priya Adarkar translated the play).

A unique distinction of the play is that a juvenile enterprise of a 22 year old inexperienced Girish in Kannada has got translated by the 69 year old mature and theater-screen thespian Karnad. Another important thing about this play is that its first performance in Hindi in the seventies with Amrish Puri in its eponymous role established Satya Dev Dubey as 'a theater director with a distinct vision' (Karnad, *The Hindu*, 2007). As it has been translated into various modern Indian languages, it has been one of the favourite plays of the performers.

As Karnad has made it clear at various occasions that he wrote the play when he was facing a stressful situation at the time of his first trip to London granted him under the covetous Rhodes scholarship of Oxford in 1960. As he was the first member of his family to go abroad, his family members doubted whether he would return or settle in England by the end of his two year long stay there. Karnad found himself caught between his familial expectations and the opportunities that were to tempt and retain his talent in London. At a time he felt that his family was emotionally blackmailing him and was asking to sacrifice his career for their interests. His portrait of an overbearing father and a submissive son is a displaced expression of his protest against his own family. Amidst such emotionally charged situation, contrary to his Eliotian and Yeatsian dreams, he found himself writing a play and that too, in Kannada instead of English to which language he had trained himself. He admits that he took to writing the play as an escape from his stressful situation. To his own surprise, the theme of the play had come to him

from an ancient Indian mythology from which he believed he had alienated himself. His treatment of the myth inaugurated an affirmed conviction of the playwright, in the words of Aparna Dharwadkar :

Yayati establishes at the outset of Karnad's career that myth is not merely a narrative to be bent to present purposes, but a structure of meanings worth exploring in itself because it offers opportunities for philosophical reflection without the constraints of realism or the necessity of contemporary setting (Introduction, Collected Plays, II Volume, 2005).

Karnad has used the myth of King Yayati found in the Adi Parva of the Mahabharata. Sharmishtha, the tribal princess and Devayani, the daughter of sage Shukracharya and the broken hearted bella of Kachha, are arranged to live together as King Yayati's queen and the royal maid slave. Yayati falls in love with Sharmishtha and enraged Shukracharya curses him with decrepitude. As remedy, he is allowed to escape from the curse if any youth is ready to exchange his youth with his old age of Yayati. Disappointed by each of his subjects and relatives, he finally, turns to his youngest son Pooru, who agrees to do so out of his love for his father. After enjoying his for a thousand years, Yayati returns Pooru his youth and leaves for forest.

The merit of Karnad's treatment of the myth is that it loses its traditional sacredness and purpose of preaching ideal value system. It appears as a tale of racial tensions, female jealousy, the royal lust and unwise and existential escape. Karnad deprives the filial sacrifice of Pooru of its traditional glory and an aura of idealism. In addition to the mythical characters of King Yayati, Sharmishtha, Devayani and Pooru, the playwright has added two new characters—Chitrlekha, the newly wed wife of Pooru, and, Swarnalata, the royal maid. While portraying the character of King Yayati, the playwright has not only retained major traits of Yayati's character but also portrayed him more lecherous than he is found in the myth. He does not spare any opportunity to mark Yayati's lechery and makes not only the other characters speak talk about his lechery but also makes Yayati himself confess his fascination for women. Sharmishtha and Devayani both do not fail to 'examine those eyes (of Yayati) and acknowledge the lust burning there' (Karnad, Yayati, 11). Yayati also now and then keeps talking about his charms over women and his pride in dealing with women. He says, "I am no stranger to women" (16). The significance he attaches to sex is obvious in his speech as his warfares. He says to Sharmishtha:

With such a care, with such pride I gathered the rarest moments of my life in my palm like precious stones. So I could play with them. Relive them. Juggle them. And suddenly, they explode, each moment hurtling through my muscle and bones like a meteorite...

I want people around me. Queens, ministers, armies, enemies, the populace... I love to be young. I must have youth.

I am trying to recapture my youth moments when I handed out pain, moments when I slaughtered enemies, razed hostile cities to the ground, made my queens writhe in pain and demanded that they laugh and make love to me in gratitude (42-43).

Yayati is fully frightened at the thought of decrepitude though in the beginning he tries to show to be unmoved by Shukracharya's curse. But when he realizes its seriousness, he loses his patience and begins shouting at Sharmishtha, Devayani, Shukracharya and Pooru. But the moment he comes to know that the curse will not have its effect on him if any young man agrees to take it upon himself and offers his youth to him in exchange, he is overjoyed like a child. He says to Sharmishtha in joy, "That is good news. That is good news indeed. So I don't lose my youth. Thank god. What a relief! Even a dotard like Shukracharya can see reason" (46).

But Pooru asks him a direct question: Who will accept his curse? Yayati takes it as a minor question. He is overconfident that anybody from his subjects will come and accept his curse for the favours he has done for them. He tells Pooru:

Oh that! Surely that is not a serious question. Surely there is no shortage of men who will come out to take over their king's burden. They will not hesitate to step forward.

My subjects for whose sake I have faced a thousand death?

They are trained to lay down their lives for me. (46).

Yayati thinks that people will voluntarily accept his curse, as they will take it as their honour to serve their King this way. He offers them wealth and public respect. Finding no hope, he even offers to return youth after few years. It shows his greed for youth and the sexual pleasure it entitles. He tries to convince Pooru his state of mind:

Their kith and kin will be looked after. They will live like the royalty. Not just riches, Pooru. Let them think of the glory and the fame. The world will look upto them with reverence.

Are the deeds of glory dead in this world? Has the world become so cynical, so corrupted that there is no place for... for...

I am not trying to shun old age, Pooru. I am not that foolish. I know it is inevitable. Let me have normal term of youth. I shall take back the curse and whatever comes with it after a few years (47).

But when he sees that nobody is ready to sacrifice youth for him, he almost requests Pooru, "What shall I do, Pooru? What am I to do? Go. Go and talk to Shukracharya. Try to convince him..." (48). Only Pooru is willing to accept the curse and he does. Now Yayati wants Chitrlekha, Pooru's just married wife, to understand what a great sacrifice Pooru has made for the sake of his kingdom and she should support her great husband in his crisis. He tries to justify his own act and to convince her that he accepted Pooru's youth to settle the issues threatening the state:

Please try to understand... I am the king... I cannot forget my duty by them and at this moment my duty is to ensure that the forces of chaos will not overwhelm them.

Unfortunately, recently, unexpected troubles have started brewing in corners of my realm. Enemies on the border, rebellious forest tribes, the prospect of famine, the danger of rakshasa depredation.

I tried discussing these problems with him (Pooru). But he is not interested...

I swear to you it never occurred to me that he would accept the curse. I am dumbfounded when he told me. Even now I am willing to take it back on my shoulder.

What father would wish such a fate on his son? Pooru took it on of his own free will. Without a word for me. Without saying to me (63).

But like other women in the play, Chitrlekha also realizes him well. She bluntly questions Yayati, "What about your duty to your son? Did you think twice before foisting your trouble on a pliant son?" (62). Then Yayati tries to console her and promises her a better future:

Give him (Pooru) a little more time. Give me a little time. Let him find himself. By then, I shall settle the affairs of the state. I shall present you and Pooru with a future that shall be secure and yours to keep. Please think. (64).

Chitrlekha, with an interrogating spirit, puts a cross question to him and, quite shockingly for Yayati, she asks him to accept her as his bride:

Think. And will Your Majesty also think about how old I shall be by the time that future is attained? I am here, this minute, sir. And I cannot interest myself in your unborn future.

I married Pooru for his youth. For his potential to plant the seed of the Bharatas in my womb. He has lost that potency. He doesn't possess any of the qualities for which I married. But you do.

You have taken over your son's youth. It follows that you should accept everything that comes attached to it (64).

Finally, she commits suicide, which serves for Yayati as an eye-opening event, contrary to the ending described in the myth.

As Karnad takes away all the mythological charisma of Yayati and presents him a man of sensual desires, he deprives Pooru's sacrifice of its traditional glory. Karnad's Pooru does not give his youth out of his love for his father but to escape from the royal responsibilities to which he considers himself unworthy. All the time a mysterious consciousness fills him with the feeling of inferiority that he is a misfit among the Bharata dynasty. He admits it to his father Yayati:

The great mystery then surely is how this glorious bloodline produced a specimen like me. I had not the slightest inclination to follow in the steps of my illustrious forefathers. I found their deeds pompous. I was bored by the hermitage, unembarrassedly. I wanted to run away, from all that it represented: that history, those triumphs those glorious ideals (35).

Pooru feels himself nonentity among his forefathers. He complains, "My forefathers were the great eagles, keen-eyed, hovering regally in the clouds. I shall seek to be a worm"(37). He does not find any interest in the royal matters. He admits that his bride Chitrlekha deserves someone better than him. He says:

I can sense her disenchantment. She deserved someone worthy of her. Under the circumstances, I couldn't have made a more felicitous choice. She wants a son... I want to have a son so she will have no grumble against me. Nor will anyone else. I can place him in her arms under your tender care and leave (37).

It becomes obvious that he wants an escape from the possible responsibilities of the state, as he is the crown prince. Sacrificing youth for his father appears as an easy and

honourable excuse for him. Yayati is aware of this trait of Pooru's being. Yayati talks to Chitrlekha about it :

Pooru lacks the experience to tackle these problems (pause). Actually, more than the experience, he lacks the will, the desire. Instead of welcoming the responsibilities of a king--- and of a householder—he has welcomed senility within a fortnight of his marriage (64).

There is another face saving policy for Pooru. Yayati narrates him story of his mother. Yayati's senior queen, Pooru's mother has been a rakshasi. She married Yayati because the Aryas had destroyed her home and hearth. She wanted to avenge on the Arya race. She created an inferno as her way of celebrating her success. She had made sure that the crown prince of the Bharatas had rakshasa blood in him and, thereby, a half-caste would rule the Aryas. She succeeds in polluting the blood of the Aryas because he, the next king, has rakshasa blood in his veins. Pooru wants to name his escapist act as his revenge on his father, as he tells Sharmishtha, “ And I came rearing to meet you, to join in your rebellion against this stuffy palace”(49). It becomes explicit that Karnad's Pooru is not entitled to the mythological glory associated with his sacrifice. Sharmishtha rightly reacts when she comes to know that Pooru has voluntarily accepted Yayati's curse of decrepitude :

That is utter stupidity! Pooru, the desire for self-sacrifice is a rank perversion (50).

To conclude, Karnad's *Yayati*, following the tradition of his earlier plays, refutes the popular meanings and interpretations associated with it and comes as a saga of a stupid escape in the name of filial sacrifice for a lecher father, with alternative viewpoints to interpret it.

HRDC, Dr. Hari Singh Gour Vishwavidyalaya
Sagar (M.P.) 470003

References -

- Dharwadkar, Aparna. *Introduction. Collected Plays. By Girish Karnad. Vol. Two. New Delhi: OUP, 2005. xiii-xxxvii.*
- Karnad, Girish. “Drama with a distinct vision”. *The Hindu. (Hyderabad). Nov. 25, 2007.*
- *Introduction. Three Plays. By Karnad. New Delhi: OUP, 1999. 1-18.*
- *Yayati. New Delhi: OUP, 2008.*

Rama Mehta's Inside the Haveli : A Study in Relation to the Feminist Perspectives

Rashmi Singh

Inside the Haveli, a novel by Rama Mehta unfolds the struggle of an urban educated and vivacious girl Geeta for her autonomy. The novel beautifully delineates the protagonist Geeta's persistent struggle to liberate her from this suffocative, oppressive and conventional atmosphere of an aristocratic family. She gains her identity as well as transgresses man-made rules and emerges as a new Indian woman by starting a literacy campaign in that man dominated haveli. It is the tale of liberation of Geeta, how she manages to carve out her own identity in that ostensibly stifling environment in which she is flung. This paper explores the theme of existentialism a saga of gaining the autonomy of women in Rama Mehta's Inside the Haveli.

The novel Inside the Haveli might have discussed earlier through different angles like cross-cultural, feministic and psychological especially identity crisis and likewise. The present paper is different from earlier research work since it's an attempt to focus on the autonomy of a person, importance of education and the efforts for making a better society. So Inside the Haveli primarily unfolds the issue of autonomy of women in the phallocentric society. The novel has a great social significance, As Coser comments, "Literature, like sociology is pre-eminently concerned with man's social world, his adaptation to it, and his desire to change it" (Coser, 3).

The constant exploration of self-identity of the protagonist Geeta and the suffering of the other minor character like Lakshmi makes the novel susceptible to existentialist point of view. At first glance, the novel depicts a clash between modernity and tradition and unfolds the other important issues like social, cultural and psychological through Geeta's struggle. The novel also discusses the tussle between personal voice and collective voice, new and progressive ideas and old conventions, sovereignty and dependency.

The novel projects a cultural upheaval in Geeta's life in the phallocentric world of the haveli and simultaneously portrays the contrast picture of Geeta's upbringing and the stereotypical atmosphere of the haveli. Haveli represents the old tradition, custom and culture on one hand and restriction, confinement and a symbol of oppression on the

other. Haveli is the product of a patriarchal system which represents the dichotomies of inside and outside on gender basis in the social structure. The description of outward and inward spaces is a symbol of the social restriction of women. This division is well planned to keep eye on the activities of women of the haveli and restricted to the outside world. This 'Inside' is assigned only to women; a woman has no space in the 'Outside' world. This position not only separates women from the outside world but also imposes the feeling of alienation and the social boundaries of women under the strict and sturdy rules like the stone of the haveli.

The haveli hinders in communication and suppresses personal voice especially for women it is a matter of disregard and disrespect to haveli norms. Geeta, a vivacious modern, self-respected girl who was brought up in a metropolitan city, often yearns in the haveli to talk to someone who can tell her what is happening in the outer world. This 'Inside' also ignores, mitigates, and then demolishes the qualities and efficiencies of women by generalizing them meek and submissive and assigns them the responsibilities of home and hearth. Here V. Geetha comments:

The inside/outside dyad separates women and men, assigning women to the inside of homes, cultures and men to the outer world, of labor, production and rule... and the outside is often whereas the outer world of commerce, rule and war is seen as a 'man's world'... the woman as the queen of the household, as its guardian angel, its custodian and so on... (144-145).

The construction of social boundaries in form of 'Inside' very deceptively designates woman as the mistress, a tutelary power of the household. Thus the patriarchal system unconsciously making women appendage, it lends them authority. Though Geeta and her mother-in-law see themselves in the same position they are passive sufferers, unable to remove/change traditional and orthodox conventions of the 'haveli'. Haveli as a conservator and preserver of all cultural taboos stands a matter of subjugation for them. It hinders in the experience of freedom. "Within the haveli, all are tradition-bound, and while this means strength and security, it also means isolation and stagnation." (Iyengar, K R Srinivasa, 752)

India is famous for its vivid culture, geographical situation, lingual differences and social environment. The novel portrays a contrast description of the two cities of India, first, Udaipur which is famous for its tradition, culture and old heritage and second Bombay stands for its modernity, freedom and advance ideas. Geeta being a Bombay girl believes in gender equality. She used to share her feelings with her parents and meet her friends circle freely. In her parent's home, she has full freedom and autonomy to make her own moves and exercise her own free will but in Udaipur, she has to endure by the conventional decorum of the Rajput haveli. The men of haveli have respected position, "as if they were gods" and "women kept in their shadow and followed their instructions" (Mehta, 21).

Rama Mehta has very deftly presented that this confinement and restrictions are more on the upper-class women. As Sumita Pal comments on the position of haveli women, "The outside world is totally denied except occasional glimpses from behind the

veil”(Sumita Pal 95). As a daughter-in-law of the Rajput haveli, Geeta has to keep purdah on her face. She finds herself like all other women of haveli as a doll since they are in same dress code:

Women behind thick walls had none of the exuberance of the women in the streets. They were like dressed-up dolls kept in a glass case for a marionette show. Women of the upper classes did not talk in the street. (110)

Purdah is a taboo and considered –with dignity and respect -----It is the burden of 'purdah' and rigid restrictions of the convention that Geeta has lost her confidence. She is bound to follow all the codes of conduct of haveli and purdah/veil is one of them. As Geeta's mother instructed her about her duties, first, “Keep your head covered”, she feels nervous and lonely when relatives gathered as she is with her covered face cannot meet them freely. Geeta always keeps Dhapu's (a maidservant) warning of 'speak seldom' in her mind, as if reticence were the only criterion to be a dignified woman. As her mother instructed her second important duty, “never argue with your elders” and “Don't talk too much” (16). This is also a symbol of purdah which does not allow women to express their identity truly and confined them to their inner world. It was immensely shocking to her when she came the first time in Udaipur railway station as a bride a group of women encircled her to receive her there. They all were covered their faces from the veil and force her to pull her veil so that nobody can see her face and shouted as if she has committed a severe crime, “Where do you come from that you show your face to the world” (17). The women of haveli keep purdah in the respect of elders and it should be followed by everyone strictly. This veil as a symbol of restrictions on the liberty she enjoyed earlier. She feels strange but remains silent as she was going to enter a new life. Geeta, after her marriage, becomes passive and silent as per the customs and conventions of the 'haveli'. Along with the purdah on her face, she has curbed her emotions, vivacity and individuality. “When at nineteen Geeta had come as a bride to Jeewan Niwas, she was lively and spontaneous. She had not been taught to a stint in giving affection; nor was she taught to keep her feelings concealed. Her parents had encouraged her to speak her mind...” (32). But in the haveli emotions were shown with formal gestures with less liberty.

Haveli symbolizes all the codes of conducts of stereotypical society which restricts Geeta's freedom. She finds herself strangled in the suffocative atmosphere of haveli her yearnings for the freedom is utmost. When she goes to Gopalji's 'haveli' she finds on her way that other women who were busy in the market for different purposes. She notices that some are carrying baskets of vegetables on their head with their uncovered faces and some are choosing series of different shades freely; she feels jealous of their freedom, as she could not fulfill her own wishes. The depiction of Geeta's despair of being prevented from confrontation and direct conversation with her father-in-law, while Dhapu has the privilege of conversing with him, though with a veiled face suffocates her. Many a time Geeta longs to express her feelings of love and appreciation to her father-in-law but the old despair damped and subdued her emotions. She dislikes

such code of conducts which create a barrier in sharing ones feeling in the family. "Even after seven years I am a stranger to those that are mine, and I will always remain a stranger" (102-103).

In spite of the grand and spacious 'haveli', Geeta feels suffocated and alienatedamid so many people. She feels stranger and finds difficulty in relating herself to the norms of haveli althoughshe tries herself to adjust according to the stereotypical environment of the haveli but couldn't. She hates this 'purdah taboo' and feels relieved whenever, even for a moment, she is left alone. Sometimes women of haveli remark, 'She will never adjust; she is not one of us', (29)keep hovering in her mind. But slowly and steadily we find Geeta inclining towards tradition, she feels proud of being the member of the 'haveli'. There comes a time when she starts loving her veil that allowed her to think when the people talk. She feels satisfaction, "she could see everyone and yet not be seen by them" (23). Thus, the remark of Geeta's mother-in-law seems to be true as she says, "even an educated girl can be molded that I was not wrong in selecting you as the wife of my only son"(30).

The second half of the novel depicts how Geeta emerges as an activefigure and holds an important position. Geeta discovers her identity by startinga literary campaign for the children of the servants and later for the women of the haveli. She started sewing and embroidery classes for maids and coaching classes for their children. She manages to send the servant's daughter, Sita to school, she says, "Pariji, Sita must go to school" (198). She has strongly opposed the child marriage of her daughter, Vijay. She raised her voice against her mother-in-law, "Vijay can't get engaged at this age," (205-206). Further, she said that she won't let her daughter's life ruin.

Geeta made convince by Bhagwat Singhji when he assured her that Vijay would continue her school. Though the majority of women were not in favour of the access to education for them it is meaningless and especially a girl's education seemed totally wastage of time. They considered it a violation of the rules and traditions of the haveli. Having conservative mindset they believed that "The only duty was to serve her husband's family, (117) and education is not for a woman because being an educated woman may lead to the early death of one's husband. "A superstitious feeling is alleged to exist in the majority of Hindu families, principally cherished by the women and not discouraged by the men, that a girl taught to read and write will soon after marriage become a widow (Forbes, 33). Her own mother-in-law Kanwarnisa remarks "Let Binniji amuse herself. Her enthusiasm won't last long; she will soon get tired of the women. Then let see what she starts next" (161). But gradually her decision wins appraisal from the women of the haveli and Manju, her Buasa appreciates, "Iam glad you are bringing new ideas into the haveli" (115). Even Geeta's husband Ajay couldn't stop himself to appreciate her for bringing change and he says that he can feel a new fervor in the haveli and haveli women will no more in the confinement of tradition and stereotypicalideology. Geeta replies that it was not easy to bring change in the haveli. Women of this haveli are very ignorant and superstition. "For the slightest thing, they run to Arjun the fortune-teller ... How can you educate such people?" (138)

Apart from these upper-class women, there is a class of working women. This class has less control of conventions and taboos of 'haveli' over them. Lakshmi, a married at her very early age who belongs to this class, takes a revolutionary step and shuns not only the 'haveli' but her infant too. After being accused as a loose character woman by her husband Gangaram, Lakshmi does not compromise and tries to search for her independent identity and respect. She knows that if she remains in the 'haveli' she will have to face humiliation. She says to Pariji that if she stays at haveli she will never overcome with the tag of bad character woman.

Lakshmi was restless remembering her husband's accusing voice; the word 'street woman' haunts her soul. Though Lakshmi decides many times to reveal the crooked intention of driver Heeralal but couldn't because she never feels confident enough to share her feelings and becomes afraid that no one would believe her to be innocent. The novelist describes Lakshmi's firm, resolute gesture when she leaves the 'haveli'-

She knew it was the dead of night and even Gokul, the master's servant, would be asleep. She smiled defiantly and with steady hands, she took off her anklets, tied her skirt tighter around her waist and got up. As she tiptoed out of the courtyard, the snores of the sleeping women faded out of her hearing (71).

There is a noticeable change found in Lakshmi's nature too but altogether different from Geeta's one. She is the same girl who used to give her importance to those things earlier but now there is no meaning of those things for her. Even she never thought of her child once. She enters the 'haveli' when she was ten years old; at fourteen, she is married to Gangaram, another servant of the haveli and becomes a mother at the age of fifteen. Her sprightliness is snatched away first by marriage and then by motherhood. After she leaves the 'haveli', she is persuaded by Pariji but she refuses to return at any rate. She says to Pariji that she is ready to face any hard situation but never return to haveli. "Let the child starve to death. That will teach her father to control his long, poisonous tongue" (80-81).

After leaving the 'haveli' Lakshmi goes to her brother who refuses to keep her because he fears that it may annoy his elders. For his elders, it is natural that a husband scolds his wife but for Lakshmi, it was not so. Her brother and everyone is sure that once Lakshmi realizes that no one is on her side, she will be back to the 'haveli', if not to her husband, having no other option. But they all are proved wrong. Although she keeps on roaming from one house to the other but never turns her back.

Thus we find two stories running parallel from beginning to almost the end. One is the educated heroine, Geeta's journey from modernity to tradition. Despite being educated she adopts the haveli culture its convention at a certain limit. Her acceptance of 'purdah', in some way or the other, indicates that she has a great reverence on cultural heritage and at the same time she wants to bring some revolutionary changes for the betterment of the upcoming generation especially girls. Slowly and steadily Geeta achieved autonomy in the haveli. Her emergence as the new lady indicates new

dimensions in the haveli, "She felt she had added ten years to her age. She saw herself no longer as the daughter-in-law of the house but its mistress" (258). The second story is that of Lakshmi, who completely revolted without analyzing and understanding of the situation. She is superstitious and follows the advice of Arjun, a fortune-teller of the village leads her to a dark and endless alley. Both stories indicate the significance of education in one's life. Being educated woman Geeta manages to balance between modernity and tradition, taken steps towards her own emancipation like firstly by observing the limited resources to relocate herself and secondly by using her education and thirdly by uniting haveli women for their self-awareness and collective development. She gains her identity through her inner strength, firm determination and her potential. She emerges as a progressive woman with a vision of her own. Her journey from the position of subordination to empowerment, from silence to speech, was highly praiseworthy. But Lakshmi fails due to her revolt, ignorance, superstitiousness and uneducatedness. Geeta emerges as mistress in the haveli but Lakshmi lost herself in the dark.

Rama Mehta gave significant end to the novel. The novel concludes with the harmony and compromise between the two distinct ideas of modernity and tradition and both stands hand in hand. She has suggested the middle path of acceptance which is harmonious and most beneficial to the society. With great sensitivity, she exhibited the vivid and panoramic portrayal of women's relation to tradition and modernity. Dr A.G. Khan rightly commented, "Mehta deserves commendation that she did not allow her protagonist to succumb to stagnation or helplessness" (43).

Finally, the novel portrays the journey of being/becoming and a flight towards emancipation and autonomy. According to Homi Bhabha "in-between spaces (that) provide the terrain for elaborating new strategies of selfhood- singular and communal – that initiate new signs of identity and innovative sites of collaboration and contestation". (2) Iyengar also remarks, Inside the Haveli is a sensitive piece of realistic fiction, even an authentic sociological study and it is written with naturalness and poise that are disarming and effective at once. (753).

Dept. of English & other European Languages
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

References -

- Coser, Lewis. *A Sociology through Literature*. London. Prentice-Hall, 1963.
 Bhabha, Homi. *The Location of Culture*. London Routledge, 1994.
 Forbes, Geraldine. *Women in Modern India*. New York: Cambridge University Press, 1999. Print.
 Geetha, V. *Patriarchy. Theorizing Feminism*. Calcutta: Stree Publishers. 2007
 Iyengar, K.R. Srinivasa. *Indian Writing in English*. New Delhi: Sterling. 2006. Print.
 Khan, A.G. *Inside the Haveli- The Silent Transformation. Feminist English Literature*. Ed. M.K. Bhatnagar, New Delhi: Atlantic Publisher, 2003. Print.
 Mehta, Rama. *Inside the Haveli*. New Delhi: Penguin Books, 1977. Print.
 Pal, Sumita. "The Existential Dilemma in Rama Mehta's *Inside the Haveli*". *Akademi Awarded Novels in*

English. New Delhi. Sarup & Sons, 2004. Print.

Dhand, Vijayata, "Corrosion of Self and the Quest for Identity in Rama Mehta's Inside the Haveli." *The Achievers Journal*, vol.2, no.4, Oct.-Dec. 2016, pp. 100-110. <<https://www.theachieversjournal.com/index.php/taj/article/download/100/35>> Accessed on 16/08/2020

<https://sg.inflibnet.ac.in/jspui/bitstream/10603/185394/8/08_chapter_03.pdf> Accessed on 5/3/2020
<https://archive.org/stream/>

8. Hum GENDER AND CULTURE IN RAMA MEHTA'S Dr. Deshmukh Nanda Chandr

<<http://www.mpgmahavidyalaya.org/userfiles/inner%20journey%20Rama%20Mehta.pdf>> Accessed on 12/12/2020

<<http://www.literaryendeavour.org/files/ae>> Accessed on 12/5/2020

Thomas, H. (2014). E-Content: Newly Emerging Technique for Teaching Through Web. Presented at National Seminar on Geology, Tectonics Geo-Hazards & Natural Resources of North East India. Aizawl, Mizoram.

Thomas, H. (2015). E-Content: Teaching through Web. *Journal of Nepal Geological Society*, p.35.

Vijayakumari, G. (2011). Role of Educational games improves meaningful learning, *Journal of Educational Technology, I-manager pub*, v.8, No.02, pp.08-11

A Neuro Scientific Perspective on Universal Harmony

Preeti Wadhwani

Introduction

The issues of social communal harmony and integration are often concerned with problems related to social-religious-economic exclusion as these aspects are primary in society. Increasing complexities in society due to issues like, racism, language, nationality, religion, economic status etc have posed the human society with threats of disintegration. To trace the cause of this serious concern it would be apt to see development of some complexities retrospectively. Human society has evolved overtime from stone age to post industrial age and has been a witness to many developments, be it material or cultural. As the complexities of society increased, human beings evolved philosophically and, with their developed thinking they tried seeking answers to some eternal and existential questions regarding universe and self. The knowledge of personal mortality, fear of nature, transient nature of life, mysterious source of existence led to many exploring questions where human beings tried establishing relationship amongst all these and sought answers through some collective beliefs. These beliefs took form of a particular system of faith with development of emotions and language. This system involved some ritual observance and contained the moral code for the sect that agreed to follow it. This seems to be the point when religion came in existence in its formal shape. The word comes from the latin word “religare” that means “to bind together”.

Society kept evolving continuously moving through transitional phases of succession and this resulted in emergence of new religions or sub-sects under the same religion because of losing the purpose and clarity in belief system being pursued. Society began facing threats of disintegration resulting from the mutual intolerance of these groups in the society. Gradually the gravity of the problem has increased so much that now the world is striving for social communal integration and harmony with acceptance for diversity of religions as its one of the primary concerns. Religion, assumed to be the expression of spiritual thinking in few and source of same in others and therefore it was often thought that the religious values have something to do with making a person tolerant, accepting, compassionate, and thus help in creating social harmony. But the century is being experienced.

So the question arises is there something else that can be tapped to bring about universal harmony? Recent findings in the area of neuroscience do point towards existence of such thinking abilities in human beings which needs to be further explored in context of its relationship different preferences / values to understand its role in universal harmony .

Understanding Thinking : Neurological Perspective

Human beings possess rational and emotional thinking abilities with the neural base of such thinking in brain. Psychologically speaking, If both these thinking abilities are not used in balanced way and if behavior gets more input from any one of these, it results in a disturbed response and imbalanced personality. For example, motive of curiosity can take form of Obsession-where mind is haunted by the idea or Phobia -where mind is in a state of abnormal fear both are the disturbed responses emerging from same motive. Both the situations show an unbalanced combination of emotion and reason (Zohar and Marshall, 2000).

Neurologically, the coordination between reason and emotion was proved by Damasio (1996) in 'Descartes Error' mentioning a case of brilliant successful lawyer who post operation for tumor in rational area of brain, had high IQ scores but inexplicably went emotionally flat as the co-ordination between his rational and emotional centre was cut down which was exhibited in his post operative behaviour. There were more researches that proved the interactive functioning of reason and emotion (Averill, 1982; Zillmann, 1983; Baumeister, Stillwell & Heatherton, 1994; Medvec, Madey & Gilovich, 1995; Tangney, Wagner, Hill-Barlow, Marschall & Gramzow, 1996). How does thinking integrate and does it merely stop at that or goes beyond is the matter of curiosity.

Neurological Evidence of Magnanimous Thinking

Other than merely exhibiting coordinated balance between reason and emotion, human behaviour has the potential to super function rising above reason and emotion. The findings from neuroscience in context of brain's super function found rational-emotional paradigm a shallow explanation and thus spurred a wave of research in this field the findings gave sufficient evidence of presence of dedicated neural machinery for such magnanimous thinking.

Llinas and Ribary (1993) found relatively fast 40 Hz oscillations all over the brain fully present synchronously across the whole brain and deep within it as moving waves from front to back in awake, rapid eye movement sleep state (dream state) and slightly present in dream free deep sleep state, even though the brain is not sensitive to external perceptual stimuli in sleep state. They were absent in anesthetized and comatose state of mind proving presence of consciousness in brain to be associated with the presence of 40 Hz neural oscillatory activity. Zohar and Marshall (2000) stated it to be the neural basis of Spiritual Intelligence as these oscillations supported the ability of 'Transcendence', which refers to going beyond present moment, knowledge and experience to be field independent and also supported the integration by mediating the conscious information processing between supportive neural systems of rational and emotional thinking, integrating and coordinating the both. Findings of neurological

studies done by Banquet (1973) and Benson (1975) on meditating people is reinforced with this above stated evidence as increasingly coherent alpha brain waves were seen across large areas of brain in deeper conscious and unified states of meditation. Electro-encephalograph of meditator's brain at various stages of 'Transcendental Meditation' had shown varying pattern of neural oscillating waves.

Neurologist Ramchandran (1998), used 'Positron Emission Tomography' to scan the brain of normal subjects in normal conditions and which showed the areas in temporal lobes of brain lighting up when exposed to discussion of spiritual and existential topics.

Brain activity of 8 Tibetan Buddhists was studied using SPECT (single photon emission computed tomography), in the throes of a peak meditative experience and it was found that the sensory input to the region processing information about space, time and body orientation in brain is blocked during deep meditative concentration erasing the mind's distinction between the self and non-self supporting transcendence, self is then perceived as endless and intimately interwoven with everything (Newberg, Alavi, Baime, Pourdehnad, Santana, & d'Aquilli, 2001).

These recent researches in neuroscience on human thinking abilities indicate towards existence of a thinking ability that is responsible for integrating reason and emotion. It is the edge giving thinking that gives magnanimity to behavior (Zohar and Marshall, 2000) as it enables one to raise fundamental-existential and philosophical questions, gives longing to have higher meaning-purpose and direction in life, helps seek fulfillment by indulging in service oriented contributory acts, rises above self to connect with all existence, transcends the knowledge and experience to seek the infinite and unseen, integrates the vision-passion and principles with an exemplary strength outgoing all abilities (wadhvani, 2014). This integrating, transcendental thinking ability is termed as spiritual intelligence (Zohar and Marshall, 2000). Wigglesworth (2006) defines Spiritual Intelligence as "the ability to act with wisdom and compassion, while maintaining inner and outer peace, regardless of the circumstances."

With this backdrop, moving to the issue it is reflected that, the problems discussed above are often thought to be those that can be resolved with increasing the mutual tolerance and acceptance for other religions, but the efforts do not seem paying the results corresponding to the inputs and we still stand facing these concerns with increasing severity. To evaluate attempts to achieve universal harmony through focus on religious values we need to answer questions like, what is more fundamental in individuals, spiritual intelligence or religious preferences / values? Do people having religious preferences become spiritually intelligent? For this, Spiritual thinking has to be explored with a new perspective and the relationship between religious preferences and spiritual thinking needs to be re-examined, as this exploration is also imperative to understand the relative role of spiritual intelligence and religious values in bringing integration in multi-religious society. Is spiritual intelligence predicted by culturally influenced preferences?; What kind of preference is spiritual thinking more related to?; Can religious values predict spiritual intelligence ? are premises that this paper attempts to explore empirically.

Objective

To study the individual contribution of Values (Religious, Social, Democratic, Aesthetic, Economic, Knowledge, Hedonistic, Power, Family Prestige and Health) in predicting Spiritual Intelligence.

Hypothesis

There is no significant individual contribution of Values (Religious, Social, Democratic, Aesthetic, Economic, Knowledge, Hedonistic, Power, Family Prestige and Health) in predicting Spiritual Intelligence.

Sample

The study was conducted on 372 individuals (156 men and 216 women) selected randomly from Madhya Pradesh. The age of the subjects of the sample ranged from 22-50 years. All of them were graduates and good at reading English or Hindi or both languages.

Tools

The information for the study was collected in context of two variables, Spiritual intelligence and Values. Standardized tools were used to collect the data and the details of the tools are given below.

Spiritual Intelligence

Spiritual Intelligence was assessed with the help of a Spiritual Intelligence Scale developed by the researcher. It contains 34 situations / items related to one's behaviour in daily life with 4 options for each situation depicting different degrees of spirituality in thinking. The tool assesses four components namely, higher critical thinking /purpose seeking, integration, transcendence, and will power. Corresponding to each situation the respondent had to select one option that best represented his / her behaviour in that given situation. The tool possesses content validity as assessed by 7 experts of relevant field. Criterion Validity coefficient between Spiritual Intelligence Questionnaire and **King and DeCicco's Spiritual Questionnaire was found to be 0.67 which is high**. The test-retest reliability at a gap of 25 days is reported to be 0.70.

Values

To assess Values Personal Values Questionnaire (PVQ), developed by Sherry and Verma (2006) assessing nine Values namely, Religious, Social, Aesthetic, Economic, Knowledge, Hedonistic, Family Prestige and Health was used. The tool is based on the definition that Values is a concept of the desirable ends, goals, ideals or modes of action, which make human behaviour selective (Sherry and Verma, 2006). There is no time limit for filling the Questionnaire. Validity of each Value assessed by the tool has been studied separately in the light of results of studies using other tools assessing Values and PVQ. Furthermore, the rank order coefficients of correlation between results of PVQ and the ranking of these Values, separately as drawn from the respondents' responses is 0.64. The test-retest Reliability coefficients ranged between 0.58-0.85, and test-retest Reliability assessed by the researcher the coefficients were found to range from 0.14 to 0.56.

Procedure of Data Collection

Each Individual forming a part of the study was personally visited by the researcher during his / her free time. A rapport was established with these individuals orienting them about the purpose of the study. All the tools were provided to the subjects in both Hindi and English language to respond according to their convenience. The tools were administered in the same sequence on the subjects adhering to the specified instructions in the respective manuals and scoring was done by following the given keys / instructions of the tools.

Data Analysis

The data was analyzed with the help of stepwise Regression Analysis, all Values assessed were taken individually as predictor to see the percentage of their contribution and the significance of their contribution in predicting the spiritual intelligence.

Results and Interpretations

For studying the individual contribution of Values in predicting Spiritual Intelligence, the data was analysed with the help of stepwise regression analysis. The results are given below in Table-1

Table 1 : Variable-wise Beta Coefficients and Percentage of Individual Contribution of Variables in Predicting Spiritual Intelligence

Predictors	Beta Coefficient	t-Values	Remark	%of contribution
Aesthetic Values	0.10	2.17	p<0.05	2.1 %
Economic Values	-0.17	3.80	p<0.01	4.2 %
Hedonistic Values	-0.10	2.17	p<0.05	2.2 %
Family Prestige Values	-0.22	4.99	p<0.01	6.7 %

From Table 1, it is evident that the individual contributions of Economic Values and Family Prestige Values in predicting Spiritual Intelligence are significant at 0.01 level while individual contributions of Aesthetic Values and Hedonistic Values are significant at 0.05 level. Apparently, the individual contributions of variables, such as Religious Values, Social Values, Democratic Values, Knowledge Values, Power Values, and Health Values in predicting Spiritual Intelligence are not significant. Thus, the null hypothesis that the individual contribution of Aesthetic Values, Economic Values, Hedonistic Values and Family Prestige Values in predicting Spiritual Intelligence is not significant is rejected but individual contribution of variables, such as Religious Values, Social Values, Democratic Values, Knowledge Values, Power Values and Health Values in predicting Spiritual Intelligence is not significant is not rejected.

Interpretation and Discussion

The above results indicate that the percentage of contribution made by different Values for significantly predicting spiritual intelligence is too low. The negative beta coefficients for Economic, Hedonistic and Family prestige Values shows that individuals having a high preference for Materialistic-Monetary, Egoistic-Prestige and status related choices have low Spiritual thinking. The finding was expected as the higher critical thinking component of Spiritual Intelligence explains the ability to seek gratification and

purpose in life, in larger context from indulging in selfless contributory acts rising above monetary gains, personal ego, status and prestige desires. Previous study findings further add to the validity of the finding. Extrinsic Values like money and prestige are associated with maladies, like, anxiety, depression, less life satisfaction, unpleasant emotions, drug abuse (Ahuvia, 2011) whereas contrary to it Spiritually Intelligent people have low material and extrinsic choice but give priority to intrinsic choices, like, affiliation with others, contribution to larger society (Sheldon and Kasser, 2008).

The Religious Value here assesses the individual's culture specific preference for rituals, codes, beliefs prescribed by religion, issues related to God. It is quite interesting to see that people liking beauty, nature, art, that is the individuals with aesthetic choices have better spiritual intelligence than individuals with religious preferences. Individuals with high aesthetic preferences are probably more Spiritual because high Spiritual Intelligence makes individuals more sensitive to the natural environment (Hayborn, 2011). This is probably because the aesthetic preference is more innate in an individual and is closer to spirituality which is also something innate (Mohan, 2001) and whereas, the religion is an institution born out of culture and is an external adoption. The people who are religious are not necessarily spiritual and those who are spiritual are not necessarily religious (Worthington et al., 1996). Further, previous researches show that the contention that religion as an institution that fosters well-being, liberalism and other qualities, is not supported by empirical data (Sanua, 1969). This is where Spirituality and Religion come out with their true difference.

Conclusion: where are we Wrong and Path Ahead

Conclusively thus it may be said that none of the Values could substantially contribute in predicting Spiritual Intelligence. It shows that these values individually do not emerge as variables which when manipulated can result in a big change in Spiritual thinking of an individual and that Spiritual Intelligence is much more than mere result of integration of choices/values of an individual.

We are mistaken for religion to be one of the important focal points in resolving the issue of disintegration and mutual intolerance. Whereas religion is merely an overt expression and is in existence due to a dimension of human thinking which is seeking answers to critical existential questions and seeking purpose of life through means of religion, that is universally present but perhaps in varying degrees as being indicated by neuroscience studies cited above. Its universal nature can be a reason that we can find a set of common values that run across diverse religions despite striking differences in their other basic premises, as this thinking ability gives some common fundamental grounds on which all the belief systems are created. Religion cannot be treated as the fundamental human feature, as any fundamental common feature has to be a cohesive factor at some level and cannot allegedly become the reason of prejudices against each other in society even in its extreme distorted and fanatic form. The human behavior leading to problems of disintegration needs to be seen from the spectacle of human thinking working behind it. The disintegration of society is merely a reflection of

disintegrated and unbalanced reason and emotion in human thinking that uses the belief systems and religion as a means to manifest its disequilibrium.

Tracing the history, Indian philosophy reinforces the above assertion where the concept of dharma referred to what is worthy of adapting in life. Dharma emphasized on realization of the fundamental reality of self that is the consciousness in all beings and its relation with universal consciousness. Mandukya Upnishad states, it is this consciousness that helps becoming aware of other objects but never becomes the object of awareness anytime hence can be termed as most fundamental. Realizing this true fundamental feature of human existence and impact of this realization on making human thinking magnanimous, integrating, may lead to the solution. Such is not a result of religious values but of spiritual intelligence which is more fundamental but is commonly misunderstood as a consequence of religious values.

Religion as an institution established by man, functioning on provided guidelines, is starting point for many. Religion with its many established forms, lives in the human memory and attempts to find a way to inner voice of spirituality. On the other hand, spiritual thinking is universal, that lives in the awareness related to discovery of self. Spiritual intelligence encompasses religions with no distress whereas, religion is a pseudo spiritual institution which at its worst reinforces ego, prejudice and hatred. Spirit word itself connotes to life, and spiritual is that which infuses one with life and in itself indicates the fundamental character of the concept.

Present concept of religion is a distorted form of concept of dharma, as the belief system went through many changes due to blurring of purpose of belief system being pursued with time resulting in splits. This changed the cohesive purpose of religion to a divisive one leading to conflicts in society, furthering distance amongst different groups that could have come together on the basis of faith system being followed.

If the issue of social integration is seen with religion in focus, we would at the most land up to the stage of peaceful mutual coexistence which refers to living in peace with others despite differences as a matter of policy which doesn't resolve the problem from its root. The permanent solution lies in focusing upon the spiritual thinking ability in human beings that attempts to seek an expression to some extent though religion but is independent of it and more fundamental than it.

Hence it is implied from the findings that Education, as a process of drawing out the capacities of an individual for his optimum development must have an all-inclusive view of human intellect as a part of personality. Dominance of development of rational thought in human beings has brought the society and human existence at the verge of destruction in all respects. With Spiritual Intelligence identified as a potential in human beings that gives them a superior position than all other species in creation it is imperative that society must liberate spiritual thinking from the narrow context of religion for integrated and harmonious growth of the civilization.

References -

- Ahuvia, A. (2011): *Dr. Suess, facilitator. International Journal of Well being*, 1 (2), pp.197-213.
- Averill, J. R. (1982): *Anger and Aggression*. New York: Springer – Verlag.
- Banquet, P.P. (1973): *Spectral Analysis of the EEG in Meditation. Electroencephalography and Clinical Neurophysiology*, 35, pp.143-151.
- Baumeister, R. F., Stillwell, A. M. & Heatherton, T. F. (1994): *Guilt: An Interpersonal Approach. Psychological Bulletin*, 115, pp. 243-267.
- Benson, H. (1975): *The Relaxation Response*. New York: William Morrow.
- Damasio, A.R. (1996): *Descartes' Error*. London: Macmillan.
- Hayborn, D.M. (2011): *Central Park: Nature, Context and Human Well Being. International Journal of Well Being*, 1 (2), pp. 214-254.
- Llinas, R. & Ribary, U. (1993): *Coherent 40-Hz Oscillation Characterizes Dream State in Humans. Proceedings of National Academy of Science, U.S.A.*, 90, pp.2078-2081.
- Mandukya Upanishad : Retrieved from: *The Mandukya Upanishad by Swami Krishnananda, The Divine Life Society, Sivananda Ashram (sankaracharya.org)*
- Medvec, V. H., Madey, S. F. & Gilovich, T. (1995): *When Less is More: Counterfactual thinking and Satisfaction amongst Olympic Medalists. Journal of Personality and Social Psychology*, 69, pp. 603-610.
- Mohan, K.K. (2001): *Spirituality and Well Being: An Overview. In Cornelissen, Matthijs (ed.), Consciousness and its Transformation. Pondicherry: SAICE*
- Newberg, A.B., Alavi, A., Baime, M., Pourdehnad, M., Santana, J. & d'Aquilli, E. (2001): *The Measurement of Regional Cerebral Blood Flow during the Complex Cognitive Task of Meditation: A Preliminary SPECT Study. Psychiatry Research*, 106, pp.113-122.
- Ramchandran, V.S. & Blakeslee, S. (1998): *Phantoms in the Brain: Probing the mysteries of the human mind*. New York: William Morrow.
- Sanua, V.D. (1969): *Religion, Mental Health and Personality: a review of empirical studies. American Journal of Psychiatry*, 125, pp. 1203-13.
- Sheldon, K.M. & Kasser, T. (2008): *Psychological Threat and Extrinsic goal Striving, Motivation and Emotion*, 32 (1), p.37.
- Sherry, G. P. & Verma, R. P. (2006): *Personal Values Questionnaire (PVQ)*. Agra: National Psychological Corporation.
- Tangney, J. P., Wagner, P. E., Hill-Barlow, D., Marschall, D. E. & Gramzow, R. (1996): *Relation of Shame and Guilt to Constructive versus Destructive responses to Anger across the Life Span. Journal of Personality and Social Psychology*, 70, pp.797-809.
- Wigglesworth, C. (2006). *Why Spiritual Intelligence is Essential to Mature Leadership. Integral Leadership Review*, 6 (3). Retrieved on 24 sept. 2021 from *Integral Leadership Review.pdf*
- Worthington, E.L. Jr., Kurusu, A.T., McCullough, E.M. & Sandage, J.S. (1996): *Empirical Research on Religion and Psychotherapeutic Processes and Outcomes: A Ten Year Review and Research Prospects. Psychological Bulletin*, 119, pp. 448-487.
- Zillmann, D. (1983): *Transfer of Excitation in Emotional Behaviour. In J.T. Cacioppo & R.E. Petty (eds.), Social Psychophysiology: A sourcebook*. New York: Guilford Press.
- Zohar, D. & Marshall, I. (2000): *Spiritual Intelligence-The Ultimate Intelligence*. New York: Bloomsbury Publishing.

Poststructuralist Method : A Study in Cross-Cultural Application

Vandana Rajoriya

Poststructuralism is a methodology or an approach to knowledge that leaves no firm ground for the conception, formation or reassertion of truth or the various objects of knowledge like sense perception, faith, intuition, emotion, imagination, experience, language, reason and the like because the conscious possession of knowledge or truth always rests upon the activity of judgment whereas the post-structuralist approach altogether denies the possibility of arriving at any sound judgement. Here object can be understood as the term of reference of thought or any specific element in experience which yields conscious meaning or reflective significance for the thinking self.

The poststructuralist method asserts and highlights the impossibility of arriving at any final meaning. It is a powerful tool for confronting, examining, encountering, dismantling and breaking the boundaries of all sorts of prison houses of standards, norms, practices and ideas enforced upon our understanding by tradition, culture and society for ages. It also happens to be one of the most difficult to understand and unique but significant literary theories. The purpose of this research paper is to bring out a reasonable and comprehensive understanding of the Poststructuralist method by applying it to the select verses of some of the canonical works of Sanskrit classics like Kālidāsa's *Abhijnānaśākuntalam*, Bāṇabhaṭṭa's *Kādambarī*, Śūdraka's '*Mṛcchakaṭikā*', and Viśakhadatta's *Mudrārākṣasa* among others.

Post-structuralism is a movement from work to text – A shift from seeing the poem or novel as a closed entity with fixed meaning to looking at it as (irreducibly plural) an endless play of signifiers which can never be finally nailed down to a single centre, essence or meaning. Poststructuralists like Derrida, Foucault and Lacan have rigorously scrutinised the situation of conscious and unconscious manifestation of language and experience through their works. Bernard E. Harcourt in his article entitled "An Answer to the Question: 'What is Poststructuralism?'" aptly summarizes the poststructuralist method. It is worth our while to look at the following extract from the article:

Poststructuralism, I suggest, is a style of critical reasoning that focuses on the moment of ambiguity in our systems of meaning, as a way to identify the ethical choices

that we make when we overcome the ambiguity and move from indeterminacy to certainty of belief in our efforts to understand, interpret, and shape our environment. Post-structuralism concentrates on the moment when we impose meaning in a space that is no longer characterized by shared social agreement over the structure of meaning. It attempts to explain how it comes about that we fill those gaps in our knowledge and come to hold as true what we do believe - and at what distributive cost to society and the contemporary subject. By so clearly identifying points of slippage, poststructuralism clears the table and makes plain the significant role of ethical choice - by which I mean decision making that is guided by beliefs about virtue and the self, not by moral or political principle. (SSRN)

Language in Post-structuralist tradition stands for a fact of denotation. In it, the range, power, length and magnitude of its denotation gets reduced to such an extent that language comes out as the highly disembodied version of representation through which only one possible instance of awareness and reorganization could prominently emerge that meaning is illusory. It, in turn, asserts or highlights how language, when it attempts to stand as an equivalent model to serve a positive communicative function succeeds in creating only remote, distinct and unrealistic value equivalents or concerns. This idea about language suggests or highlights that the letters, syllables, words and sentences, which constitute the linguistic content of the language and experience and lead to the communicative, informative, expressive, or emotive function of language, could associate themselves only marginally and not significantly. As content in language, say, for example, a letter always gets disengaged into a sequence of random perceptions and obtains only an abstract value for the whole situation and therefore is incapable of yielding any concrete meaning.

To further illustrate the point, let us take into consideration the following verses from Kālidāsa's *Abhijnānaśākuntalam* to get an understanding of how when reading by the poststructuralist framework we clearly notice and experience the illusory nature of meaning :

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरुपततिस्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेनप्रविष्टः षरपतनभयभ्यासापूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवष्टतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियतिबहुतरंस्तोकमुर्व्याप्रयाति ।। १७ ।।
(सविस्मयम् ।) कथमनुपतत एव मेप्रयत्नप्रेक्षणीयः संवृतः ।
[The *Abhijnānaśākuntalam* of Kālidāsa, p.5]
[With graceful curving of his neck,
He gazes on the chasing car,
And, to escape the falling dart,
Contracts his frame with shrinking dread,
His path is strewn with half-chewed grass
That drips from his wide-gaping mouth.]

Look, by his bounding, in the air
 Far more than on the earth he flies! (Amazed).]
 What now! Though I follow closely I hardly can see the antelope.
 (Shakuntala or the Recovered Ring, P. 201)

When we look at the verses from the poststructuralist perspective we realise how the movement of object (king) towards the subject (deer/fawn) enters into a preposition of infinite reduction in as much as, king, although, he can apprehend the movement of the deer can't exactly locate the deer simply because of the fact that the chariot is moving very fast and a great amount of dust is raised to the height of the king sitting on the chariot; yet indeterminateness, non-location and over-determination of the terms and concepts are logically standing in opposition to the earliest utterance proclaiming the sight of the animal 'ग्रीवाभङ्गाभिराम' and immediately deny the reception of the concept by saying that 'स्यन्दने बद्धदृष्टिः' and for that matter the logic of sound manifested in magnificence and grandeur gets reflected out of the immediate source of perception and in that way dislocated from the authority of the subject and has returned to the infinity and one understands very well that infinity can't be combined with formal order of the things – the composition of truth in the background and context of something that is non-truth. The present manner of versification from 'Abhijnānaśākuntalam' carries out the exposition of nearly a preliminary ground of explanation and interpretation and that is exactly how one has to understand the continuity of linguistic object and the infinity of the meaning objects sustained and obtained.

Thus we can understand why Derrida asserts that the act of composition of meaning essentially always carries the misunderstanding of the whole constitution of the function of the observer, reference point, the referred and the determinants. The actual situation or position of each is never clear and always presupposes less than a concrete meaning for themselves. For example let us look at the opening lines of Kādambarī given below:

अस्ति शकलललामभूता, प्रसवभूमिरिव कृतयुगस्यात्मनिवासैचिता भगवता महाकलाभिधानेन शिवनत्रय सर्गस्थिति संहारकारिणा प्रमथनाये ने वा परै व पृथिवी समुत्पादिता, द्वितीय पृथिवी शंकया जलनिधि ने वरसात लगम्भीरेण जलपरिखावलयेन परिवृता, पशुपति निवास प्रीत्या गगन परिसरोल्लेखि शिखरमालेन कैलासगिरिणे वसुधासितेन प्राकारमण्डलेन परिगता, प्रकटशंखशुक्तिमुक्ताप्रवालमरकतमणि राशिभिश्चामीकरचूर्णवालुकानिकरनिचितैरायामिभिरगस्त्यपरिपीतसलिलैः

विकचकुवलयकान्तैरुत्फुल्लकुमुदधवलौदरैरनिमिषदर्शनरमणीयैराखण्डललोचनैरिव, सहस्रसंख्यैरुद्भासितासरोभिः, अविरलकदलीवनकलिताभिरमृतफेनपुञ्जपाण्डुराभिलदशिदिशदन्तवलभिकाभिर्धवलीकृता, यौवनमदमामालवीकुचकलशललितसलिलयाभगवतोमहाकालस्य शिरसिसुरसरितमालोक्य समुपजातेष्वयेव सततसमाबद्धतरंगभृकुटिलेखया खमिव क्षालयन्त्यासिप्रयापरिक्षिप्ता। सकलभुवनख्यातयशसाहरजटाचन्द्रेणैवकोटिसारेणैवमैनाकेनेवाविदितपक्षपातेन....। (Kādambarī, p 64-66)

(There is, in the country of Avanti, a city called Ujjayini, which excels in splendor the world of the gods, and is the ornament of all the three worlds. It is (so holy

that it is) as if it were the birth-place of the Krita age. It is as if it were a second Earth created, suitable for his residence, by the devine Siva, the lord of the Pramantas, who (Siva) is called (there) by the name of Mahakala, and who brings about the creation, the maintenance, and the destruction of the three worlds. It is surrounded by an encircling ditch full of water, so deep as to reach the bottom of the Earth, as though by an ocean mistaking it for another Earth. It is surrounded by a circular rampart which is whitened with chunam- paint, and whose rows of turrets kiss the surface of the sky, (thus) appearing as if it were the mountain Kailasa (which is white like chunam and whose rows of peaks touch the surface of the sky), surrounding it out of its affection for it as a dwelling- place of Siva. It is decked with long, big market-roads, which look as if they were the oceans (left bare) when their waters were drunk up by (the sage) Agastya, since the (the roads) have in them, exposed (for sale), heaps of conches, oyster-shells, pearls, corals, and emerald gems, and since they are stacked with gold-dust and gravel-heaps. It is decked with picture-galleries which are full of (the paintings of) gods, demons, Siddhas, Gandharvas, Vidyadharas, and Nagas and which (therefore) look as if they were a fleet of serial cars from heaven, descended there from the sky on account of an eager desire to see the fair ladies engaged in the constant festivities (held in the city). Its squares are decked with sacred shrines, which look glossy kike the Mandara mountain when it was whitened with the milk tossed up during the churning (of the ocean), which bear on their tops resplendent jars made of gold, and which, having their white banners fultteing high in the wind, look like the peaks of the Himalaya mountain upon which is falling (from above) the (milk white) stream of the celestial Ganges.) (Kādambari, P. 66-67)

In this unusual and extraordinary presentation of universal motive, reason, cause and effect of truth and reality, one could understand that the manner of constructing the evidence of appearance and terms of reality are precisely made by the reversible movement of the content and context. The beginning of the passage marks the reality inherent upon the time and in that way it becomes अस्ति and from this the actual commencement of the structures of signification could be noted. In other words, time vflr as a reality, could, at the same time, rise to the merger of the material into immaterial hence the place Ujaini is both heaven (त्रिभुवन), and (भगवत्) and the earth (प्रसवभूमिरिव) the extent of constitution of a formless substance and formal result could be understood on the basis of the fact that the configuration of the object has initiated and evolved a response for the sake of the underlying concept of that form. In the background of such a concrete situation we can only understand that the significant earth is being largely symbolical of material function and heaven suggesting timeless meanings could hardly be combined and correlated, yet the only combination that is to be intended is one that can be based on the transformation of being into non-being. Derridian equation of loss of significance for the primary forms of content with equally primary forms of concepts is to an extent justified in the whole passage. The adequacy of time yields an apparatus for the understanding of the timeless situation nonetheless in the context of its assertion in the infinity of the situation. Time could be timeless or for that matter अस्ति could be egkdxy and Hkxor when and only when the truth is so well rendered precise and

meaningful that it is received into the formal function of the infinity. Because of this one has to make it a point that the establishment of sign as a necessary process of relegation of the concept to the background requires the worth of eternal motives to be brought in the form of truth and reality. The exact position of the words and the letters in a sentence occasion a meaningful debate from the various segments of Post-structuralist inquisition. Derrida rightly considers the possibility of expansion and extension in relation to the language and speech in his of *Grammatology* :

What we call language could have been in its origin and in its end only a moment, an essential but determined mode, a phenomenon, an aspect, a species of writing. And as if it had succeeded in making us forget this, and in willfully misleading us, only in the course of an adventure: as that adventure itself. All in all a short enough adventure. It merges with the history that has associated technics and Logocentric metaphysics for nearly three millennia All appearances to the contrary, this death of the book undoubtedly announces (and in a certain sense always has announced) nothing but a death of speech.³⁴ (*Of Grammatology*, p. 8)

Thus it can be understood that the idea of finding a meaning and definition for language couldn't but be an exercise of establishing language through the words and the letters so as to arrive at a meaningful notation. In contrast to this the problem must be viewed in a larger context in which the possibility of exposing and interpreting the form and appearance of the motive and projection of the units of sentence or units of language could be named (seriously disturbed), for example, when we write a word 'Elephant' then the possible location of the word within the strength forming conceptual system won't invest much of opportunity and exercise rather it will deform the process by bringing about all the necessary manners of deviance in that the appearance of the word elephant is both logically, graphically, semiotically and semantically is just and even only and at that is an accidental incident. When the word is written and meant it is merely by the virtue of strength of appearance that we could say that word has value in such and such object and the life of appearance is logically very unrealistic in that it is always prone to disappearance. It cannot obviously enter into the unique necessity of meaning formation, just for the reason that by the time it is written down the appearance has already disappeared and so the loss of appearance in the first place and reality in the second and truth in the third place together render the formative situation and conception of the same very meaningless and illusory in nature. When one proceeds to gather the significance through the random motion of the contents involved in the words or letters or even syllables which appear on the surface of an object, one is always led away by the contrasting relations and distinctions and the effort to decipher meaning is precisely lost in the enchanting music of the situation of the whole linguistic framework. A word, for example, can't sustain a methodological necessity to become a fact of coherence that is derived from the content precisely because the conjunctions and other native forms of association would be fairly wanting. In the poststructuralist terms of understanding, appearance or presentation of a word to the context cannot either determine its centrality

or the relative efficiency for this the origin of word in a multiple context could only to be questioned. Similarly the proportions which are otherwise very distinct and non-locative in nature evoke similar critical response from their placement either within the whole system or slightly outside the projected system. As a matter of fact any valid term of reference combining both object and subject relationship could only guarantee and determine the precise length of formative principle. Derrida, therefore, rightly argues that language is only an act of intention and intention cannot be a method to discover the configuration of suggestion. To this account the manner of viewing the presentation of idea of the language doesn't appear to be very wrong. Rather the action and primary models through primary categories to build up an object of motion and movement of the creative principles has its structure in the legitimate exposition of the meaning. In these contrasting principles the worth of language could only be understood and appreciated through an understanding of inquisitive principle controlling the movement of minor and major variant of the given structure. According to Derrida center is a very vital part of any structure without which the whole edifice would collapse. Everything, all the institutions of the world have such centres but as Derrida points out it is not true in case of language as with language it is very difficult or next to impossible to locate what can be termed as the "center" which would be in a position to hold the whole structure of language together. Derrida points out how the center is paradoxically, within the structure and outside it. The center is at the center of totality (knowledge) yet since the center does not belong to the totality (is not part of the totality) the totality has its center elsewhere. Thus the motive and purpose of poststructuralist interpretation of an experience would obviously lead one to become more conscious of the difficulties in generating suitable terms for comprehension and expression and also the absence and impossibility of arriving at the centre. To quote Derrida :

At the center, the permutation or the transformation of elements (which may of course be structures enclosed within a structure) is forbidden. At least this permutation has always remained interdicted (and I am using this word deliberately). Thus it has always been thought that the center, which is by definition unique, constituted that very theme within a structure which while governing the structure, escapes structurality. This is why classical thought concerning structure could say that the center is paradoxically, within the structure and outside it. The center is at the center of totality (knowledge) yet since the center does not belong to the totality (is not part of the totality) the totality has its center elsewhere. (Writing and difference, p. 352)

Thus according to Derrida centre is not a fixed or stable "truth" but just a concept devoid of any material existence and like any other structure has "play" in it. Here centre can be understood as the "transcendental signified", whereas "play" can be understood as a "disruption of presence" or an "interplay of presence and absence". The above given example highlights the method of deconstruction followed by the poststructuralists which achieves its effect chiefly by deconstructing the pre-existing structures by pointing out the inconsistencies inherent in them. Let us see the following lines from Śūdraka's 'Mṛcchakaṭkā' in light of the above given observations:

वसन्तसेना-अथकिंनिमित्तमेषरोदिति ?
 रदनिका-एतेनप्रातिवेशिकगृहपतिदारकस्य ।।
 सुवर्णशकटिकयाक्रीडितम् ।तेन च सानीता ।
 ततः पुनस्तां याचतोमयेयंमृत्तिकाशकटिकाकृत्वादत्ता ।
 ततोभणति- “रदनिके, किंमैतयामृत्तिकाशकटिकया ?
 तामेवसौवर्णशकटिकादेहि” इति ।³⁸

[Sanskrit Kavyadhara, p.366]

(Vasantasena: Then, For whom do you cry?

Radanika: This boy used to play with neighbour's son's toy-cart of gold.
 He has taken that back. He asked me again for it, then I made a toy-cart
 of clay and gave it to him. On that he says “Radanika, what have I to do
 with this toy-cart of clay? Give me that toy-cart of gold.”)

In this artistic presentation from Śūdraka's 'Mṛcchakatikā' the exceptional brilliance has been cultivated by conjugation of experience and perception in the first place and by demotivating perception in the second place. For the purpose, the discourse generated by वसन्तसेना and jñāna correlates and destroys the content and idea both simultaneously and variously. The first important situation that we can understand in the above sequence is that the toy vehicle that used to be the play toy for a baby has now been taken away. It used to be of gold and although now it has been replaced by one that is made of clay yet the baby is crying and is really very vexed. It would mean that the subject of the situation, the toy of the baby, creates an illusory perception or sensation mounted on the immediate thrill or short lived pleasure on account of assessing the play toy of gold. Yet the created perception is rather unrealistic in as much as there cannot be any guarantee with regard to the permanence of the experience generated and moreover the toy is replaced the baby is still vexed and perplexed and keeps crying. There can be two ways to find a deconstruction model in the given situation. In the first place, the play toy made of gold defers the purity of experience in the baby and therefore he is become indefinitely indisposed to create any concrete form of experience in it, for the similar reasons he is still crying, making meaning and knowledge both to be infinitely located on the indefinite origins. The utterance. “रदनिकेएकिंममैतयामृत्तिकाशकटिकया? तामेवसौवर्णशकटिकादेहि” forms a rather unusual separation between the object and the subject of the whole discourse.

The qualitative configuration of sensory perception has a manifest denial in the opposition between the formation of knowledge and presentation of knowledge through logical contents and perceptible medium and, for this reason, the idea of having a fixed structure rarely stands to terms with the requirement of the wholesome situation. The figural form in sensation rarely evokes a perception that is intended to resolve the object rather it begets heterogeneous dispersion of the models. The primary emphasis lies mainly on the fact that the extension of a comprehensible knowledge to the realisable

contents doesn't have an authentic recognition both in the medium and the contents. We cannot think of a complete situation to be emerging before us and in this regard it has to be taken for granted that significance of a term either at the beginning or at the end would be almost impossible to be achieved. To proceed further let us take into consideration the following lines from *Mudràràkùasa* of Visàkhaḍatta:

(प्रत्यक्षवद् लक्ष्यं बद्ध्वा) राक्षस, राक्षस, विरम्यतांअस्माद् दुर्व्यवसितात् ।
उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रे,
नन्दोऽसु न भवतिचन्द्रगुप्त एषः ।
चाणक्यस्त्वमपि च नैवकेवलंते,
साधर्म्यमदनुकृतेः प्रधानवैरम् ।।12।।⁴⁰

(*Sanskrit Kavyadhara*, p-442)

((Fixing the gaze in vacancy) Raksha: refrain from this behavior.
Overflowing with pride this is no Nanda,
The onerous duties of whose empire
Where, by evil ministers, supervised,
It is Chandragupta;
Nor are you, by any means, Chanakya;
The only similarity in your imitation of me,
Is the hostility to the principal personage)

(*Mudràràkùasa or The Signet Ring*, P. 61)

The situation, in this utterance has a propositional variance between object and the subject and puts up an antithesis of opposition between object and the subject therefore the reality (pk.kD;) is being imminently denied by the unreality (राक्षस) hence there is an infinite expansion and extension of the both structures of signification. There can be yet another way in which we may understand the whole situation. The supposed creation of the knowledge in the universal form of चाणक्य is being opposed by forming an equivalent idea of strength and power by राक्षस in himself and therefore . साधर्म्यमदनुकृतेः प्रधानवैरम् This proves the point that when medium and the content are excessively preoccupied with oppositional systematization, the rendering of the content of sensation and language, are displaced with greater speed and therefore relegated to the infinity in such a way that there cannot be any inter transformation whatsoever.

In Post-structuralist agenda the motivated experience and projected language both, of necessity, devolve through a linear figural dimension and thus the synthesis and projection of the contents is very unrealistically assorted. For example, while there is no representation of the experience, it will have a tendency to reduce itself hence there will be a reduced enrichment in as much as contents would be less and less concentrated but will definitely be more and more dispersed and the process will become significant till it reaches the last phase of reduction. Derrida also speaks about this continuity and discontinuity composing a loss of the whole situation :

The trace is in fact the absolute origin of sense in general. Which amounts to saying once again that there is no absolute origin of sense in general which amounts of saying once again that there is no absolute origin of sense in general. The trace is the difference which opens appearance [l'apparaître] and signification. (Of Grammatology, p. 65)

It signifies that the beginning of an exposition is necessarily encoded in a sequence, while, however, when the process of representation begins, it loses its sequence and gets outside the range of enrichment. We cannot exactly determine as to how and why the synthesis as a figure is primarily lost and would ultimately prove the point that reduction of the content by devolving the content and medium is essentially the depth of conditioning and is to be always seen in the process. The real nature of concentration is exemplified in disassociating language with its next equivalent and associating experience with its reduced version. In fact in Post-structuralism the origin of content is supposed to be only relative to the presence of the content in an artistic form for this reason, the effect of concentration is always regressed and reduced with its new form and in every succession the instance of earlier assortment is revived. While in Post-structuralism the nature of categories, primarily language and experience are modified with a view to enlist a method for regression accordingly the language and experience, both enter into modification and disperse right at the point at which the resolution is to be effective in meaning there by object and event both are supra rationalised and excess of reason intends an aberration of meaning via transformation.

In post structuralism the cognitive model doesn't authorize recognition through stationary explication and for that matter Derrida, Foucault, Lacan and other poststructuralists believe that the immensity and infinity of temporal unit could beget no identical situation in as much as the possibility of assertion is never authenticated in coherent and exact mediums. The importance of this view would naturally lead to the idea that; within language or experience, no two terms could be identical and in that each has its own ability to presuppose a form for itself.

Thus we can conclude that Poststructuralism is an emancipatory theory that challenges our established notions of knowledge and truth. It questions and denies the possibility of arriving at universal absolutes and highlights that the reality of our world is conditioned by our understanding of the same and thus acknowledges the possibility of alternative discourses while highlighting the fleeting nature of reality at the same time. Foucault's suggestion that "we must not imagine the world turns towards us a legible face which we would only have to decipher" is conclusive in this regard. It dismantles our presumptions about our world, our ideas about knowledge and truth, meaning and values and all our institutions. It exposes the underlying motifs, biases and agendas of the existing systems and encourages us to develop what can be said to be objective research aptitude.

References -

- A.B. Gajendragadkar, *The AbhijñanaS'akuntala of Kālidasa*, 7th edition, 1962, The Popular book Store, Tower Road, Surat.
- Bāna'sKādambari[Purvabhagā complete] Ed. by Late M.R. Kāle, MotilalBanarsidass, Delhi, 1968.
- Derrida, Jacques. *Of Grammatology*. Baltimore: Johns Hopkins University Press, 1998.
- Foucault, Michel. *The Archaeology of Knowledge*. London: Tavistock Publications, 1972.
- Foucault, Michel. *Discipline and Punish: The Birth of the Prison*. New York: Pantheon Books, 1977.
- Harcourt, Bernard E. "An Answer to the Question: 'What is Poststructuralism?'" (March 2007). University of Chicago, Public Law Working Paper No. 156, Available at SSRN: <https://ssrn.com/abstract=970348> or <http://dx.doi.org/10.2139/ssrn.970348> Accessed on 13/04/2021.
- Lacan, Jacques. *Écrits: a selection*, trns. Alan Sheridan, Routledge Classics, 11 New Fetter lane, London, 1989.
- Mudrārāk?asa of Viśākhadatta with the commentary of Dhundhiraj, ed. With critical and explanatory notes by KashinathTrimbakTelang, revised by V. S. Ghote, Nag Publishers, Delhi, 1985.
- Sankrityayan, Rahul: *Sanskrit Kāvyaadhārā*, KitabMahal, SammelanMudralaya, Prayag, Allahabad, 1957.
- Shakuntala or the Recovered Ring, Six Sanskrit Plays in English trans*, ed. by Henry W. Wells, Asia Publishing House, New York, 1964.
- Viśākha-Datta: *Mudrārāk?hasa' or The Singet Ring*, trns. By RanjitSitaramPandit, Bombay New Book Company, 188-90, Hornby Road, 1944.

A Utopian Setting with Non-Utopian Characters : A Study of Parent-Child Relation in *Boy Meets Boy* by David Levithan

Neha Pillay and Shashank Gupta

David Levithan is an American young adult fiction author and editor, *Boy Meets Boy* is his first novel published in 2003. This novel is set in a gay-friendly small town in New Jersey and revolves around a group of high school students. The story has a linear event of a traditional romance novel where a boy meets a girl, they fall in love, then get away from each other and eventually the boy gets the girl, except both the characters in this novel are boys. This novel is a love story between Paul and Noah, two teens in their high school and their friends. Levithan has set this novel in a utopian small town where the gay, lesbian, bisexuals and other gender variants are accepted and celebrated and firm boundaries of traditional gender expression have thawed. This setting assists the author to effectively undermines the paradigm of compulsory heterosexuality in young adult fiction in general and young adult romance specifically.

In an era where, according to The Trevor Project report, more than 1.8 million LGBTQ youth between the ages of 13 and 24 in the U.S. seriously consider suicide each year, and over a third (35.6%) of LGBTQ students had received detention, 15.1% of LGBTQ students had received in-school or out-of-school suspension, 1.3% of LGBTQ students had been expelled (GLSEN 2016), this novel sets a relief and alternative to homosexual students, where their sexuality is to be celebrated.

Paul, a gay teen is the narrator of this story, Tony (Paul's best friend), Joni (Paul's other best friend), Infinite Darlene, a drag queen (school's homecoming queen and a star quarterback), Kyle (Paul's confused ex-boyfriend, who turns out to be a bisexual), Ted (Joni's ex-boyfriend) and Chuck (Joni's current boyfriend). Paul and Joni are old friends from kindergarten and Joni was the first-person Paul came out to be gay, Tony and Paul met in a bookstore and became friends. Kyle is Paul's ex-boyfriend who is confused about his sexuality and later finds out to be a bisexual. Joni is straight and had a romantic relation with Ted, later Joni finds new love interest in Chuck. Infinite Darlene is a drag queen who is school's homecoming queen and the star quarterback. Noah is new in town,

Paul first saw Noah in a bookstore and falls in love immediately, they gradually develop their relation only to get apart and finally get back together. This set of characters display a plethora of burning issues of our times such as homophobia, inclusion of homosexuals and gender variant students in schools and colleges, upheaval in young minds and most importantly the constant help and support of friends and family of gays, lesbians and transgenders.

Parental influence on human offspring cannot be undermine, although the influence of peers, media and school increase with age, they cannot fully supplant the role of parents in the lives of their children. Parent-adolescent relationships inevitably influences how adolescents navigate their journey into early adulthood. The importance of these relationships may be even more significant for sexual and gender minority youth, whose identities are developing in a highly heteronormative world and during a developmental period when their cognitive and emotional abilities are still growing and adapting. Although many children experience parental warmth and acceptance when they disclose their sexual or gender identities, while others experience resentment and mistreatment. Some may feel forced to remain “in the closet” and isolated from their families out of fear of judgement and potential rejection. Parental acceptance can be a protective factor for sexual and gender minority youth (Ryan,2010), psychological control, rejection, and fear of coming out increases the risk for psychopathological development. Paul and Tony show both types of parental treatment in the novel, Paul's sexuality is confirmed when he was in kindergarten, his teacher wrote in his report card “PAUL IS DEFINITELY GAY AND HAS VERY GOOD SENSE OF SELF” (Levithan 8). Instead of mistreatment and isolating Paul from other students the teacher appreciates and assures “What you feel is absolutely right for you. Always remember that.” (Levithan 9). His parents also, did not dread and mistreated him for being gay rather in Paul's word “Parents never react the way you want them to.”, rather it took his parents a couple of years, but “eventually they got used to it.”(Levithan 9). Later in his third-grade class with Joni's help he became the “first openly gay class president” (Levithan 11) of his class. Paul was a mighty talented student who since then been a part and head of various school committees and creative groups. This so happens with the parental support and comfort for a non-traditional gender performer child, this relationship between a child and their parent, as much as it is a biological necessity it holds social and emotional importance. As a result of these interactions children develop a sense of self and others, the ability to regulate emotion, behavior and forge relationship with others. Each of these developmental acquisitions are critical to physical and mental health throughout life (Cassidy, 2008). Paul's parents and his brother Jay were all apprise of his sexuality and welcomed his new found love Noah, “they're pretty good about meeting my boyfriends,....my fear isn't that my parents are going to push Noah out the door.....instead, I'm afraid they'll be too friendly” (Levithan 60). Recognizing family units as systems of interconnected individuals and dyads that bidirectionally influence each other and the overall functioning of the system (Minuchin, 1985) is a necessary

framework for understanding how an adolescent's LGBT identity can create an effect within the family, this theory also accounts for how these effects ultimately resound back to the child. Paul, throughout was not lost, his tumultuous relation with Noah may have caused chaos, he might have felt lost but he never was been lost. This clarity of one's self/identity is a sign of positive and strong parental acceptance.

Tony, on other hand have an orthodox and traditional house hold, his parents are extremely religious and thinks that his “personality is simply a matter of switches, and that if they find the right one, they can turn off his attraction to other guys and put him back on the road to God” (Levithan 70). His sexuality was a matter of social disgrace and blasphemy for his parents. Sexual and gender minority youth experience unique and ongoing stressors specific to their LGBT identities, including direct institutional discrimination and interpersonal victimization, expectations and fears of rejection and harm, and the internalization of homonegativity (Meyer, 2003). These minority stressors have been associated with psychopathology through their effects on psychological processes involved in coping, resilience, and emotional functioning as well as experiences within families. These stressors on his way of emotional functioning hinders him to be happy and proud of being himself, his parent's ideal and 'normal' heteronormative construct makes his condition miserable, Paul wants “Tony to be happy.....a part of me still fell in hope with him. I want a fair world. And in a fair world, Tony would shine.” (Levithan 5). Sexual identity development, for most adolescent is a continuous process often starting before puberty, during which children form attitudes and preferences about sexual attractions and experiences. This process can sometimes involves engaging in sexual behaviors, whereas it can be a purely mental exercise for others. These experiences result in a new conceptualization of self and how the self relates to others. This important period of identity development is challenging for all adolescents, but it can be markedly more so for LGBT youth who are confronted daily by a heteronormative society that explicitly and implicitly reinforces sexual and gender expectations that are incongruent with their emerging LGBT identities. The 'coming out' is one of the components of developing LGBT identity, and this can happen at any point in the lifecycle. When a youth discloses his/her gender identity to their parent it can be a unique experience. This disclosure may be met with a positive, negative or delayed/neutral reaction, which may have immediate and ongoing effects on children, (acceptance and support versus distance and rejection) and is likely to directly influence their health and well-being. When Tony's parents found out that he is gay “they didn't kick Tony out of the house, but they made him want to leave. They didn't yell at him- instead they prayed loudly, delivering all of their disappointment and rage and guilt to him in the form of an address to God.” (Levithan 96). Tony's coming out was received with hatred, rejection and even dismissal of the fact that he is gay, he was confined to his room, no phone calls, and no friend was allowed to visit him.

Family and parenting researches, over a few decades have identified multiple parenting construct, but two of the most commonly studied are parental acceptance and

parental psychological control. Parental acceptance is generally operationalized as warmth, affection, approval, support, and positive engagement with children and is positively associated with child's self-esteem and self-regulation. Parental psychological control refers to parents' attempts to impose their agenda, beliefs and desires on children, undermining their individuality and autonomy and is negatively associated with externalizing and internalizing behaviors, including depression, self-injury, and suicidal ideation. Paul and Tony's case represents both the sets respectively. Paul has a better and conscious understanding of self which helps him to establish himself as an important person in his school, whereas Tony remain in his cocoon for a long time that hinders his mental and personal growth.

This utopian town has a P-FLAG Community, which helps parents and friends to regulate with the new found identity/sexuality of their loved ones. Paul's parents and brother were eager to send the P-FLAG commandos to Tony's house to help his parents to understand his state of being. Tony, contrary to the parental psychological control decides to be more assertive and persistent, he faces his mother with confidence upholding to be a brave and confident gay boy. Fortunately, the novel demonstrates a positive change in the attitudes of his parents towards the end. Everyone gathers at Tony's house to pick him for the Dowager Dance "girls and boys. Straight boys and a drag queen." (Levithan 183). His father was "torn between dogma and helplessness...he simply walks away" and his mother was teary and nods him off saying have fun.

Considering this relationship history, adolescents can either 'comeout' to their parents and disclose their sexual/gender identities or they can choose not to disclose. Each decision has ramifications for parent-child relationships and adolescents' health and well-being. Parental acceptance negatively correlates with parental rejection, and these two parenting dimensions can be experiences simultaneously, or in alternate sequence with in a short period of time. It is possible that such co-occurrence is due to parents' use of psychological control, if a parent tries to persuade an LGBT adolescent into adopting a heteronormative identity, that behavior is more in line with the parent's wishes and expectations, and it is likely to be perceive as rejection. Parents may believe that they are making a simple and logical request by asking them to waittill they get older and wise, this projects that the adolescent's feelings are invalid or unacceptable and undermines a normative developmental process by imposing heteronormative expectations in an implicit, yet coercive, manner. Whether these experiences of rejection are direct or indirect, they are particularly salient for LGBT youth.

The direct effects of parental behaviors and attitudes on LGBT adolescent health and well-being, shows that family acceptance can also buffer youth from the negative effects of homosexuality outside home. even in this 21st century as children come out earlier in life, they report more experiences of homophobia and may be more vulnerable to negative peer behaviors and victimization. All of this is happening against a cultural backdrop that is gradually becoming more accepting of LGBT persons and issues, but still lacks adequate support and protection for LGBT youth, the experience of parental

support goes far beyond just being a “lack of rejection”. Parental support attenuates the negative effects of LGBT-related experiences of victimization on children's psychopathology.

Govt J.Y. Chhattisgarh College,
Raipur (CG)

References -

- Cassidy J and P.R. Shaver (Eds.). *The Nature of the Child's Ties. Handbook of Attachment: Theory, Research, and Clinical Applications*, The Guilford P, 2008.
- Levithan, David. *Boy Meets Boy*. Ember, 2011.
- Minuchin P. “Families and Individual Development: Provocations from the field of Family Therapy”. *Child Development*, vol. 56, no.2, 1985. pp.289-302.
- Meyer, Ilan H. “Prejudice as Stress: Conceptual and Measurement Problems”. *Am J Public Health*, vol. 9, no.2, 2003. Pp.262-265. doi:10.2105/ajph.93.2.262
- Mills-Koonce, W Roger et al. “The Significance of Parenting and Parent-Child Relationships for Sexual and Gender Minority Adolescents.” *Journal of Research on Adolescence: The Official Journal of the Society for Research on Adolescence* vol. 28, no.3, 2018. pp 637-649. doi:10.1111/jora.12404
- Pattee, Amy S. "Sexual Fantasy: The Queer Utopia of David Levithan's *Boy Meets Boy*." *Children's Literature Association Quarterly*, vol. 33 no. 2, 2008, p. 156-171. Project MUSE, doi:10.1353/chq.0.0003.
- Ryan C, Stephen T. Russell, David Huebner et al. “Family Acceptance in Adolescence and the Health of LGBT Young Adults” *J Child Adolescent Psychiatry Nurs*, vol 2, no. 4, 2010. pp. 205-213. doi:10.1111/j.1744-6171.2010.00246.x
- Russell, Stephen T, and Jessica N Fish. “Mental Health in Lesbian, Gay, Bisexual, and Transgender (LGBT) Youth.” *Annual Review of Clinical Psychology*, vol. 12, 2016. pp.465-87. doi:10.1146/annurev-clinpsy-021815-093153
- <<https://www.thetrevorproject.org/wp-content/uploads/2019/06/Estimating-Number-of-LGBTQ-Youth-Who-Consider-Suicide-In-the-Past-Year-Final.pdf>> 8.8.2020.

Exemptions and Limitations Under Patent Laws in India : An Analytical Study

Jagdish Wamanrao Khobragade

Introduction

The intellectual property rights are very vast and it covers various rights like copyright, trademark, patents, geographical indications and design, etc. In these rights, the patent has different importance since it is related to innovation and registration for a new invention. Patents are one of the most demanding intellectual property rights all over the world. According to section 2 (j) of the Indian Patent Act, 1970 patentable inventions are “ a new product or process involving an inventive step and capable of industrial application”. A patent is issued to an inventor in the form of a document or license by the patent office after fulfilling the requisite criteria. The government grants a patent for the invention which involves an inventive step, which is non-obvious and has commercial value.¹ The Patent Act 1970 has been amended from time to time and the amendment of 2005 is a turning point in the patent regime which allows both product and process patents. Due to which the production of generic medicine went down otherwise India was the top exporter of generic medicines until 2005.² Indian Pharmaceutical industry is growing by 9.4 % per year as indicated by 2018 growth reached Rs 1,290 billion (\$18.12 billion). It has 75% of the market share in terms of revenue and generic drugs.³ Indian drugs are exported all over the world including the United States as the big market for the pharmaceutical industry. India's pharmaceutical exports rose by 11% from 2018 to 2019 and it has high demand in North America and Europe.⁴ Since it is an exclusive right given to the patentee it has a monopoly over a particular patent and hence it is known as a monopoly right. However, there are certain exemptions/limitations to the patent right under the patent laws in India e.g. a voluntary license, compulsory license. Apart from this, there is some Bolar exemption in case of infringement of patents and that can be used by the third-party for their defense. However, this Bolar exemption has also some limitations therefore it is also not absolute freedom given to others. Therefore, it is important to study voluntary licenses, compulsory licensing, and Bolar Exemptions under the Patent Act, 1970.

The result of monopoly of patent it has affected the production of generic medicines in India. The reason for the reduction in the export of generic medicines was allowing product patents in India due to which patent holder can hold its product and process for a longer time and it will not allow others to work on that patented subject matter. Therefore, the monopoly of the Pharmaceutical Company increased, and their ground for Research & Development increase the price of the product.⁵ Already the Patent Act, 1970 under section 48 provides exclusive patent rights for 20 years, and as they can have a monopoly over the product and process to control the prices of patented products and medicines which creates a tension between human rights and IPR. In 2001, the WTO Minister Conference held at Doha has focused on public health and TRIPS provisions but it has again been limited to the flexibilities given under the TRIPS agreements. Therefore, it is required to understand why TRIPS provisions affected the Compulsory license and what is the role of other exceptions in granting benefits to the public in case of emergency.

Bolar Exemptions under the Patent Act, 1970

In patent law, there was a provision for Bolar exemption and research exceptions. It is like a doctrine of fair use in copyright laws in India. The bolar exemption comes after the case of Roche Products, Inc. v. Bolar Pharmaceutical Co., 733 F.2d 858 (Fed. Cir.1984), and it was related to generic drug manufacturers. In short, it can be said that this exemption enables generic manufactures to do research on patented drugs and produce generic medicines. The Bolar Exemption has been introduced under section 107 A of the Patent (Amendment)Act, 2005. Its main purpose was to ensure the availability of the drugs in the Indian market immediately after the expiry of the term of such a patent.

Section 107 A of the Act provides exemptions from patent infringements which are as follows;

“107A provides that certain acts are not to be considered as an infringement. -For this Act,- (a) any act of making, constructing,¹⁹⁷ [using, selling or importing] a patented invention solely for uses reasonably related to the development and submission of information required under any law for the time being in force, in India, or a country other than India, that regulates the manufacture, construction, [use, sale or import] of any product; (b) importation of patented products by any person from a person [who is duly authorized under the law to produce and sell or distribute the product], Shall not be considered as an infringement of patent rights”. These provisions intend to ensure the availability of product patents, especially pharmaceutical products with the required regulations, and use it after the expiry of the term of the patent. These provisions are most useful for generic drug manufacturers in case of patent infringement.⁶

In Bayer Corporation v Union of India,⁷ Justice Ravindra Bhat while writing the judgment for this case the Delhi High Court interpreted Section 107 A (a) discussed in detail. While interpreting the term 'sale' under Section 107 A (a) of the Act, the burden of proof is on the third party if they take the defense of Section 107 A(a) for ensuring pre-conditions.⁸ Therefore, the issue relating to the legitimate use of patented products by a

third party for reasonable end use or purpose of research for submission of information is triable and adjudicated by the courts based on the evidence produced by the parties. However, it has limitations and therefore compulsory license is another remedy in the hands of the government to grant in the case of public health.

The voluntary license under Patent Laws

Indian Patent Act is known for both voluntary license and compulsory license. Therefore, to understand compulsory licenses one should know about voluntary licenses. Voluntary licenses are the primary stage of getting a compulsory license because due to the high prices of patented medicines many generic drug manufacturers are ready to provide them for a cheaper price. It will give them a voluntary license from the patent holder to make, produce, and market the generic drug at affordable prices through the process of Reverse Engineering.

According to Article 31 b of the TRIPS and domestic laws of any country a person or company first applies for a voluntary license from the right holder on certain terms and conditions.⁹

Thereafter, if he did not get a voluntary license then one can approach authorities for granting the compulsory license. However, the procedure of voluntary license is not applicable in case of national emergency, governmental use, extreme urgency, public non-commercial use, etc. The role of the voluntary license may be useful in developing countries for cutting down the prices of drug manufacturers.¹⁰ There are many instances of voluntary licenses and in Bristol-Myers Squibb Company and another v Mr. J.D. Joshi and another, [CS(OS) 2303/2009], the Delhi High Court observed that BDR Pharma failed to make out a prima facie case for grant of compulsory license as the applicant did not try to obtain a voluntary license from the patent holder on reasonable grounds. In India, before applying for a compulsory license one should apply for a voluntary license and it is mandatory in Indian law. It is very clearly mentioned in Section 84 of the Patent Act, 1970 and the Controller must be satisfied prima facie to proceed on the CL only when certain conditions are satisfied under Section 84 and 87 of the Patent Act, 1970.

A compulsory licensing under Patent Laws

The compulsory license is nothing but an authorization given by the Controller General of Patents to a third party to make, use or sell a particular product or process which is already patented without the permission of the patent holder. This provision has recognition from TRIPS provisions and also in the Indian Patents Act, 1970. There are certain provisions under Sections 84-94 of the Patent Act, 1970. All these conditions are required to be fulfilled for granting the compulsory license. According to Section 84, the following four conditions are important for granting a compulsory license under the Patent Act, 1970.

1. any person can make an application for a compulsory license after the expiry of three years of patent, and the following three conditions have to be fulfilled;
2. the reasonable requirements of the public concerning the patented invention have not been satisfied.

3. the patented invention is not available to the public at a reasonably affordable price
4. the patented invention is not worked in the territory of India.

The provision relating to the compulsory licenses is provided under Sections 84 to 94 of the Patent Act 1970. The object of the compulsory license is to give authority to a third party by the government to work on the already patented subject matter. The first condition is very simple since it says that only after three years of the grant of a patent anyone can apply for a compulsory license. It is also advisable that whether the person applying for the compulsory license has tried to get it through a voluntary license. If the voluntary license is not given then anyone can easily apply to controller patent for a compulsory license after fulfilling the following criteria.

Concerning the second condition that reasonable requirement of the public has to be satisfied, it means that people are not getting patented medicines. Third, it is not affordable at a reasonable price and lastly, it does not have production in India or it may include the importation of medicines. Therefore, the Compulsory license could be a tool to protect public health at large in case of certain conditions and it could be helpful to reduce the cost of patented medicines.¹¹

As discussed above the Patent Act, 1970 has been amended many times to implement the TRIPS provisions in India. In the amended Patent Act, 2005, patentees can have more control over their innovations and for compulsory licenses using marketing rights. Considering the above flexibilities under the TRIPS are incorporated in the Indian Patent Act, 1970. The relevant provisions under Chapter XVI provide for compulsory licenses in the following sections of the Patent Act, 1970. Section 84, provides general conditions for granting compulsory license issued by the Controller. Section 91, under this provision compulsory licenses are issued by the Controller for a related patent on the application; Section 92, under which compulsory licenses are issued by the Controller based upon notification, by the Central Government, of circumstances of national emergency or in circumstances of extreme urgency or the case of public non-commercial use; Section 92 (A), this provision is related to compulsory license in case of manufacture and export of patented pharmaceutical products are not sufficient or no manufacturing capacity is there for the particular pharmaceutical product. This is related to the public health problem. Chapter XVII contains provisions for use of inventions for government and the acquisition of inventions by the Central Government. Chapter VIII of the Patent Rules 2003, and amended in 2006, provides for the moralities of issue and maintenance of compulsory licenses (Department of Industrial Policy and Promotion, 2010). An Individual or a company that has been granted a compulsory license has to pay the owner a set of fees for the license. Apart from this government has power in case inventions use of inventions for purposes of government and acquisition of inventions by central government section 99 to 103. Out of these Section 100 is important for the understanding of the Central Government to use inventions for purposes of Government. “(1) Notwithstanding anything contained in this Act, at any time after an application for a patent has been filed at the patent office or a patent has been granted, the Central Government and any person authorized in writing by it, may use the invention for

Government by the provisions of this Chapter”. The purpose of this section is to give power to the central government to use inventions. All these sections give power to the central government to use patented inventions for government use.

Section 101 of the Patent Act provides for the rights of third parties in respect of the use of the invention for purposes of Government. According to section 101 sub section (1) “in relation to any use of a patented invention, or an invention in respect of which an application for a patent is pending, made for the purposes of Government-(a) by the Central Government or any person authorised by the Central Government under section 100; or (b) by the patentee or applicant for the patent to the order made by the Central Government, the provisions of any licence, assignment or agreement granted or made, between the patentee or applicant for the patent (or any person who derives title for him or from whom he derives title) and any person other than the Central Government shall be of no effect so far as those provisions-(i) restrict or regulate the use for the purposes of Government of the invention, or of any model document or information relating thereto, or (ii) provide for the making of payments in respect of any use of the invention or of the model, document or information relating thereto for the purposes of Government and the reproduction or publication of any model or document in connection with the said use for the purposes of Government shall not be deemed to be an infringement of any copyright subsisting in the model or document”.

TRIPS and compulsory licensing in patents :

There are a total of 73 articles under the TRIPS agreements and all WTO members i.e. around 164 states are members of it. However, some of the articles on compulsory licensee which are specifically dealt with the compulsory license provisions in patents. Articles 7 and 8 of the TRIPS provide express recognition for policy objectives that are fundamental to international intellectual property (IP) protection. It identifies the technological goal and innovation and dissemination at the threshold but it does not acknowledge the importance of public interest. In other words, Articles 7 and 8 are poised to provide the foundation for a new legal and policy perspective on international IP regulation that is fully supportive of social as well as economic development in all participating nations.¹² Article 27 of TRIPS provisions for patentable subject matter which provides in para 2 that member countries may exclude from patentability inventions within their domestic jurisdiction to protect human life.

Article 28 provides for the rights of the patent holder. Article 29 provides for conditions on the patent application. Article 30 exceptions to rights conferred that “Members may provide limited exceptions to the exclusive rights conferred by a patent, provided that such exceptions do not unreasonably conflict with a normal exploitation of the patent and do not unreasonably prejudice the legitimate interests of the patent owner, taking account of the legitimate interests of third parties.” Out of which article 31 provides for use of the patented invention without authorization of the patent holder. It says that by any law member countries may allow any third party and government to use patented subject matter without the authorization of the right of the patent holder. However, it puts certain conditions that have to be observed which are as follows;

1. this authorization shall be considered on its merits
2. the second condition provides that there should be some effort to obtain authorization from the right holder and it is like a voluntary license. It further says that this requirement may be waived in case of a national emergency and other circumstances of extreme urgency like a pandemic, epidemic, etc.
3. the third condition says that such authorization shall be limited to the purpose.

And there are other conditions also to be followed for giving authorization.

The TRIPS agreement is under article 31 provides compulsory licensing and certain flexibilities are given to grant compulsory license and it can be used in an extreme emergency.¹³ Paragraphs 5(b) and 6 of the Doha Declaration also provides for compulsory lessening which was the basis for the protection of public health in case of emergency and against the monopoly of pharmaceutical companies in case of patented medicines.¹⁴

Examples of Compulsory License in Patent and Impact of TRIPS

In India, three cases are very popular in compulsory license and out of which in only one case compulsory license granted. In the case of Bayer Corporation v. Union of India,¹⁵ the compulsory license has been granted to Natco Pharma Ltd., a generic drug manufacturer to produce generic drugs. In BDR Pharma v. Bristol Myers Squibb, 2015(64) PTC 135 (Del) the compulsory license has been rejected and in another case of Lee Pharma v. AstraZeneca AB, C.L.A. No. 1 of 2015 the same thing is repeated due to non-fulfilled criteria given under Section 84 of the Patent Act, 1970. However, Novartis AG v. Union Of India, AIR 2013 SC 1311, is one of the popular cases for amendment of Patents and approach of the judiciary in protecting public interest instead of pharmaceutical companies.¹⁶ In the above case, the Supreme Court of India discusses Section 3 (d) which was added by the Patent (Amendment) Act, 2005. It was a landmark judgment delivered by justice Aftab Alam and Justice Ranjana Prakash Desai. In this judgment main issue where what is the true import of section 3(d) of the Patents Act, 1970? How does it interplay with causes (j) and (JA) of section 2(1)? Does the product for which the appellant's compulsory license aims patent qualify as a "new product" under the Act? While deciding these issues the Supreme Court has focused on the interpretation of the newly amended Section 3(d) of the Patent Act, 1970 and given importance to the substances which are already known and held that there is nothing new in Novartis compulsory license since it is an obvious thing and imatinib mesylate is not patentable as it fails the test of section 3 (d).

While discussing this case court observed that "The many amendments to and enlargement of the Patent Act by the Amendment Act of 2002 laid most of the groundwork, but India was yet to take the one final step to make its patent law compliant with the mandate of TRIPS. And that was to amend the Act to allow for the grant of product patents for pharmaceutical and agricultural chemical substances. Steps were taken to finally amend the Patents Act, 1970, but the draft Bill lapsed in February 2004. Further efforts were made but the legislature was unable to bring an enactment to make that final amendment in the Act by December 2004; thus, the Government of India had no option

but to amend the law through an Ordinance. Therefore, in order not to default on its obligations under the TRIPS Agreement, the Government brought the Patents (Amendment) Ordinance, 2004 (Ordinance No. 7 of 2004) with effect from January 1, 2005. By this Ordinance, section 5 of the Patents Act, 1970, which barred the grant of the patent for substances intended for use or capable of being used as food or as medicine or drugs or substances prepared or produced by chemical processes was done away with, opening the doors for grant of patents to, amongst others, pharmaceutical products”.

All the above observations by the Supreme Court indicate that there is the influence of the TRIPS provisions on the Indian Patent Act, 1970 and therefore there are many amendments made in the Patent Act. However, how far it is implemented and how the Supreme Court is interpreting these provisions following Indian laws and TRIPS provisions has to be considered for understanding the role of TRIPS provisions.

Conclusion :

A voluntary license is a pre-condition to apply for a compulsory license as per the Indian Patent Act, 1970. There are certain exemptions to voluntary license in case of national emergency and government use to apply for a compulsory license. Apart from this Bolar Exemption is a defence for the patent infringements if the intention of the third party was not to infringe the rights of the patent holder and they want to do research and to produce generic medicines but they have to fulfill the criteria given under Section 107 A of the Patent Act, 1970.

A compulsory license is one of the tools of the government to grant a Compulsory License in case of emergency and for the benefit of the people. There are other provisions also to deal with an emergency and a voluntary license could be for the benefit of society at large. However, from the above study it can be seen there are many conditions for granting a Compulsory License and the provisions of TRIPS agreements has to be complied with. To implement TRIPS agreements many states have made changes in their domestic patent laws to deal with emergencies but still, flexibilities given under the TRIPS are not binding on them. Therefore, compliance with the TRIPS agreement in the strict sense is not possible due to the lacunas in it. All these provisions have affected the right of the patent holder and as well as the general public who require the generic drug. It can be concluded that TRIPS provisions and other exceptions given under the Patent Act, 1970 are not adequate to address the present problem of compulsory license in India.

*Maharashtra National Law University,
Nagpur (Maharashtra)*

References -

1. Amanpreet Kaur & Rekha Chaturvedi, *Compulsory Licensing of Drugs and Pharmaceuticals : Issues and Dilemma*, 20 *JOURNAL OF INTELLECTUAL PROPERTY RIGHTS*, 279–287 (2015).
2. Shubhra Khanna, *TRIPS, Pharmaceutical Patents and Health Care for the Poor in India*, *ILI LAW REVIEW*, 71–95 (2016).
3. <https://www.worldtrademarkreview.com/bolar-exception-india>.

4. <https://www.worldtrademarkreview.com/bolar-exception-india>.
5. VALBONA MUZAKA, *THE POLITICS OF INTELLECTUAL PROPERTY RIGHTS AND ACCESS TO MEDICINES* 18-23 (Palgrave Macmillan) (2011)
6. BOLAR EXEMPTION IN INDIA - INTELLECTUAL PROPERTY - INDIA WELCOME TO MONDAQ, <https://www.mondaq.com/india/patent/691036/bolar-exemption-in-india> (last visited Dec 16, 2020).
7. BAYER CORPORATION VS. UNION OF INDIA & ORS. LPA NO. 359/2017 AND BAYER INTELLECTUAL PROPERTY GMBH & ANR. VS. ALEMBIC PHARMACEUTICALS LTD. RFA(OS)(COMM)6/2017.
8. BAYER CORPORATION V. UNION OF INDIA: IIPRD, <https://www.iiprd.com/tag/bayer-corporation-v-union-of-india/> (last visited Dec 16, 2020).
9. KD Raju, *Compulsory v Voluntary Licensing: A Legitimate way to Enhance Access to Essential Medicines in Developing Countries*, 22 *JOURNAL OF INTELLECTUAL PROPERTY RIGHTS* , 23–31 (2017).
10. Gopakumar G Nair et al., *Landmark Pharma Patent Jurisprudence in India*, 19 *JOURNAL OF INTELLECTUAL PROPERTY RIGHTS*, 79–88 (2014).
11. Vipin Mathur, "Compulsory Licensing of Pharmaceutical Patents In India: A Research Study, 3 *EJPMR*, , 532–543 (2016)
12. Alison Slade, *Articles 7 and 8 of the TRIPS Agreement: A Force for Convergence within the International IP System*, 14 *THE JOURNAL OF WORLD INTELLECTUAL PROPERTY* , 413–440 (2014).
13. *Ibid*.
14. TG Agitha, *TRIPS agreement and Public Health: The Post Doha Crises*, , 18 *JOURNAL OF INTELLECTUAL PROPERTY RIGHTS* , 287–293 (2013).
15. AIR 2014 Bom 178.
16. AIR 2013 SC 1311.

History in Fiction : A Note on Rohinton Mistry's Representation of Post-Independence India

Devendra Rankawat

One commonplace claim about history is that it is written by victors, which is to discredit its authenticity and thereby to also imply that it is not possible to reach the past in its unaltered and untampered form. Yet, history plays a significant role in shaping individual as well as group identities, in influencing inter-group power equations, in uniting diverse cultures and religious groups into one nation, and in determining the global standing of nations themselves. Moreover, history writing itself has undergone crucial changes in the post-colonial times. The ideas like 'history from below' and 'alternative histories' or '(his)story' have opened up a whole new world of possibilities in looking back at the past. In the process, the demarcation between history and 'story' has become quite blurry. Operating from this ground of possibilities, the paper is an attempt to analyse how Rohinton Mistry, a writer of the Indian diaspora in Canada, embeds the post-independence history of India in his fictional world in general, and how he acts almost as a community historian for his own religious community i.e. Parsis in India, in particular. For the purpose, I have focused on select fiction by Rohinton Mistry insofar as it deals with the events of larger national history as well as the struggles of the members of Parsi community--collectively and individually.

History and literature are arch-rivals as modes of representation of reality--while one is taken to be factual, the other as not untrue. If history bears the stamp of being an officially accepted version of events, literary versions are often thought to be colored by the writer's imagination. The degree of truth, however, might well be found more in literature. This is one reason why rulers have generally scorned artists or writers whose literary versions tend to reveal what official versions painstakingly conceal. As Salman Rushdie says in *Imaginary Homelands*¹. This is also the reason why the freedom of speech has every now and again been curbed, curtailed, or altogether denied by various political dispensations.

Rohinton Mistry is an Indian writer, now settled in Canada as part of Indian diaspora. His fictional world, however, remains rooted in India and concerns mainly with life in India. Though he concerns himself more with the Parsi community and its

desperate attempts at survival, he does not stop at merely that. Rather, his works like *A Fine Balance*² seek to voice the pangs of indignities and sufferings borne by the downtrodden—widows, low-caste people, poor, weak and vulnerable masses.

Mistry's life so far reveals two strongly asserted concerns: one, his almost obsessive concern with Bombay and the middle-class Parsis thereof; and second, his concern with the individual's predicament when political upheavals suck there in. They cannot but get drawn into the maelstrom and suffer helplessly. This is where history and individual lives get entangled. So, Mistry's method is of leveraging memory from individual lives and thence interweaving them with larger issues that constitute the history of a community and that of the nation itself.

Since Mistry's fiction is anchored in a diasporic space, challenging the national narratives acquires a vantage point in him. Such a *Long Journey*³, his first novel, seeks to interrogate the discourse of dominant ethno-religious nationalism from the perspective of a minority community. Gustad Nobel, the protagonist, becomes a synecdoche of the community experience. His struggle is in microcosm what his community has to suffer at large. *A Fine Balance*, his second novel, too adopts the oppressed people's viewpoint but these people are not a religious minority; rather, they represent the socio-economic class of the victims of politico-bureaucratic nexus. In a way, it attempts to narrativize the history as found in the popular imagination. This technique is a way of resistance that does not flinch from posing questions as to the genuineness of the putatively national culture and history. It seems quite pertinent here to quote Pramod K. Nayar as he observes:

Mistry is . . . depicting courage and simplicity pitted against institutional might. An almost Kafkaesque struggle against the system and its reductive features—exemplified in the mass family planning movement or the slum demolition—occurs in *A Fine Balance*. And ultimately there is failure. If the characters drive a fine balance between “hope and despair” (the terms are always mentioned together in Mistry) circumstances tilt it in favor of despair alone. In Lawrentian terms, Mistry's novel deals with an “essentially tragic age”⁴. (125)

In *Such A Long Journey* it is the Nagarwala case which is rendered according to the popular belief contrary to the official version. In his alternative narrative, Mistry has presented the Nagarwala incident from the Parsi viewpoint. And by casting Nagarwala in the character of Major Bilimoria in *SLJ*, Mistry accords the context for the marginalized community's status in the early 1970s. Despite the tall surrounding wall of the Khodadad building (the Parsi ghetto in Bombay), the outer world's political intrigues are shown to have penetrated the Parsi life in the Baag, and dragged it into the national space. In 1971, it was in the newspapers that Sohrab Nagarwala, the head cashier of the State Bank of India in Delhi, had given over sixty lakh rupees to a middle-man on the basis of a phone call allegedly from Mrs. Indira Gandhi. She denied any such thing and Nagarwala was arrested on charges of embezzlement. Later, what came to be popularly believed was that Nagarwala was found dead in prison under mysterious circumstances and one high-

ranking civil servant too, who was investigating the case, was murdered. Though it is only the Parsi concern which seems to have interested Mistry here, in *A Fine Balance*, his engagement with the Indian realities spreads wider. Now the focus is turned to a more heterogeneous group of marginalized people. The tailors, Ishvar and Om, are exposed to utter ontological insecurity when they get to know that their home in the slums “is not an address” and that it is therefore not visible in the ‘eyes of the law’ (*A Fine Balance* 177). Soon after their arrival in the city, they become homeless wanderers. First, their shack is pulled down under the city beautification program; then they lose even the pavement shelter when they are forcibly plunged into construction sites in a labor camp. The tales of such sufferers have been depicted as giving a big lie to all the tall claims of the Emergency programs.

Another significant element of Mistry's attempt at re-writing the national history is that it takes full note of the heterogeneity of responses that the government's measures elicit from people. While the Emergency is just “one more government tamasha” (*A Fine Balance* 5), for the ordinary citizens, others choose to take a practical view of it: “No consideration for people like us. Murders, suicide, Naxalite-terrorist killings, police custody death- everything ends up delaying the trains” (*A Fine Balance* 6). On the other hand, there are people like Dina's friend, Mrs. Gupta, who react sanguinely about it as it will make their work of garment export smoother. There will be no “more strikes and morchas and silly disturbances” (*A Fine Balance* 73). For still others, for instance Dina's brother, emergency was the right thing as it meant a project in which “poverty is tackled head-on. All the ugly bustees and filthy jhopadpattis are being erased to restore Bombay to its former glory” (*A Fine Balance* 371). Here what deserves special notice is the fact that Mistry's re-writing of history is done by voicing the dissonances from the masses, and not from the political elites. The masses are shown mounting resistance, though only occasionally, to being treated as “less than animals” (*A Fine Balance* 40) and “goods” (*A Fine Balance* 524). In a word, Mistry's narrativization of India is a cultural-political construct that evokes a sense of multitudinousness and suggests “a sense of humanity... at once endlessly replenishable and dispersed”⁵ (Chaudhari 19).

The way Mistry has sought to narrativize history is also reflective of his typical post-colonial attitude insofar as it incorporates one narrative within another in ever-widening ripples of narratives. This technique helps interrupt the linear and unitary mode of history-writing. Another advantage it brings in is its ability to represent the lives of ordinary people in a better similitude of reality in which people are endlessly interconnected and inter-related. All their strands are in a tangle. For instance, Dina Dalal is related with Maneck, whose friend Avinash has his own story. In turn, Avinash's sisters have their own tale of sufferings for want of enough money for dowry. Similarly, Ishvar's and Om's tale leads on to their forefathers' struggle against caste system. On the whole, all stories are tangled with other stories in a network without closure. This spread of network is not merely in terms of space; rather, it extends to the concept of time too. While all the four characters are shown in 1975 at the beginning of the novel, their

personal histories go as far back as 1947. Ishvar and Om are descendants of *Dukhimochi* who first took the resolve to break the timeless chains of caste. This led on to his sons—Narayan and Ishvar—living as apprentices with Ashraf (a tailor) in a small town. Then came the phase when Ishvar's brother Narayan dared the local *zamindar* on the matter of caste-based occupation and the right to vote. He was killed ruthlessly along with the rest of the family. Only Ishvar and Om could survive, hence they flee from there and land up in the city. Dina too had a train of harrowing experiences after her father's untimely death due to tuberculosis while serving patients in the remote corners of the land.

The novel ends with the Epilogue that tells how Maneck feels when he returns from Dubai. On his way home from the airport, the taxi driver tells him, “For ordinary people, nothing has changed. Government still keeps breaking poor people's homes and jhopadpattis. In villages, they say they will dig wells only if so many sterilizations are done. They tell farmers they will get fertilizers only after nussbandi is performed. Living each day is to face one emergency or another” (*AFine Balance* 581). This is in 1984 and it still sounds almost the same as what Narayan said some two decades earlier: “Government passes new laws, says no more untouchability, yet everything is the same. The upper-caste bastards still treat us worse than animals” (*AFine Balance* 142).

The perspective on the city 'by the sea' (Bombay) is also uniquely angled in Mistry's fiction as he not only depicts it as an empowering space but also exposes its under-belly full of squalor and dirt. The former aspect is expressed through Ishvar's and Om's arrival to the city as an escape from the oppressive environment of their own ancestral village. They seek to forge a new identity which “the ethos of the caste system” (*AFine Balance* 96) does not allow. So, the city is an escape from such restriction. However, despite all their efforts to shed the vestiges of the past, they do not get very far. The text constantly measures the city up against the political programmes' promises. The Bombay that Ishvar and Om come face to face is the one whose roads are lined by banners and huge cardboard cut-outs of the Prime Minister, Mrs. Gandhi, exhorting the masses to participate in the 'NussbandhiMela'. But alongside the “balloons, flowers, soap bubbles, colored lights” (*AFine Balance* 524), there also exist the urban slums, the sterilization clinics, the forced labor camps, the beggars, the squalid city. The depiction of these paradoxical situations is, in a way, a social history as it was unfolding in the decades following the promising era of independence.

In tandem with these issues of national history, Mistry's fictional world operates on the sprockets of his community experience too. In this respect, his decision to populate his fictional world with a preponderance of Parsis is a way of, sort of, inverting the pan-India reality where Parsis are but a tiny minority on the verge of extinction. In fact, a whole lot of Parsi writers are engaged in this crusade against fate. They document everything Parsi—religion, society, culture, the whole way of life. As such, these writers act almost like community historians. Though extra-ordinarily industrious and talented, the community is also, fast moving towards becoming an endangered community, so to say. It is widely feared that they might simply cease to be. This note is explicitly sounded

by Aditi Kapoor in her article "The Parsis: Fire on Ice" in *Times of India*: "Unless something is done to augment their fast depleting numbers and to revive their religion, the Parsis after an illustrious past could well just fade out in oblivion"⁶ (5).

In the latter half of the 20th century, Parsi writers began emerging as prominent Indian writers in English. Their writings asserted a distinctively Parsi experience. Writers like Bapsi Sidhwa, Farrukh Dhondy, Firdaus Kanga, Boman Desai, and Dina Mehta were almost exclusively focusing on their own community. Mistry called it "last grand stand" to describe the efforts of Parsi Indian writers devoted to the task of 'group self-preservation'. On this point, A.K. Singh observes, "Their works [Parsi writers] exhibit consciousness of their community in such a way that the community emerges as a protagonist from their works, though on the surface, these works deal with their human protagonists"⁷ (66). And in case of Mistry himself, it was all the more so as his migration to Canada had laid him exposed to yet another foreign culture while "he was in diaspora even in India"⁸ ("When Old Tracks are Lost; Bharucha" 23).

Mistry's first venture in fiction came in the form of *Tales From Firozsha Baag*⁹, a collection of short stories depicting the life of Parsi middle-class families in Bombay and their inter-connectivity with the members of their community in Canada. The collection is representative of Mistry's political stance insofar as it encompasses the fundamental issues like minority versus majority encounter in Bombay, the same in Canada, the impact of cultural politics on Parsis in India, the effects of local cultural milieu on the Parsi way of life: their language, their cuisine, their economic profile, their social standing, and their sense of insecurity. Similarly, the novel *Such a Long Journey* keeps the Parsi experience at the centre.

Set against the backdrop of Indo Pak war 1971, the novel records how the protagonist, Gustad Noble, an ordinary bank clerk, fails to dispel away the horrors of Indo-China War of 1962 which still loom large on his mind. It is through his struggle with the outside world that Mistry seeks to bring out the predicament of a minority society caught in the chaotic world of political whirlwind in India. Being part of an almost miniscule minority, Parsis are shown to be ever under threat of being subsumed by the dominant Hindu culture zealously flaunted by Shiv Sena.

Mistry's preoccupation with his own community can also be seen as a heroic attempt at self-representation. Uma Parameswaran observes that the strengths of Mistry's *Such a Long Journey* lie in the authentic delineation of Parsi customs and way of life, the nobility of the central figure Gustad Noble and the finely crafted language and prose style"¹⁰.

The novel is also an account of political misgivings that the Parsis as a community feel about the incumbent government and its allies like Shiv Sena. Dinshawji says to Gustad, "Wait till the Marathas take over, then we will have the real Gandoo Raj... All they know is to have rallies at Shivaji Park, shout slogans, make threats and change road names" (*Such a Long Journey* 75). Similarly, Dilnawaz is ever doubtful as to Feroze Gandhi's death by heart failure. Dinshawji also reminisces the halcyon days of the

Parsi community while they still dominated the banking systems. He remembers the days when Parsis were the kings of banking but now the whole atmosphere had been spoilt ever since Indira Gandhi nationalized the banks. Jaydipsinh Dodiya also observes on the issue highlighting how Mistry puts his artistic repertoire to political use in serving the cause of his community and in building up an anti-hegemonic discourse:

Mistry is sensitive to the various anxieties felt by his community. He has demonstrated this by responding to the existing threats to the Parsi family and community in particular, and to the country in general. He presents his community through the different narratives of the characters who invariably express their concerns for their community and the changes that affect them¹¹ (44-45).

Mistry's fiction thus unflinchingly comments on the political inefficiency, administrative malfeasance, mob-led violence in the name of religion. Bombay in all its facets is scrutinized from an 'alternative angle' or perspective. But Bombay seems to stand for the entire country. *SLJ* is also a critique of how both Nehru and Indira capitalized upon the patriotic sentiments of millions. They exhorted people in the name of country and "People threw blankets, and sweaters and scarves out of their windows into the open lorries that passed below... women removed gold bangles and earrings and finger rings from their persons and gave them away" (10). But, the same articles were soon found on sale in the *chor* bazaar. So what became of those rhetorically articulated pledges and promises? The text suggests that the government cheated the people. The Indo-China war is made to serve as a reminder of a national disgrace:

Such a humiliating defeat, everywhere people talking of nothing but the way Chinese had advanced, as though the Indian army consisted of tiny soldiers or the Government's incompetency for sending brave Indian soldiers with outdated weapons and summer clothing to die in the Himalayas at Chinese hands. (*Such a Long Journey* 9-10)

Similarly, Lal Bahadur Shastri, the short heighted leader who succeeded Nehru as Prime Minister, is cast in a positive light, even at the expense of both Nehru's and Indira's image as leaders. Besides, his death is imputed, though obliquely, to Mrs. Indira Gandhi, who succeeded him as the Prime Minister of the nation. Indira's unscrupulous use of RAW, and her dubious role in the Nagarwala case are also highlighted. And through Major Billmoria's tirades against the congress misrule, a dismal picture is painted. In fact, the congress government is openly accused of breeding corruption, of ruining the very foundation of the nation.

Major Billmoria comments, "Only two choices: community or military dictatorship, if you want to get rid of these Congress Party crooks. Forget democracy for a few years, not meant for a starving country" (68). Similarly, though in a more philosophical vein, Dr. Paymaster looks upon India through a metaphor:

Our beloved country is a patient with gangrene at an advanced stage. Dressing the wound or sprinkling rose water over it to hide the stink of rotting tissue is useless. Fine words and promises will not cure the patient. The decaying part must be excised.

You see, the municipal corruption is merely the bad smell, which will disappear as soon as the gangrenous government at the center is removed. (313)

Thus, *Such a Long Journey*, a post-colonial novel, may be read as 'resistance' to the cultural hegemony and ethno-nationalism. And Mistry's deeply-felt sense of belonging to the 'other' group is forcefully foregrounded. Another instance of its counter-hegemonic texture and tone is Mistry's narrativization of the popular image of the Parsis in juxtaposition to the official attempts at framing all Parsis as traitors or unreliable people. The Parsi perspective on the Nagarwala case as imaginatively rendered in the novel is:

The Nagarwala incident, because it involved a Parsi, jolted the self-image of the community no less. Having long ago lost their literature to the vandalism of Alexander, the accursed, and their dance, music, art, poetry and even their language to the process of adapting to a new home in India the Parsis have developed a particularized culture called from a mixture of ancient myth and legend overlaid by a life sustaining sense of recent achievement. Gratified to have earned an honorable place in the country of their adoption through their contribution to every field of endeavor and proud of having retained a strong ethical tradition, the Parsis were deeply anguished by the ambivalent role Nagarwala had played in the sordid story.¹² (Daruwala 29)

Parallel to Gustad's personal predicament, there runs a concern with the community. Emphasizing the element of cultural distinctiveness in the novel, A.K. Singh has also opined:

It seems that the novelist constructs his/story of his community in the novel, which centralizes the Parsi community as a protagonist through its characters. And the country assumes centrality in the narratives of the various characters because the security and prosperity of the community depend on the country's fate. (201)

Thus, the fictional world woven by Mistry not only tries to realistically portray the history-in-making but also offers the vantage points whence the myriad aspects of it may be discerned in ways that challenge the grand narratives. This way, it also foregrounds the made-upness of all such narratives as are passed off as 'the history'. This is what Mistry is perhaps best at.

Department of English
Central University of Rajasthan
NH-8, Bandar Sindari Kishan Garh, Ajmer-305817

References -

1. Rushdie, Salman. *Imaginary Homelands*. London: Penguin, 1992. Print.
2. Mistry, Rohinton. *A Fine Balance*. New York: Vintage Books, 1997. Print.
3. ---. *Such a Long Journey*. New York: Faber and Faber, 2009. Print.
4. Nayar, Pramod K. "The Text of Cruelty: Power and Violence in *A Fine Balance*." *The Fiction of Rohinton Mistry: Critical Studies*. Ed. Jaydipsinh Dodiya. London: Sangam, 1998. 119-27. Print.
5. Chaudhary, Amit. "Parsi Magic." Rev. of *Such a Long Journey*, by Rohinton Mistry. *London Review of Books* 13.7 (1991): 19. Print.

6. Kapoor, Aditi. "The Parsis; Fire on Ice." *Times of India* 14 May 1989, New Delhi ed.: 05. Print.
7. Singh, Avadesh Kumar. "Community." *Parsi Novels in English: The Parsis Madyan to Sanjan*. Ed. Novy Kapadia and A.G. Khan. New Delhi: Creative Books, 1997. Print.
8. Bharucha, E. Nilufer. "When Old Tracks are Lost: Rohinton Mistry's Fiction as Diasporic Discourse." *The Fiction of Rohinton Mistry: Critical Studies*. Ed. Jaydipsinh Dohiya. New Delhi: Prestige Books, 1998. 23-31. Print.
9. Mistry, Rohinton. *Tales from Firozsha Baag*. London: Faber and Faber. 1987. Print.
10. Parmeswaran, Uma. "Landmark." Rev. of *Tales From Firozsha Baag*, by Rohinton Mistry, *Floating the Borders: New Contexts in Canadian Criticism*, Ed. Nurjehan Aziz. Toronto: TSAR, 1999. 184. Print.
11. Dodiya, Jaydipsinh. "The Parsi Community in Such a Long Journey." *The Fiction of Rohinton Mistry: Critical Studies*. Ed. Jaydipsinh Dodiya. London: Sangam, 1998. 93-6. Print.
12. Daruwala, Maju. *The Parsi Predicament*. Book Review March-April (1992): Web. 9 November 2013.

The Unnoticed Rock Art of Simdega, Jharkhand : An Introductory Archaeological Study

Seema Mamta Minz, Mshkooor Ahmad Quadri, Baleshwar Besra

Simdega is one of the districts of Jharkhand imbued with natural beauty in the vicinity of long, jungle clad plateau range. The geographical location of Simdega is cross cultural where the people of two tribal states viz. Odisha and Chhattisgarh confluence together. Simdega as a district came into administrative map in the year 2001. With ten administrative Blocks, Simdega has comparatively less population density but has more forest area. The larger forest area is well utilized by the tribes who practise mixed economy which is based on agriculture and forest.

Like geographical location the geological condition of the Simdega is unique and old. The average elevation of the plain area is 213m to 244 m is composed of softer granitized schists, whereas the harder rock bands crossing these soft rocks form hill ranges which usually run from west-south and west-north direction (Kumar1990: 40). Located at the border of the two states, the hill ranges running across Simdega, enter into Chhattisgarh and Odisha. Within Jharkhand, the hill ranges of Simdega form a part of the Pat region of north-west portion of the State. It is worthy to mention that, like the hill ranges of Gumla and Latehar districts, the hill ranges of Simdega look like a continuous thorough line but a closer look reveals separate hills rising in between valleys (Macpherson & Hallett 1917: 3). Thus, the connectivity of hill ranges of Simdega can throw light to understand the link and route of different rock art sites. The activities of early human is clearly visible through the presence of stone tools in different parts of Jharkhand. The studies of some of the scholars concluded that, East Singhbhum and West Singhbhum Districts were the centre of hunter and gatherers which has extended to other regions over the period of time (Ghosh 2007: 10). Therefore, the inter connection of hill ranges from one area to another area may provide a means to get a better understanding of early settlements and their expansions whereas the exclusive study of rock art gives more clear vision to understand this phenomenon.

Time to time, rock paintings are reported from different parts of Jharkhand. In Hazaribagh district, rocks painting are reported in Isco, Thethangi, Raham, Satpahar, Nautangwa Sidpa, and Khandar (Imam 2014: 31-32; Dey 2005-06: 281-284; Dey,

Sankhyan & Badam 2009: 52-57). Among these rock art sites Isco got considerable attention from the scholars, like Chakraverty have exclusively studied the ethno archaeological prospective of Isco (Chakraverty 1996: 74-99). In Ramgarh (Jha & Mohanta 2014: 92-96), Giridih and Kodarma (Prasad 2003-04: 68-90) district, rock art sites were reported too. The recent discovery of rock art in Simdega district is very important, since a correlation between Odisha and Chhattisgarh rock art may be establish. The style, motif of the rock arts of three states can help to understand chronology, and prehistoric route of the early man. The rock art of Simdega region may further proof to be a connecting link between rock art of Madhya Pradesh, Chhattisgarh and Odisha. Giving an example of Odisha rock art Ghosh has indicated towards the possibility of a link between the rock arts of three adjacent region i.e. Central Indian Chhattisgarh region, the Eastern India Chotanagpur region and Odisha itself (Ghosh 2008: 4).

Coming to the location of the two rock art sites which are situated far from each other therefore both are discussed separately. First of all the rock art site of Fulwari Tangar is about 15 Km from Simdega town on the National Highway No. 2. In Biru Block. The Site is popularly known as Fulwari Tangar among the locals, it is named after the village situated at the foothill of the rock art spot. The village is inhabited by three communities viz. Khariya, Bhuiya and Bhogta of fifty families. The rock art is painted on one of the hills of the hill range. This hill range suitably comes in the category of plateau because the top is table land. The surroundings of the rock art site show interesting features. For example, the site is a cluster of plateaus with varying heights. There are low lands in between high elevated plateaus, which are used for agriculture purpose by the villagers during rainy season. The plateaus are covered with forest except the top. However, forest is not dense but it is a habitat of small animals like wild cats, snakes, warthog,

lizards, porcupines etc. The slopes of plateau are gentle but irregular and ragged and in few places slopes are abruptly ended with steep ridges and deep rifts. A narrow stream is noticeable at the foothill which ends underground. According to villagers it does not dry in hot summer season. The plateau where the rock art is figured out has ground water source. During our visit to the site we have noticed a wide strip of muddy surface with grass and lichen growing in front of the painted wall.

A closer look at the rock art site unveils evidence that a site should bear a water source at close proximity, sun facing wall (in this site, wall is facing towards east), does not have cliff but a natural cave is there through narrow passage. Other than that one can find micro tools by careful searching on the ground at the foothill.

The fulwari Tangar site neither have crowded paints nor have overlapping. There are four visible paintings of geometric symbols whereas some of them are too faded to recognize. In this context it is seen that such geometric symbols represent human and animal figures (Pandey 1993: 228). There are two interesting figures in this site that depicts a rectangular outlined female figure showing power of fertility in Alpana (sacred symbol) motif. Another figure is of male warrior whose two hands are visible. Next to it is a dart shape geometric motif painted in red colour single line. The female figures

represents a good example of totemic graphic. These female paintings show schematic and decorative style. Such style was profusely used during Chalcolithic age and continued till early historic period. On style basis the figures of this site may come under Later Chalcolithic age to early historic age.

The Chhuriya is another rock art site, the name given after the village where the site is located. It is a small village of about 739 population, of Thethaitangar administrative Block of Simdega District. Unlike other rock art site, the villagers have no perceptions about the rock paintings. They say it is a very old painting of their ancestor's time. The rocky plateau has high elevation and steep slopes, covered with forest. The painted wall is facing towards the west. The rock art site is much exposed to weather resulted into demolished painted wall and irregular edges. The presence of beehives, group of monkeys and narrow passage make the site more risky. The ground is towering over the chain of plateaus. The foothill of the site is raised but has a plain ground where the villagers live and cultivate rice during rainy season while they cultivate seasonal vegetables for the rest of the years. The interesting point about the site is - that no water sources have been seen near the painted wall but at the foothill a natural well like water body is shown by villagers. In Jharkhand such a type of water body is called a "Chuwa" that supplies enough water around the year. A part from domestic purpose the villagers do irrigation through 'Chuwa' in dry season. An unfinished micro tool was found at the foothill.

Other than all the natural obstacles which one will face at this rock art site, a good number of figures of human, animals and geometric symbols are painted in yellow, red and maroon colours. For description purposes we have divided the painted wall into 4 panels. The panel no. 1 is spoiled to an extent that only some of the figure is visible, however the faded lines indicate that, this portion has good number of paintings. There is overlapping and superimposition of figures that make it too confusing to understand. The painting of a boating scene is the centre of attraction of this panel which is drawn in yellow line. The Boat painting is associated with three stick shape human figures who are rowing the big boat with the help of oar blade. In this connection it is worthy to mention that a big river named Chhuriya flows about half a Km away from this site. The painting comes in the category of line drawing. On the basis of style the period of this figure may roughly go to the late Chalcolithic period (Wakankar 1973:302). Some of the figures are made in dark red colour. Some figures of cattle are also seen in this panel in red colour. A deer figure is depicted just above the boat figure in red outline. In this group of figures yellow colour is superimposed on red colour. On the basis of style the figures in blood red and dark red may be connected with the Mesolithic period.

The Panel no. 2 has three groups of picture. In group one there is a figure of a deer, may be of mule deer, painted in red straight lines. On the basis of style which seems naturalistic style but more anatomical, can be dated to the Mesolithic period (Wakankar 1973: 301). Just next to this figure there is a rectangular shape human figure painted in red colour. It is decorated with red wavy lines. It is a female figure. Mainly the stick shape human and square shape human evolved concurrently in which the latter represents a

female figure (Pandey 1993:151). This may also date to the Mesolithic period. The third figure is unclear and makes a group of a small and a large human figures. Probably, a figure of a mother is depicted along with a child. This group is contemporary to previous figures.

Another group of panel no 2 has group of human and animal figures. The human figures are painted in stick shape by thin, straight lines. Weapons, stick and stone tools are also shown in human paintings. Like human figures, animal figures are also painted by thin, straight and single lines. The style of the painting is naturalistic. The panel has encrustation on some of the paintings since it is exposed to harsh weather. Encrustation on paintings create confusion during interpretation and study. On the basis of patination and style one may count these paintings in Mesolithic period. Superimposition is absent. Thus, one can presume that, the panel has engaged for single period only. The group of human and animal figures are showing hunting scene.

In third group of panel no. 2 the figures are painted in red and yellow colours. The red colour paintings belong to early period and the yellow colour paintings are superimposed on red paintings. Among the red colour paintings most of the figures are in stick shape human figures. Weapons and tools are not clear. Below deer paint, a

human figure is depicted in mask style. A bunch of pendant is hanging down at his waist, rest of the body is depicted in stick shape. All the human figures in this group belong to Mesolithic age. The panel has patination which make them difficult to identify. In this group a big deer is painted in yellow thin, straight and single line. A part from deer figure, four stick shape human figures are depicted in yellow colour above the deer head. A group of human figure in yellow colour thin, single line can be seen below deer figure. This denotes to a hunting scene. This group of figures in yellow colour belong to later the Mesolithic age.

The panel no. 3 has figures in red and yellow colours. From left to right, figure no. 1 is a tiger. It is depicted in red and yellow double lines. It illustrates a running tiger. It represents a schematic and decorative style, which indicates to the Chalcolithic period. Figure no. 2 An Alpana is painted just next to it which perhaps done for decoration purpose. This figure also follow same style as pervious figure. Thus, connected to Chalcolithic period. Figure no. 3 is a faded figure of a human carrying a long stick. A stone tool is visible at the top of the shaft stick. This may be a spear. This figure may come under Neolithic period. In the same series i.e. figure no. 4 is a female figure which is painted in red colour. It probably belongs to Neolithic period. Figure no. 6 represents in single line. It is a human figure. This too may date in Neolithic Age. Figure no. 5 is presented by masked style which indicates towards the Mesolithic age (Pandey, 1993:). Panel no. 2 has less numbers of superimposition and patination. However, this panel has three groups. Like figure 6 may belong to the Mesolithic Period. Second group depicted in straight red line of human figures that shows degradation of artistic skill and may belong to Neolithic or Pre Chalcolithic age. Lastly, on the basis of colour composition and style the figure of a tiger and an Alpana may belong to the Chalcolithic age.

In the panel no. 3 there is group of humans, painted in yellow and red colour, who are shown in different activities. Due to weathering most of the paintings are faded. Copulation and child birth scene can be trace out in this panel.

In the last panel i.e. panel no. 4, there is two group of paintings in red and yellow colours. The yellow colour is superimposed on red colour. In yellow colour painting stick shape human figures are depicted with two cattle figures. The cattle figures may be bulls. This is a hunting scene. Stylized style was applied to paint these figures. On the basis of style and superimposition this figure may count under late Chalcolithic age. The second group of painting has human and animal figures. The human and animal are depicted in red single straight line. The body is stick shape. One copulation scene is also shown.

Thus, we see this rock art gives valuable information about the prehistoric art of this area. It covers a long time period from the Mesolithic period to early historic age. Some motifs of the rock art sites are very unique like the boating scene. Similarly some of the figures are reported first time from Jharkhand area like copulation, child birth etc. A detail study is required for more information.

*Department of Tribal Studies,
Central University of Jharkhand, Brambe, Ranchi, Jharkhand 835205*

*Department of Ancient Indian History, Culture and Archaeology,
Dr. H. S. Gour Vishwavidyalaya, Sagar, Madhya Pradesh, 470003*

*Archaeology and Museology under University Department of History
Ranchi University, Ranchi, Morabadi, Jharkhand 834008*

Reference -

- Chakravarty, S. 1996. *ISCO- Rock Art Site in Hazaribagh District: An Ethno Archaeological Profile*, in *Recent Perspectives on Prehistoric Art in India and Allied Subjects*, R.K. Sharma and K.K. Tripathi, eds. New Delhi, Aryan Books International, Pp. 74-99
- Dey, M. R. 2005-06. *Animal Representation in the Rock Art of Chotanagpur Plateau*, *Purattatva* 36: 268-271, Indian Archaeological Society, Delhi.
- Dey, Mukta Raut, A. R. Sankhyan and G. L. Badam 2009, *The Rock Art of North Chhotanagpur Plateau: A Field Study*. *Purakala* 19: 52-57
- Ghosh, A. 2007. *Prehistory of Chotanagpur Region Part 2: Proposed Stages, Palaeolithic and Mesolithic*. *The Internet Journal of Biological Anthropology* 2-1: 1-14.
- Ghosh, A. 2008, *A Prehistory of the Chotanagpur Region Part 4: Ethnoarchaeology, Rock Art, Iron and the Asur*, the internet journal of Biological Anthropology 3-1: 1-11
- Imam, Bullu 2014. *Antiquarian Remains of Jharkhand*, INTACH, Aryans Books International, Delhi.
- Kumar, Goswami Asim 1990. *Landform Characteristics of the Sankha Basin Bihar and Orissa: Regional Geomorphological Approach*, Unpublished PhD thesis submitted to the University of Calcutta, Calcutta.
- Macpherson, T. S. and Hallett M.G. 1917. *Bihar Orissa District Gazetteers*, Ranchi, Patna
- Pandey, Shyam Kumar 1993. *Indian Rock Art*, Aryan Books International, Delhi.
- Prasad, A.K. 2003-04. *Important Discoveries of Prehistoric Rock Paintings, Ancient Inscriptions and Stone Age Tools in Southern Bihar and Adjoining Jharkhand*, *Purattatva* 34: 68-90, Indian Archaeological Society, Delhi.

Prasad, A. K. 2006. *Rock Art in Chhotanagpur Hill: Regional Features*, Purakala 16:60-65.

Jha, Ganga Nath and Mohanta Basant Kumar 2014, *Recent Discovery of A Rock Art Site From Ramgarh Region, Jharkhand: A Preliminary Study*, Kosala 7: 92-96, Raipur.

Wakankar, V. S. 1973. *Painted Rock-Shelters of India*, Unpublished PhD Thesis, Deccan College, Poona



Figure 1 Male Hands and Female Fertility Symbol from Fulwari Tangar.



Figure 2 Paintings of Tiger, Alpina, human with weapon, from Chhuriya, see the Panel no. 3 in text.

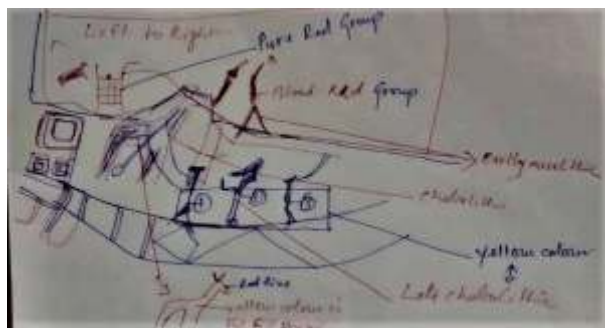


Figure 3 drawing of panel no. 1 in which boating scene and animal and human groups are depicted in yellow and red colour.

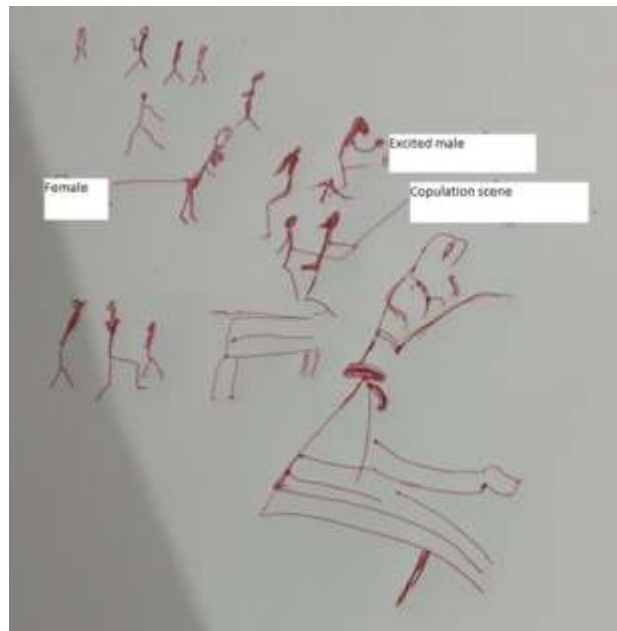


Figure 4 drawing of panel 4 this is a red colour group

Foundations of Aesthetics : Abhinavagupta and Hegel Reconsidered

Shraddha Singh

Hegel's *Aesthetics: Lectures on Fine Arts* which was posthumously gathered and organised is indeed considered to be one of the richest books on aesthetics in Western tradition. He considers 'art' as one of the ultimate forms through which mind or spirit manifests itself. Apprehension or realisation of the Absolute, according to Hegel, happens under three forms/modes of human mind and these are i) art (of which we have already had mentioned) ii) religion and iii) philosophy. These are the three stages of the freedom of human mind from the limitations of the corporeal world. Though in this hierarchy art comes at the last while philosophy occupies the first position. But this does not intend to demean the status of art or religion. It is just that the finitude in art and religion is slightly more than the philosophy. Because in art the Absolute is realised through sheer sensuous medium whereas in religion the realisation is through feelings. But so far as philosophy is concerned it raises above the level of senses and feelings and culminates into thought and it is here that the Absolute is realised in full freedom. Therefore, if philosophy is the final step then art is one step towards it.

For Hegel, the word aesthetics mean “the science of sensation, of feeling” (Hegel 1). Since the aim of art is essentially at beauty so beauty becomes one way of expressing the truth. In the words of Hegel beauty is “the sensuous appearance or show” (Hegel 380) of the Idea. The Idea can be considered as beautiful insofar as the truth becomes comprehensible in its outward form to our consciousness. As Hegel holds, “The Idea existent in sensible form is the Ideal, i.e. beauty, which itself is truth” (Hegel IX). In the translator's Preface of *Lectures on Fine Arts* the ideal is described as the synthesis of concept and reality, and in the context of art of meaning and shape. This composite gives birth to the Idea. Beauty results out of complete unity. There should be complete correspondence between concept and reality which is not found anywhere in nature or in the human beings so far as their sensuous appearance is concerned. It happens because things which are external constitutes do not correspond completely with the concept or thought which are the internal constituents. A complete correspondence and therefore the unity is achieved when the mind has risen to self-consciousness in the form of spirit and

in this spirit the contradiction between the universal and the particular, the subject and the object, the ideal and the real is dissolved or rather reconciled giving birth to a perceptible unity. It is this reason that Hegel praises the Romantic art the most. The beauty of art presents itself to sense, feeling, imagination and intuition and “In works of art the nations have deposited their richest inner intuitions and ideas, and art is often the key, and in many nations the sole key to understanding their philosophy and religion” (7). In this respect also art becomes the initial and the first step.

Hegel has divided the art forms on the basis of perfection of the relationship and correspondence between form and content. In an ideal work of art there has to have the unity between the expression of the internal content with its outward form. On the basis of this unity he divides the art forms into three: i) Symbolic ii) Classical and iii) Romantic.

Beauty according to Hegel is the sensuous appearance i.e. of the Idea of the Absolute and the individual arts such as sculpture, architecture, painting, music, and poetry are significant in this context. Since these all perform through sensuous manifestation, to have conformity between the ideal content and sensuous configuration. Therefore, what lends value to art and thereby beauty, is understanding the process through which the Idea renders itself self-conscious. That realisation of an idea which is to be termed beautiful becomes important and crucial because human beings are not able of grasping completely the truth implicit. This balance between the ideal content and sensuous configuration is least in the symbolic art where the object outwardly manifests the content but only symbolically. Being symbolic, it remains abstract and therefore creates difficulty in determining a sensuous form for it. In Classical art, correspondence of the sensuous material reaches “the highest level” according to Hegel. Here the idea is in complete accord with the sensuous presentation. As an example to it Hegel takes the Greek sculpture that is related to the human form. Here, the idea, at the level of content, is transformed and thus communicated through concrete human form. “Only the human form can reveal Spirit in sensuous fashion...” (381). The subject of Greek sculpture is Greek gods by this they succeeded in establishing balance among the religious, the ethical and the natural. That is why, “the Greek gods, ... are the perfect expression of a religion of art itself” (381). Finally it is in the Romantic art that “the ideal content is so evolved that it contains more than any sensuous imaginative material can expressly embody” (381). Hegel maintains that Romantic art is the art of subjectivity, the content, here, is the Absolute that is self-conscious about its infinite spirituality. He takes example from Christianity where Jesus appears in human character but is aware of having the Divine in him. It is through his life and suffering, birth and death and resurrection that a man's finite consciousness is presented with a knowledge of what the spirit, the external and infinite is in its truth.

The Romantic art takes three forms: painting, music and poetry. Language being the medium of poetry has been considered to be the most spiritual of all. It is, “the universal art which includes within itself the totality of art” (381). In his treatment of poetry Hegel further divides it into three types: i) Epic ii) Lyric and iii) Dramatic. Since

the theory of rasa and the opinions of Abhinavagupta are concerned primarily with dramatic presentation and with poetry as well, the comparison between Abhinavagupta and Hegel will be considered in the context of these (drama, poetry) only.

The necessity and urgency of scientific inquiry of art and beauty, the subject matter of aesthetics was felt alike by Abhinavagupta and Hegel both. Before Abhinavagupta we have several commentaries interpreting Bharatmuni's aphorism, “*vibhāvānubhāva-vyabhicārī-sa? yogād rasa-ni?patti?*” (Bharatmuni 228). Which means that rasa is produced by the combination of *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicārī bhāva*. Before Abhinavagupta we have Bhaṭṭa Lollaṭa, Śa? kuka and Bhaṭṭa Nāyaka, etc. The principle of Bhaṭṭa Lollaṭa was known as *utpattivāda* which maintained that rasa is the 'creation' (*utpatti*) of the *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicārī bhāva* and is created not in the subject (*sāmājika*) but in the actor. If expression of rasa is traced in the actor then there is no point of involving the *sāmājika* therefore Abhinavagupta rejects this explanation. Then we have Śa? kuka's *anumitivāda* according to which the actor only imitates the character and the audience on the basis of their inference consider the spectacle to be real and that ultimately leads to rasa. Abhinavagupta rejects it because in its argument is hidden its own contradiction which says that while inferring the spectator is aware of the fact that whatever is happening in front of his eyes is not real. If it is so then there would be no identification between the spectator and the spectacle and this distancing would definitely not lead him to the realization of rasa. From Bhaṭṭa Nāyaka, Abhinavagupta takes the concept of generalization which is worth the while. Thus we see that after a rigorous and extensive study Abhinavagupta rejects reasonably whatever was not appropriate and incorporated what qualified for his view of the things. The same kind of precision is to be observed in Hegel's *Aesthetics: Lectures on Fine Arts* when he proceeds to judge the value of art in comparison with other forms, when he tries proving the superiority of art over Nature and when he talks about the formal character of art as appearance and its aspects corresponding to the content and the form. And so far as art being expression is concerned both Abhinavagupta and Hegel share more or less the same platform. Different from the previous commentaries Abhinavagupta becomes the propounder of *abiviyaktivāda*. It was he only who interpreted Bharatmuni's aphoristic statement in the true sense of the words. According to his *abiviyaktivāda* rasa is neither 'creation' nor 'imitation' but it is an 'expression' of *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicārī bhāva*. It is an expression because *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicārī bhāva* direct themselves in such a way as to stimulate or arouse the *sthāyī bhāva* (permanent mental state) which human beings are already endowed with but being mental state they lay dormant in abstract form within us. But in the presence of stimulants (especially the *vibhāvas* which are the cause) *sthāyī bhāvas* are not only aroused but also transformed into rasa. Therefore in their manifest form they are called 'rasa' which can be relished and tasted. That is why the aesthetic representation of every *sthāyī bhāva* is known as rasa, for example, *rati* in its aesthetic form becomes *Śā?gāra*. Thus we have a perfect correspondence between the outward and the inward. Why do we need this outer appearance becomes clear with the following quotation of Hegel, “Similarly the spirit

and the soul shine through the human eye, through a man's face, flesh, skin, through his whole figure, and here the meaning is always something wider than what shows itself in the immediate appearance" (20). Thus Hegelian notion that art should be comprehensible sensuously complements Abhinavagupta's notion.

It was Abhinavagupta who for the first time put focus on the *sāmājika* (the spectator). The expression of *rasa* is traced in the spectator and not in the spectacle or in the actor. The same importance has been given to the human beings by Hegel as well. For him, the value of art depends on the successful representation of the Absolute through the work of art to the human beings in general. It is not art for art's sake or the autonomous status of art that Hegel approves of. Art should aim at creating the feeling of pleasure in the spectators or the audience. In his own words, "...the function of fine art is to arouse feeling, more precisely the feeling which suits us – that is, pleasant feeling" (402). Therefore it is only in relation to the human beings that art exists and not otherwise. Like Abhinavagupta, art becomes medium through which the Absolute expresses itself in sensuous garb so to that extent art remains as an expression in Abhinavagupta and Hegel both.

It is remarkable to notice the striking similarity of the ideas of Abhinavagupta and Hegel. It will be even more remarkable to place their ideas together and them (especially Hegel's) so as to complement each other. According to Hegel, the conception of a work of art is based on three determinations, the first of which is, "A work of art is no product of Nature. It is brought into being through the agency of man" (395). This first determination establishes the fact that a work of art is the product of human activity. In this sense also it is different from the work of Nature as it is the result of the conscious effort of the human being. But this does not mean that any or everybody is qualified to involve in this activity. Only a man of genius and distinction can create an ideal, actual piece of a work of art. In the words of Hegel, "A work of art came to be looked upon, and so far rightly, as no longer the product of an activity *shared by all men*, but rather as a creation of mind gifted in an extraordinary degree" (397). In *Abhinavabhārati*, Abhinavagupta says that, "*adhikārī cātra vimalapratibhānśālīh?daya?*" (Abhinavagupta 470). It means that a person who has a clean and pure heart, who is endowed already with a genius, one who is *sah?daya* deserves to know the knowledge in form of meaning emanating from *kāvya* (poetry). Though Abhinavagupta has not spoken much about the genius/*pratibhā* but it is worth noticing that this condition has been a necessary demand on the part of the spectator or reader whereas in Hegel it is related to the artist. If a reader or spectator is expected to have this genius instilled in him then in the context of one who creates, becomes obligatory by itself. If we combine Abhinavagupta's and Hegel's ideas together they would become complementary to each other making the circle complete. One thing on which they both agree is the notion that this talent or genius is not to be chiefted or inculcated as the prefix 'sa' with 'h?daya' makes it clear, this faculty is inborn, "...it is mainly the aspect of natural gift inseparable from the ordinary conception of talent and genius... with neither of these can a man endow himself *simply* by the exercise of his self-conscious activity" (397). At another place he says, "...a talent

for art which is inborn and of a higher order altogether is indispensable” (411). One reason why Abhinavagupta made *sah?daya* an imperative in the context of the *sāmājika* might have been his view regarding the persistency of a work of art. A writer/poet/dramatist/artist ceases to be but the work of art continues period after period. This shows and proves the farsightedness of Indian tradition. Thus the above quotation of Abhinavagupta corresponds exactly with Hegel's when he says, “The work of art is... a human product fashioned by human hands according to human design” (399).

The second determination of art is, “It is created essentially *for* man; and, what is more, it is to a greater or less degree delivered from a sensuous medium, and addressed to his *senses*” (395). This second point brings in context the reception of a work of art which should be through sense apprehension. Ant form of a work of art has to have its appeal through one or more than one senses. If we talk about poetry or drama their initial reception is through more than one sense like, sight and hearing. It is only on the basis of sensuous reception that we decide whether the piece is pleasurable or not. The function of a work of art is to excite some kind of emotion or the other but it becomes a work of art in so far as it is beautiful. But what will be the basis to decide whether it is beautiful or not? The faculty to decide this has been called 'taste' by Hegel. He says, “As a consequence the demand was made for *culture* as a condition precedent to such a sense, and the sense of beauty as thus cultivated was called *taste*” (403). Since beauty is enjoyed on aesthetic plane it cannot have its determining ground anywhere else except in that 'taste.' This faculty of taste has been called *āsvādana* and *cavar?ā* by Abhinavagupta. Viśvanātha has also admitted to this faculty as the proof of the beautiful, “*pramā?am cavar?aivātra swābhinne vidu?ām matam*” (Viśvanātha 108), which means that mastication/tasting has been considered as the only proof of the beautiful by the scholars. This taste only leads us to the judgment of the beautiful. The intension of the sensuous element in a work of art is also of ideal nature which necessitates the demand for the object to be present in front of us. This makes the object appear externally. “This semblance of the sensuous presents itself to the mind externally as the form, visible appearance, and harmonious vibration of thing” (409). This remark of Hegel leads us to a very significant aspect of aesthetic experience of Abhinavagupta i.e. *sāk?ātkārāymāna* as it is related to the directness of the aesthetic experience. The expression of the beautiful cannot be contemplated nor can it be inferred in the absence of the object. If one contemplates or tries to infer then it is the mind which will be at work and it will become a mental task which will be deliberate and therefore not be called an aesthetic experience. Moreover that will tend to be artificial. “For this reason the sensuous aspect of art is only related to the *theoretical* senses of *sight* and *hearing*” (409) and where these two senses are involved it has to be direct in nature. In the words of Abhinavagupta, “*Nā?ya? nāma na?agatābhinaya prabhāvas ākshātkārāyamā?aikadhanamānasaniścalādhyavasey?samastanā?kānyatamakāvyaviśe?acca dyotanīyarth?* (427).”

Now we come to the third and the final determination which is, “It contains an end bound up with it” (395). This determination is kind of extension of the second one.

According to Hegel art does not have any particular end to serve. It involves interest, no doubt, but that interest is limited to the creation of the feeling of the pleasure and satisfaction resulting from the expression of a particular emotion. "Its object is therefore declared to be that of arousing and giving life to slumbering emotions, inclinations, passions of every description, of filling the heart up to the brim; ... to make the hearts of men realize through and through all that is atrocious and dreadful, no less than every kind of pleasure and blessedness; and last of all to start the imagination like a rover among the day-dream playing-fields of the fancy, there to revel in the seductive mirage of visions and emotions which captivate the senses" (417). Further, art, for Hegel, is also a medium by which "... the experience of our external life may be repaired of its deficiencies..." (417) and the emotions which are excited are shared by all men and there is an urge "to make ourselves open channels of a universal experience" (417). Here we introduce the concept of 'generalisation' which Abhinavagupta adopted from Bhaṭṭa Nāyaka to give answer as to how art experience removes the deficiencies and how we become open to universal experience. This concept has been called *sādhāraṇīkaraṇa* (generalisation). This means that the spectator enjoys being into art experience by observing the *vibhāva*, *anubhāva* and *vyabhicārī bhāva* irrespective of time, domain and character. For example, when we watch the character of Duṣyant being played on the stage, we all become one with the character, we feel his excitement, his vigour, his anger, frustration, sadness, etc. alike. We forget to admit any difference at least for that particular time between the spectacle and us. And since every *sahādaya* is endowed with the *śtāyī bhāvas* like *rati* and *śoka*, they feel the same. There does not exist the feeling that this belongs to me, that belongs to someone else, this is related to me, that is related to the character, etc. We cease to be 'I' and thus are devoid of any deficiency that may prove to be a hindrance in our having the art experience. We cease to be particular and become general. This is the effect of generalization. In the words of Hegel this, "... characteristic peculiar to art implies this possibility of eliminating this rawness of desire, and of fettering and instructing the impulses and passions" (419). Thus releasing from the confinement of 'I' he becomes aware of the things external to himself and places himself in an ideal relation. Thus through the process of generalization the spectator becomes able to purify from all coarse and limited practical desires and passions.

To conclude I would quote Hegel, "Art, therefore, requires a content which is capable of expressing this purifying power,... the purifying content will consist in asserting that effective power before consciousness in its *universality* and *essentiality*" (421). Thus we see that the notions propounded by Abhinavagupta becomes so well complementary with those of the eighteenth century philosopher Hegel that it almost seems necessary to place them side by side and contemplate over them. So far as their ideas related to the content of art is concerned Hegel seems to share the platform the foundation of which had been laid by Abhinavagupta centuries before.

References -

- Abhinavagupta. Abhinavabharti. Ed. and Trans. Dr. Nagendra, Acharya Vishweshwar. Delhi: Delhi University, 1960. Print.*
- Bharatmuni. Nātyashashtra Vol.I. Trans. Babulal Shukla Shashtri. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Sansthan, 2014. Print.*
- Hegel, G. W. F. Aesthetics: Lectures on Fine Art Vol I. Trans T. M. Knox. London: Oxford University Press, 1975. Print.*
- Hegel, G.W.F. "Philosophy of Fine Art". Philosophies of Art and Beauty: Selected Readings in Aesthetics from Plato to Heidegger. Edi. Hofstadter, Albert and Richerd Kuhns. United States of America: University of Chicago Press, 1976. Print.*
- Viśvanātha. Sāhityadarpana. Ed. and Trans. Acharya Sheshraja Sharma Regmi. Varanasi: Chowkhamba Krishnadas Academy, 2015. Print.*

Medicinal Plants of Jammu and Kashmir

Romasa Shukla

Introduction

The medicinal properties of plant species have made an outstanding contribution to the origin and evolution of many traditional herbal therapies. These traditional knowledge systems have started to disappear with the passage of time due to scarcity of written documents and relatively low income in these traditions. Over the past few years, however, the medicinal plants have regained a wide recognition due to an escalating faith in herbal medicine in view of its lesser side effects compared to allopathic medicine in addition the necessity of meeting the requirements of medicine for an increasing human population. About 70-80% people around the World rely on medicinal plants for major health care.

Through the realization of the continuous erosion of traditional knowledge of plants used for medicine in the past and the renewed interest at the present time, a need existed to review this valuable knowledge of medicinal plants with the purpose of developing medicinal plants sectors across the different states in India¹. Our major objectives therefore were to explore the potential in medicinal plants resources, to understand the challenges and opportunities with the medicinal plants sector, and also to suggest recommendations based upon the present state of knowledge for the establishment and smooth functioning of the medicinal plants sector along with improving the living standards of the underprivileged communities. The review reveals that State of Kashmir harbours a rich diversity of valuable medicinal plants, and attempts are being made at different levels for sustainable utilization of this resource in order to develop the medicinal plants sector.

Forests have played key roles in the lives of people living in both mountains and lowland areas by supplying fresh water and oxygen as well as providing a diversity of valuable forest products for food and medicine. The age-old traditional values attached with the various forest types and the varieties of forest products (i.e., medicinal plants) have gained tremendous importance in the present century. Furthermore, the cosmetic industries are increasingly using natural ingredients in their products, and these natural ingredients include extracts of several medicinal plants. India and China are two of the

largest countries in Asia, which have the richest arrays of registered and relatively well-known medicinal plants. Since the Indian subcontinent is well known for its diversity of forest products and the age-old healthcare traditions, there is an urgent need to establish these traditional values in both the national and international perspectives realizing the ongoing developmental trends in traditional knowledge. Apart from health care, medicinal plants are mainly the alternate income-generating source of underprivileged communities; therefore, strengthening this sector may benefit and improve the living standard of poor people. A great deal of traditional knowledge of the use of various plant species is still intact with the indigenous people, and this fact is especially relevant with the mountainous areas such as the Himalaya due to less accessibility of terrain and comparatively slow rate of development.²

The ongoing growing recognition of medicinal plants is due to several reasons, including escalating faith in herbal medicine. Allopathic medicine may cure a wide range of diseases; however, its high prices and side-effects are causing many people to return to herbal medicines which have fewer side effects. The instant rising demand of plant-based drugs is creating heavy pressure on some selected high-value medicinal plant populations in the wild due to over-harvesting. Several of these medicinal plant species have slow growth rates, low population densities, and narrow geographic ranges; therefore they are more prone to extinction. Conversely, because information on the use of plant species for therapeutic purpose has been passed from one generation to the next through oral tradition, this knowledge of therapeutic plants has started to decline and become obsolete through the lack of recognition by younger generations as a result of a shift in attitude and ongoing socio-economic changes. Furthermore, the indigenous knowledge on the use of lesser-known medicinal plants is also rapidly declining. Through the realization of the continuous erosion in the traditional knowledge of many valuable plants for medicine in the past and the renewal interest currently, the need existed to review the valuable knowledge with the expectation of developing the medicinal plants sector.

The present study is therefore concerned with the following major objectives:

1. discovering the role, value, diversity and potential in medicinal plants resources,
2. assessing various aspects of medicinal plant sector, which includes challenges and opportunities,
3. examining the government policies to regulate medicinal plant sector in Kashmir, and
4. Suggesting recommendations based on existing information for the benefit and development of medicinal plants sector.

Use and Diversity in Medicinal Plants

In India, of the 17,000 species of higher plants, 7500 are known for medicinal uses. This proportion of medicinal plants is the highest proportion of plants known for their medical purposes in any country of the world for the existing flora of that respective country. Ayurveda, the oldest medical system in Indian sub-continent, has alone reported approximately 2000 medicinal plant species, followed by Siddha and Unani. The Charak

Samhita, an age-old written document on herbal therapy, reports on the production of 340 herbal drugs and their indigenous uses. Currently, approximately 25% of drugs are derived from plants, and many others are synthetic analogues built on prototype compounds isolated from plant species in modern pharmacopoeia.

The northern part of India harbours a great diversity of medicinal plants because of the majestic Himalayan range. So far about 8000 species of angiosperms, 44 species of gymnosperms and 600 species of pteridophytes have been reported in the Indian Himalaya, of these 1748 species are known as medicinal plants. The maximum medicinal plants (1717 species) have been reported around the 1800 m elevation range. On the regional scale, the maximum species of medicinal plants have been reported from Uttaranchal, followed by Sikkim and North Bengal. The trans- Himalaya sustains about 337 species of medicinal plants, which is low compared to other areas of the Himalaya due to the distinct geography and ecological marginal conditions.

Several plant species are endemic to the Himalayan region. Out of total known number of higher plants from India, approximately 46% are endemic to the Himalaya. Of the total medicinal plant species, sixty-two species of medicinal plants are endemic to the Himalaya and 208 extend their distribution to the adjacent areas, and are therefore classified as near endemic. Over 200 species of Himalayan medicinal plants are consumed raw, roasted, boiled, fried, cooked, or they are used in the form of oil, spices, jams or pickle. The indigenous communities use some medicinal plant species as a source of food, fodder, timber as well as various other ethnobotanical purposes. For example, apart from the use of *Myrica esculenta* and *Terminalia bellirica* as medicines, the fruits of these species are edible, the leaves are used for fodder and the wood is used for fuel. Approximately 81 species of Himalayan medicinal plants are known to be used for the extraction of oil. Of the total 675 species of Himalayan wild edibles, 171 are used for the treatment of diseases. The crop plants diversity is also a source of traditional medicine.

Apart from the human use, animal husbandry uses many plant species as its primary source of healthcare in northern India. The reliance on medicinal plants is also due to cultural preferences. Medicinal plants have strong acceptance in religious activities of north Indian native communities, who worship the plants in the form of various gods, goddesses and minor deities. *Origanum vulgare*, *Saussurea obvallata*, *Ocimum sanctum*, *Cedrus deodara*, *Cynodon dactylon*, *Aegle marmelos*, *Juniperus communis*, *Musa paradissica*, *Nardostachys grandiflora*, *Zanthoxylum armatum*, *Ficus benghalensis* and *Ficus religiosa* are examples of the medicinal plants highly used for medicinal as well as a religious purposes by the Hindus in northern India³. The Buddhist community in northern India regards *Terminalia chebula* as an important medicine as well as sacred fruit. It has been stated long ago that the therapeutic potency of medicinal plants is more effective and better suited to a person of a particular region or culture in which the plant is naturally growing. This idea has given a way to the development of a new drug for heart patients of specific ethnic groups in African countries.

Challenges in Medicinal Plants Sector

The continuous increase in human population is one of the causes for concern in meeting the daily requirements of food and medicine as the economy and livelihoods of human societies living in developing countries primarily depend on forest products. This phenomenon is leading to continuous erosion of forest and the forest products, thus making challenge to meet the requirements as well as to conserve useful bio- resources. More and more species are being gradually added in the *Materia Medica*; however, the standards of their purity and correct identification do not keep pace with the process of expansion. The market prices for medicinal plants and derived materials provide only a limited insight into the workings of the market, and not on the precise information of profits, supply and demand. We have identified the following major features and challenges on the basis of examining the existing knowledge on the medicinal plants sector.

Rising Demand

The projected escalating demand of medicinal plants has led to the over-harvesting of many plants from wild, which subsequently results in the loss of their existing populations. For example, the large quantity of Himalayan yew (*Taxus baccata*) has been gathered from the wild since its extract, taxol, was established as a use in the treatment of ovarian cancer. *Aconitum heterophyllum*, *Nardostachys grandiflora*, *Dactylorhiza hatagirea*, *Polygonatum verticillatum*, *Gloriosa superba*, *Arnebia benthamii* and *Megacarpoea polyandra* are other examples of north Indian medicinal plant species which have been overexploited for therapeutic uses and have subsequently been placed today in rare and endangered categories. Many medicinal plant species are used in curing more than one disease, and as a result, these species are under pressure due to over collection from wild. Over-exploitation and continuous depletion of medicinal plants have not only affected their supply and loss of genetic diversity, but have seriously affected the livelihoods of indigenous people living in the forest margins.⁴

More than 95% of the 400 plant species used in preparing medicine by various industries are harvested from wild populations in India. Harvesting medicinal plants for commercial use, coupled with the destructive harvest of underground parts of slow reproducing, slow growing and habitat-specific species, are the crucial factors in meeting the goal of sustainability. Harvesting shoots and leaves of medicinal plants may decline their photosynthetic capacity, and as well as the potential for survival and effective propagation. Medicinal plants tolerance to harvest varies with climatic conditions as the temperate herbs become highly vulnerable to harvest of individuals. Furthermore, rising demand with shrinking habitats may lead to the local extinction of many medicinal plant species.⁵

The World Health Organization (WHO) has estimated the present demand for medicinal plants is approximately US \$14 billion per year. The demand for medicinal plant-based raw materials is growing at the rate of 15 to 25% annually, and according to an estimate of WHO, the demand for medicinal plants is likely to increase more than US

\$5 trillion in 2050. In India, the medicinal plant-related trade is estimated to be approximately US \$1 billion per year.

Increasing Rarity

The continuous exploitation of several medicinal plant species from the wild and substantial loss of their habitats during past 15 years have resulted in population decline of many high value medicinal plant species over the years. The primary threats to medicinal plants are those that affect any kind of biodiversity used by humans. The weakening of customary laws, which have regulated the use of natural resources, are among the causes of threatening the medicinal plant species. These customary laws have often proved to be easily diluted by modern socio-economic forces. There are many other potential causes of rarity in medicinal plant species, such as habitat specificity, narrow range of distribution, land use disturbances, introduction of non-natives, habitat alteration, climatic changes, heavy livestock grazing, explosion of human population, fragmentation and degradation of population, population bottleneck, and genetic drift. Additionally, natural enemies (i.e., pathogens, herbivores, and seed predators) could substantially limit the abundance of rare medicinal plant species in any given area.

In addition to the consumption of medicinal plants by animals, there are physical ailments in humans, which are cured by different species of the same genera. For example, the malarial fever is treated by many species of *Swertia* (e.g. *Swertia chiraiyita*, *S. angustifolia*, and *S. cordata*). Similarly, different species of *Berberis* (e.g. *Berberis aristata*, *B. asiatica*, *B. lycium*, *B. chitria* and *B. jaeschkeana*) are used as a source of berberidine to cure certain eye diseases. Furthermore, different species of the same genera contain different proportions of chemical quantity, and there is a preference over their demand; however, the degree of threat for their exploitation is relatively lower than those species, which do not have alternatives.⁶

An estimated 4,000 to 10,000 species of medicinal plants face potential local, national, regional or global extinction, with subsequent serious consequences for livelihoods, economies and health care systems. Although, a few studies exist on the rare and endangered medicinal plant species of the northern India, none of these studies have complete data set for even a single species. In 2003, 71 rare and endangered medicinal plant species have been assessed for the northwest Himalaya during the Conservation Assessment and Management Plan workshop, according to the guidelines of the World Conservation Union. In northern India, *Aconitum* is the rarest genus with 5 species, followed by *Rheum* with 4 rare species. Out of the 71 rare medicinal plants, 92% are in active trade; 74% are traded nationally and 35% are traded internationally.

The meagre availability of data on the population and quantum of rare species in nature, however, has restricted their categorization to a few species on the basis of herbarium collection and by consultation by a few experts.⁷ The present assessments are also questioned for their validity on the assignment of threat categories to the species, including the number of taxa in danger for specific area. The problems in assessing the species is increased in the mountainous region, especially high altitude areas because of

tough and inaccessibility of the terrain, inhospitable climatic conditions, and short life cycle of plants. Most of the available data have been collected from the easily accessible areas in these mountains. Indigenous communities and commercial herb gatherers also raid these same areas for collection of medicinal plants. Therefore, the estimated population density of categorized rare medicinal plants is not precise because it differs the areas that never and hardly undergone any collection of such rare medicinal plant species.

Cultivation of Medicinal Plants

Information on the propagation of medicinal plants is available for less than 10% and agro-technology is available only for 1% of the total known plants globally. This trend shows that developing agro-technology should be one of the thrust areas for research. Furthermore, in order to meet the escalating demand of medicinal plants, farming of these plant species is imperative. Apart from meeting the present demand, farming may conserve the wild genetic diversity of medicinal plants. Farming permits the production of uniform material, from which standardized products can be consistently obtained. Cultivation also permits better species identification, improved quality control, and increased prospects for genetic improvements. Selection of planting material for large-scale farming is also an important task.⁸ The planting material therefore should be of good quality, rich in active ingredients, pest- and disease-resistant and environmental tolerant. For the large scale farming, one has to find out whether monoculture is the right way to cultivate all medicinal plants or one has to promote polyculture model for better production of medicinal plants.

Studies conducted on the agro-forestry of medicinal plants elsewhere suggest that since many medicinal plant species prefer to grow under forest cover, agro-forestry offers a convenient strategy for their cultivation as well as conservation through: 1) integrating shade tolerant medicinal plants as lower strata species in multi-strata system, 2) cultivating short cycle medicinal plants as intercrops in existing stands of tree crops, 3) growing medicinal tree as shade providers and boundary markers, and inter-planting medicinal plants with food crops. Notwithstanding, it is understood that the cultivation of medicinal plants is not an easy task as the history of medicinal plants farming reflects. Many farmers in trans-Himalayan region of northern India have replaced the medicinal plants farming with common crops [i.e., peas (*Pisum sativum*), potatoes (*Solanum tuberosum*) and hops (*Humulus lupulus*)] due to the lengthy cultivation cycle of medicinal plants like *Saussurea costus*. The cost of many medicinal plants in northern India is lower than many seasonal vegetables, which is a cause of scanty farming of medicinal plants.⁹

Attempts are being made by different organizations to cultivate various medicinal plant species, including rare and endangered categories. Agro-technology for about 20 species of rare and endangered medicinal plants of the northern India has been developed by different organizations. However, the per hectare cost of cultivation, total annual production and cost benefit ratio fluctuate with different medicinal plant species.

At present, however, the farming of most of the medicinal plant species is being operated on a small scale and is restricted to a few hectares of land in various states of northern India. There is an uncertainty of obtaining the necessary permits from government agencies for cultivation of medicinal plants. Additionally, many farmers are unaware about the agency responsible for issuing permits. If the farmers are not granted permits needed to cultivate, they are forced to sell their products on the illegal market, which exposes them to action by government agencies and the exploitation by middlemen.

Bio-Propecting and Bio-Piracy

The former remote green forests have now become part of a dynamic, profit-seeking economy and demanding pluralistic politics worldwide. Reducing the pressure on various forest products, especially on the medicinal plants, is therefore a tough challenge both for policy makers and for economists. Medicinal plants are the local heritage with global importance. The Convention on Biological Diversity at Rio had agreed on a framework that would help the biodiversity to be utilized in a prudent and controlled way. Bio-prospecting, at present, occurs in an environment of suspicions and growing tensions between the bio-piracy and rights of sharing benefits between the developing and developed countries. Most of the issues relating to the protection of the legal status for indigenous knowledge and compensation of the indigenous herbal practitioners for that knowledge are extremely complicated. There are arguments for the present state of compensation or benefit sharing under the intellectual property rights, which is being considered a new legal form of bio-piracy by one group, whereas other groups argue that the intellectual property right is a legal tool to protect the rights of knowledge holders. Different ways and systems for awarding patents on the medicinal plants in India, United States, Europe, Canada and other countries have widened the confusion. In many countries, the plants and inventions directed to the plants and the plant products (i.e., seeds, flowers, gums, and resins) are not eligible for filing a patent. In United States, however, any living organism derived by human invention, such as by breeding or by laboratory-based manipulation, can be filed for awarding patent. The Indian Protection of Plant Varieties and Farmers Rights Act of 2001 recognize the contribution of farmers who actively participate in the breeding programs. Furthermore, this act contains provisions for benefit sharing whereby local communities are acknowledged as a contributor of plants.¹⁰

Unfortunately, there is a wide gap between developed and developing nations such as India on patenting the products. For example, out of the 3,125,603 patents filed in 91 countries, only 301,177 or 9.6% are registered in developing countries while the rest is in industrialized countries. Of these, only 0.2% of the total and 2.3% of those registered in developing countries belong to residents. In addition, 97.7% of the total patents filed thus far are in the name of non-residents, who apply solely to control export markets in developing countries. Developing nations and many scientists who want to exploit medicinal plants demand more specific rules about the recording of nationality of samples and sharing of their benefits between the nations of origin, the inventor, and the

commercial sponsors. Some developed nations are not inclined to accept such provisions. These conflicts have frustrated many scientists who believe that natural products remain the most promising source for new drugs.

Strengthening Legalized Market System

Besides government agencies, there are numbers of stakeholders ranging from herb gatherers, local middlemen, urban traders, wholesalers, manufacturers, exporters and herbal healers in the medicinal plants trade sector. The marketing system in medicinal plants sector is largely unregulated and inequitable. The medicinal plant collectors are generally the marginal farmers and labourers. They get cash income to meet their basic requirements for food, health and children education by selling medicinal plants. They are often unaware about the real market prices of many medicinal plant species. Generally, in medicinal plants sector, there is a top down approach and even the many stakeholders at the bottom are not aware of the rising demand of their product and the availability of its market. In some villages of Chamoli district of Uttaranchal, the farmers had cultivated Kut (*Saussurea costus*) and Dolu (*Rheum emodi*) but they were unable to sell them due to lack of knowledge on the marketing system. Conversely, many medicinal plant species are traded through illegal channels.

The other constraints in the medicinal plants sector are:

1. slow rate of production of many medicinal plants,
2. long gestation period,
3. shortage of suitable cultivation technology,
4. production of small quantity,
5. unscientific harvesting,
6. paucity of research on the high yielding varieties,
7. inefficient processing techniques,
8. fluctuation in demand and supply,
9. poor quality control procedures,
10. scarcity of good manufacturers,
11. poor marketing infrastructure, and
12. poor coordination among different stakeholders.

On many occasions, the wild medicinal plants are preferred by manufactures compared to the cultivated ones, as there is a general feeling that wild plant species contain better chemical contents. The variation in chemical contents also depends upon the harvesting seasons of species and different stages of species growth. The medicinal plant sector is largely less documented and inadequately regulated. The economy generated by this sector is therefore, not precise because of the enormous illegal trade. The economic benefits and management cost for wild populations are poorly estimated on several occasions.

Opportunities in Developing the Medicinal Plants Sector

For developing the 'herbal industries', the northern India possesses a rich diversity of medicinal plant species across the various forest types along an altitudinal

gradient (as discussed in the use and diversity of medicinal plants). Such a high diversity of medicinal plants would be helpful for further scientific research on exploring their medical efficacy, value addition, and use in curing various old and new diseases. India has already established a reputation as a low-cost manufacturer of high quality generic drugs in the global market. This fact can be used as an important tool for the marketing of herbal products produced in India. It is expected that India's aim to build a golden triangle between traditional medicine, modern medicine, and modern science will be a boon for developing the traditional herbal medicine and the medicinal plants sector.

Existing Policies

In the National Five Year Plans of India, the medicinal plants sector has been identified as an integral part of the Indian System of Medicine and Homeopathy. In 1983, the National Health Policy recognized that the large stock of health manpower in Ayurveda, Siddha, Unani, Homeopathy and Naturopathy had not been adequately utilized; therefore, steps need to be taken to move towards a meaningful integration of the indigenous and modern systems of medicine. The Planning Commission and the National Medicinal Plants Board (NMPB) of the Government of India have prepared a policy document on the promotional and commercial aspects of the medicinal plants sector. In addition, the NMPB has prioritized 32 and Planning Commission has enlisted 24 medicinal plant species for research and development in order to meet the desired aim of the medicinal plant sector. The Biodiversity Act 2002 has framed many rules for sustainable utilization of medicinal plants and to mitigate the chances of bio- piracy.

According to Uttaranchal State Action Plan, the Forest Department of the state will have to identify two major areas in each Forest Division; namely the conservation area and the developmental area. The conservation areas will be selected based on their rich medicinal plants diversity and marked for *in-situ* conservation and complete protection in the concerned Forest Division. In the developmental areas, apart from protection of the existing bio-resources, the medicinal plant species of the neighboring areas will also be introduced and cultivated at a large scale. The remaining areas in the Forest Division will remain open for sustainable harvesting of the medicinal plant species. A Joint Harvesting Team, composed of medicinal plants experts, Forest Department officials and some selected local people, will be constituted, which will decide the extent of annual harvesting of the desired medicinal plant species. The various policies at national and state level and their subsequent implementation will provide an opportunity in the advancement of medicinal plants sector. This model of conservation and cultivation of the medicinal plants may be useful for generating the raw material for the 'Herbal Industries' as well as for ensuring the conservation of the rare medicinal plants.

Institutional Support

In India, many government and non-government organizations have had the focused attention on improving the medicinal plants sector. Opportunities for funding have been created to assist the person who is willing to work and to build capacity of the

medicinal plants sector. According to the mandate of NMPB, the projects may be submitted for funding within two major schemes: viz., a promotional scheme and a commercial scheme. The major thrust areas within the promotional scheme are: 1) survey and inventory of medicinal plants, 2) *in-situ* conservation and *ex-situ* cultivation of selected medicinal plants, 3) production of quality planting material, 4) diffusion of knowledge through education and communication, 5) promotion of global and domestic market system, and 6) strengthening research, development and man power. Within the commercial scheme, the major thrust areas are: 1) bulk production of medicinal plants and ensuring supply of quality planting material, 2) expansion of selected medicinal plants farming areas, 3) value addition in harvesting, processing and marketing of medicinal plants, and 4) developing innovative marketing mechanism.”

Apart from the two major themes, the role of NMPB is to co-ordinate with the different ministries, departments, organizations, state and union territory Governments in order to develop and strengthen the medicinal plant sector. One of the major roles of NMPB is to make contacts with national and international organizations devoted to similar mandates and goals. A total of 35 State Medicinal Plants Boards have also been created by NMPB for the smooth functioning of the medicinal plants sector. Approximately 35,000 hectares of land has been selected and brought under cultivation under the supervision of NMPB for the large-scale farming of commercially important medicinal plants. One of the schemes of NMPB is a contractual farming in which any group, institution or person that possesses at least 3 years of experience in medicinal plants sector would be eligible to receive at least 30% financial assistance of the total project cost.

Ten years before establishment of NMPB (during 1992–93 financial years), a single project was launched to study the medicinal plants of the Himalayan region. During past one decade, there has been a considerable expansion in the Himalayan medicinal plants research as it is evident that many projects have been launched exclusively on the medicinal plants during that period. Of the total 4254 projects sanctioned by NMPB over past 5 years, 732 projects have been sanctioned to 11 hill states in northern India. All these projects are expected to strengthen the medicinal plants sector, to bridge the gaps and to meet the challenges in developing the sector. In addition to major funding organizations, the G.B. Pant Institute of Himalayan Environment and Development has sanctioned projects on the medicinal plants of northern India under the scheme of Ministry of Environment & Forest. The Council of Scientific and Industrial Research is building up a Traditional Knowledge Digital Library, which will contain 35,000 herbal medical formulations used in Ayurvedic system of medicine.

The National Bank for Agriculture and Rural Development (NABARD) has established a policy with a viewpoint to develop a suitable environment for financial institutions by providing bankable models for some 50 medicinal and aromatic crops with the unit cost and scale of finance at the state level. Additionally, NABARD assists in supporting the capacity building of prospective entrepreneurs through Rural

Entrepreneurs Development Programs by providing 100% refinancing. NABARD has also close linkages with the NMPB and different State Medicinal Plants Boards. Attempts have been made by various organizations at different levels to establish and promote the medicinal plants sector.

Study of Medicinal Plants of Kashmir

The Kashmir Himalayas often referred to as terrestrial paradise on earth, is located at the north western tip of the Himalayan biodiversity hot spot. The region supports a rich and spectacular biodiversity of great scientific curiosity and promising economic benefits owing to its topographic variations spanning from valley floor through the terraced table lands (karewas) and dense forests elevating up to the snow capped alpine peaks,, since ages People in the region have learned and practiced the medicinal usage of plants growing in their vicinity for treating various ailments. The Gujars, a semi- nomadic tribe mostly inhabitation the hilly areas of Kashmir Himalaya, mainly depend on the livestock rearing for their livelihood. Living on the fringes of the mountains, they traditionally graze their livestock's such as cows, bulls, buffaloes, goats, sheep, horses etc throughout the landscape in the region. From very ancient times in the need of hour, they have learned and practiced the medicinal usage of plants growing in their close vicinity for treating various ailments of their livestock. This priced ancient wisdom has usually been disseminated through the word of mouth.¹¹

Kashmir Himalaya harbors diverse habitats which support a rich floristic wealth that has been used as a resource-base by its people since times immemorial. Indeed Kashmir is known for its economically valued plants and their products, such as medicine, food, fodder, fiber etc. the herbal wealth of wild medicinal plants of high mountains has not only been a potential source of revenue to the state but also the only relied indigenous health care system of people in the past.

Owing to the rich and unique floristic diversity, a good proportion of plants are used as medicine in one or other form. The ethnic use of some of these herbs in medicine through folklore as well as in the documented form dates back to 3000-1000 BC and was in all probability the only means of curing and/or protecting the human population from various diseases. The therapeutic properties of these herbs is reflected from the view that most of these possess the bioactive principles, anti-cancer as well as anti-ageing (anti-oxidant) properties apart from antipyretic, asthmatic, diuretic and other properties.

The territory of Kashmir represents a wide range of altitude and climate conditions. the height varies from 5000 to 1500 or more above the sea level, the maximum temperature goes as low as under such a wide range of climatic conditions, it is natural to have a wide range of medicinal plants growing in the state. The Unani pharmacopoeia Sub- committee on identification of drugs, constituted by the Govt. of India, feels that the Himalayan ranges especially J&K retains a variety of plant species till now unexplored and unexploited. More than 50 % of the plants used in the British Pharmacopoeia are reported to be growing in this region.⁵⁷² plant species have been reported to be of medicinal value by various survey units. They have been identified and classified by Botanical survey of India as belonging to 109 different families of plants

Ayurveda practices in Indian subcontinent are much older than written historical descriptions. From time to time review of ancient Indian literature brings out description of Ayurvedic practices in this part of land through individual and institutional practices. The popularity and practices of ayurvedic system of health care was established in ancient Kashmir¹². Written ayurvedic literature provides references to holding of conferences of learned ayurvedic sages to decide controversial Ayurvedic concepts in Kashmir. Description of Kayachikitsa, shalya chikitsa, ras- shastra and Panchkarma, etc. practices are available through versis of Rastrangani not only this, in Trang 3/461 there is description of establishment of hospitals in ancient Kashmir during the region of King Randatya and Queen Ranaramba. The State has its own tradition of health care system and has rich traditional knowledge in this field. The Amchies of Ladhakh, the Hakeems of valley and the Vaidayas of Jammu, have rich treasure of knowledge about the local medicinal plants and the system is still used in remote areas. Nomads have their own traditional knowledge of health care.

With the decline in density of dominant species in the natural forest, the associates are also receding. Some species have even disappeared from a particular location and few others particularly of medicinal nature are near extinction from some other location. Demand for medicinal plants is increasing due to growing recognition of natural products being non-narcotic, having no side-effects, easily available at affordable prices and sometimes the only source of health care available to the poor. During the past, medicinal plants were being extracted from the forests regularly by people either for their domestic or commercial use. The department earlier would regularly put MFP to auction and the concerned agencies would remove the plant(s) or their part(s) without any consideration for their conservation.

H.D. School of Commerce, Gujrat University,
Ahmadabad (Gujrat)

References -

1. Abur, C. C., Ademoyewa, G. R. and Damkor, M. 2015. *Impact of rural roads infrastructure on the income and productivity of households farmers in north central Nigeria. Research Journal of Agriculture and Environmental Management*. Pp-34.
2. Acharya, S.P., Basavaraja, H., Kunnal, L.B. and Mahajanashetti, S.B. 2012. *Growth in area, production and productivity of major crops in Karnataka, Karnataka Journal of Agriculture Science*. Pp-122.
3. Akhtar, R. and Acharya, R. 2015. *Changes in cropping pattern in Jammu and Kashmir. International Journal of Advanced Research in Education and Technology*, Pp-109.
4. Bhat, M. M. 2013. *Agricultural land use pattern in Pulwama district of Kashmir valley*.
5. *International Journal of Economics, Business and Finance*. Pp-89.
6. Dixit, J., Sharma, S. and Ali, M. 2014. *Present status, potential and future needs for mechanization agricultural operations in Jammu and Kashmir State of India. Agic Eng Int: CIGR Journal*, Pp-178.
7. Dwivedi, S., Sharma, K. P. and Singh, H. 2014. *A study of temporal change in land use and cropping patterns in Jammu district of J&K State. An International Journal of Agro- Economist*. Pp-79.

8. Fakayode, B. S., Omotesho, O. A., Tsocho, A. B. and Ajayi, P.D. 2008. An economic survey of rural infrastructure and agricultural productivity profits in Nigeria. *European Journal of Social Sciences*, Pp-209.
9. Fuglie, K. O., Machdonald, J. M. and Ball, E. 2007. *Productivity Growth in U. S Agriculture*. United States Department of Agriculture Economic Research Services, Pp-77.
10. Rehman, F., Saeed, I. and Salam. 2011. Estimating the Growth Rates and Decomposition Analysis of Agriculture Production in Pakistan: Pre and Post Sap Analysis. *Sarhad Journal of Agriculture*, Pp-136..
11. Rejula, K. and Singh, R. 2015. An analysis changing land use pattern in a scenario of increasing food insecurity in Kerala state. *Journal of Economic Affairs*.
12. Salman, K. K. and Adepoju, A.A. 2013. Increasing Agricultural Productivity through Rural Infrastructure: Evidence from Oyo and Osun States, Nigeria. *International Journal of Applied Agricultural and Agricultural Research*, Pp-56.

A Descriptive Study of Ethnic Media & Indianness Among the Indian Diasporic Communities in Fiji

Anuj Kumar Singh and Naresh Kumar

Human migration is the movement of people from one place to another intending to establish in a new location, either permanently or temporarily. Diasporic communities are formed due to the migration of a group of individuals from one country to another. Economic status, social structure, environment, and state policies are the main factors for migration. In contemporary times, there are many Parsi, Lebanese, Chinese and Indian Diaspora in the world.

Migration from India has been taking place since time immemorial. There is evidence of migration in Mesopotamia during the Harappan period. An ancient text, Shilpadikaram, written during the Maurya Period, also mentions migration. It is argued that arranged systematic migration in India started as a contract system. The British abolished the slavery system in 1834, and it led to a crisis of labour scarcity in the world. In such a situation, the colonist started pressuring the government for labour supply, resulting in the formation of a contract labour system. The migration of workers from different countries began during the colonial period on a contractual basis to serve agricultural production. And India was an important colony for the British empire to harvest workers or labourers.

India was also a colony of the British, and labour was present as a form of human resource. The migrations of workers from India for the supply of work in the other colonial countries increased, such as in Fiji, Mauritius, Suriname, Guyana, and South Africa. Indians migrated to Fiji as contract labourers. These migrated Indians, as compared to the indigenous Fijians, were more skilled in sugarcane farming and production.

Diaspora

The term “Diaspora” emerged from the Greek word diaspeirein, which means the scattering of seeds.¹ The literal meaning of the word “Diaspora” is associated with “particular histories of suffering and violence”. Initially, it was applied to those Jews scattered outside of Israel.

Gradually, rather than limiting to the definition of scattering Jewish population or Jewish religion, its meaning got a universal application and started having a secular connotation that can be used in the context of other religious groups. It is now used to describe the segment of people living outside of their homeland.² Oxford Dictionary of sociology defines the term “Diaspora” as :

A diaspora is a dispersion of people throughout the world. The term was first applied collectively to the Jews scattered after the Babylonian captivity and in the modern period to Jews living outside of Palestine and latterly Israel but has now been extended to include the situation of any widely spread migrant group .

During the last two decades of the twentieth century, “Diaspora” transformed into an intellectual discourse in organising critique of earlier sociological approaches to international migration. And now, it is explicit that the new diaspora studies examine the diversity, complexity, and fluidity of migrant identities and experiences in a more realistic and elaborated way than the older mechanistic models and theories of international migration.³

K. H. Karim writes that “Diaspora” is frequently conceptualised as being limited to powerless transnational ethnic communities which are marginalised; not only politically, but also culturally in the host country. He asserts that in the history of migration across the world, “diaspora” is often viewed as “non-white” people who remain distinct as minorities in a host country .

Indian Diaspora in Fiji

India's relations with the Fiji Islands started in 1879 when the British brought Indian labourers under the Indenture system to work for sugarcane plantations. The first ship of 148 workers went to Fiji on May 14, 1879. Between 1879 and 1916 (abolishing the Indenture system), nearly 60,000 Indians were brought to Fiji. In widespread usage, the Indenture system was also known as “Girmit”. Migrated Indians are the second-largest ethnic group in Fiji, accounting for 37% of the total population of Fiji.⁴

India is one of the most significant contributors to international migration. After China, India constitutes the second-largest diaspora in the world. About 30 million Indians live outside the country. Because of the Indenture system, most of them migrated before India got its independence. These migrated Indians are known as Persons of Indian Origin (PIO).

Post-Independent India has been providing international migration due to a lack of skilled and semi-skilled labours in different parts of the world. Rapid improvements in Information and communication technologies and modern transport systems contributed to international migration. Therefore, communities are now connected to the host society through various social, political, and economic networks. Thus, immigrant communities involve culturally to maintain the relationship between the home and the host country. This practice preserves and expands the culture of both countries. Therefore, the role of ethnic media is increasingly relevant, as also observed in Fiji.

Indo-Fijian Diaspora and their relation to India

Indian diasporas migrated to Fiji as indentured labourer during the colonial period. They faced several difficulties in maintaining cultural linkages and emotional connection with India. Similarly, the present-day Indo-Fijians have almost no relatives or link with their ancestors in India, and very few of them have a connection with their roots. Also, they are aloof from their homeland and culture. But in the case of free Indian migrants in Fiji, they still have contact with their relatives in India and are aware of their ancestral line. Therefore, these free Indian migrants have a strong connection with India, Indian soil, and its culture.

After the abolition of indenture system, the Indians who migrated to Fiji, commonly referred to as the free migrants, have a slightly more robust connection with India than those who migrated through the indenture system. However, these free migrants have more memories of Fiji as they have been living there for decades. As a result, there is a loss of emotional connection and cultural changes among the Indo-Fijians. They have very little knowledge or no knowledge about their ancestral roots. The shared identity that they possess, being an Indian, is significantly essential to reduce the existing social and cultural distance.

The indentured labourers in Fiji brought the Awadhi and Bhojpuri language. However, the Hindi language also came into prominence in the following years and got recognition as an official language of Fiji in 1977. The Hindi language in Fiji, as such, is not pure Hindi; instead, it is a mixture of Bhojpuri and Awadhi, known as Fijian Hindi or Hindustani.

The Indo-Fijians culture have changed significantly. They have eradicated occupational discrimination. Ignoring the caste barriers, they also work together under one roof. This amalgamation also led to changes in language, culture, and religious practices. To save Indian culture in Fiji, the Indo-Fijians have started a cultural campaign by forming associations. They aim to retain, strengthen, and connect with Indian and Indian culture. To save the religious and cultural heritage, associations like Arya Samaj have played a significant role in promoting Indianness. In his work, Brij V Lal mentions the establishment of temples and schools that promote Indian culture and the Indian language.⁵

Theatre artists also perform religious acts, such as “Ram Leela” and other acts based on Ramayana and Mahabharata. The holy text Ramayana is one of their favourites as the story reflects the suffering, struggle, and exile of Lord Ram. The Indians in Fiji consider it to be similar to that of their ancestors.

Indo-Fijians prefer to migrate to developed countries, such as New Zealand and Australia, rather than coming back to India in contemporary times. The primary reasons could be due to India being a developing country or because they no longer have any contact with their roots in India.

Definition of Ethnic

The English word “ethnicity” and “ethnic group” is derived from the Greek word athenos, commonly referring to “nations” or people of the same species having a specific similar culture. The term “Ethnic” and its related forms were used in English

between the 14th and 19th century to indicate those who follow Pagan or Heathen practices. However, the modern use of “ethnic” groupings refers to the various types of encounters with subordinate groups of industrialised states, such as immigration and colonising subjects. “Ethnic groups” stood out instead of “nations” to refer to people who have distinct cultural identities and who, through migration or conquest, have become subservient to a foreign state. The modern usage of the term is relatively new.⁶

Concept of Ethnic Media

Ethnic media is often perceived as a media in a host country with contents published in the ethnic language(s).⁷ Shi further states that ethnic media is run and operated by large ethnic media groups, and small organic ethnic communities. Ethnic media helps preserve and protect the culture and identity of ethnic groups. Large ethnic communities and media groups prefer to produce, publish, and broadcast cultural, political, social, and religious contents. Whether it is news, television, radio, online, print, magazine, or any publication, ethnic media focuses primarily on a specific ethnic community. It can be in any ethnic language or it can be bilingual, reaching a specific community.

Mainstream media, television, radio, online and/or print media, and magazines can also be ethnic media. Ethnic media may have contents on music, art, culture, and religion of a particular ethnic group. Though ethnic media can be relevant for the larger population, it is essential for those ethnic minorities inhabiting in a place where minorities are suppressed. It can be underlined that ethnic media creates an atmosphere of goodwill and brotherhood among the general people.

Ethnic media serves the welfare of specific race or ethnic groups. The development of Information and Communication Technology tools has contributed to converging various media contents, serving for the general population and a particular ethnic group. Terms like immigrant media, international media and even minority media have also emerged, and they all are part of the ethnic media.⁸ Ethnic groups have more media choices, and it plays a vital role in the lives of immigrants. Besides entertainment, ethnic media also provides necessary information about their ethnic identity.⁹

Ethnic media assists diasporic communities to negotiate their hybrid ethnic identities. Mainstream media in various countries portray both positive and negative image of Indian ethnic groups. Thus, alternative spaces for diverse media representation for Indians can be considered significant. Popular Bollywood movies and television serials are the most popular forms of ethnic media consumed by Indians abroad. Ethnic media helps to strengthen cultural identity by creating a sense of nostalgia. It ascertains cultural distinctions that benefit the people of Indian descent to enhance their Indian pride through the sense of Indianness.¹⁰ The portrayal of the identity and culture of Indians in mainstream media of a host country is often stereotypical and provides less space. Ethnic media, on the other hand, acts as an alternative space that addresses the issues which the mainstream media neglects. Hence, as Jeffres puts it, ethnic media serves as a vehicle that helps ethnic communities to retain their attachment with their culture over time.¹¹

Conceptualising Indianness

The presence of Indians is not limited to India only. Indians live in a “poly-ethnic society”. They have been migrating to various parts of the world. These Indians who have migrated and live-in host countries are embedded with certain traditional practices and cultural values. These traditional practices and cultural values cannot be easily separated from the everyday life of Indians living abroad. These aspects of life can be considered as their sense of “Indianness”.

Indianness is a two-dimensional concept. First, it is understood as a geographical identity; second, it is understood as a state of being. It is noteworthy that Indians living in Fiji continue to identify themselves as Indians. However, their ancestors migrated to Fiji years before establishing Indian nation-states, i.e., in 1947. Though Indians have a heterogenous identity, histories, and traditions, they often become homogenous once they move out from their home country. Indianness is a state of being that comprises certain philosophical beliefs, values, and practices that is different from that of the westerns. According to the discourse of Indianness, the identifications and recreations of Indianness can be based on six themes. They are - romanticised past, charitable nature, influence and resistance of Mahatma Gandhi, eternal/timeless essence, morality, and industrious/ hardworking.¹²

Indians migrated to Fiji with specific ingredients that adds to their sense of Indianness- their traditions, religion, and culture. The Indo-Fijians also speak the language that comes under the Indic group. Though English was a common language in Fiji, Hindi was taught in schools. As to how Muslims use Arabic to perform their Muslim rites, Indo-Fijians use Sanskrit to perform their religious ceremonies.

Indians were hardworking and efficient, and many preferred to stay and purchase land in Fiji after completing their Indenture period. The descendants of those Indians decided to promote and preserve their Indian heritage, language, and traditions, and it is reflected through their Indianness. Tolerance and sacrifice are the essential characteristics of Indian culture and tradition. The Indo-Fijians are inspired to follow such principle of tolerance and sacrifice.

Though Indians are diverse in nature, their sense of Indianness brings them together. The notion of Indianness can be divided into ethnic, religious, and linguistic dimension. An inclusive Indian identity can be created based on their religious and linguistic background. Just as India belongs to the Hindus, Indianness belongs to the Indian Diasporas. Indianness can be considered as a type of aspiration, among the Indians living in distant parts of the world that reproduce cultural heritage.

Indianness is reflected by Indo-Fijians

Indianness can be observed among the majority of the Indo-Fijian population. For instance, they wear dresses in celebration of Indian festivals or on special occasions. Wearing traditional dresses acts to display inclusiveness and belongingness to Indian culture. The Indo-Fijians display and performatively recreate the image of being a Hindu or Indian in an innovative and encompassing way.

Indianness is reflected in everyday life among the Indo-Fijians. It can be seen in their use of specific clothes, consumption of Indian music, movies, food, reading Hindi newspaper, celebrating Indian festivals, and following various cultural practices of India and its values.¹³

Indo-Fijians follow Indian culture, and at the same time, the ethnic media in Fiji make continuous efforts to popularise it. Religious affiliation, such as being a member of Arya Samaj, and other dynamic Hindu associations, can be seen to promote Indianness among the Hindu community of Fiji. Along with this, many religious and cultural magazines are published, and it acts as a type of ethnic media. Religious practices by the ethnic Indian community in Fiji gives a distinct culture and identity that is separate from other ethnic groups in Fiji.¹⁴

Fiji's Ethnic Media representing Indianness

Indian, in general, believes in nurturing a prosperous Indian democracy and bring a culturally strong ideology through media (both print and electronic media). In addition to that, they are politically and economically efficient; and are culturally, religiously, and traditionally cognizant. This efficiency and cognisance are possible through ethnic media that reflects Indianness. In the case of Fiji-Indians, such cognisance and efficiency are also reflected. For instance, Fiji-Indians can be considered to have cultural cognisance as they often perform Ram Leela and other Indian classical dances. The case of Political efficiencies is self-evident as Fiji had a Prime minister who is of Indian origin. Mahendra Pal Chaudhary, an Indian origin, was the 4th Prime Minister of Fiji.

The ethnic media of Fiji-Indians often covers cultural cognisance and political efficiencies among them. And it also serves as a medium of expression representing India's diversity, both culturally and politically. It also allows, among the Fiji-Indians, to discuss the problems of origin (India) and the destination (Fiji).

Ethnic media represents Indianness. Shanti Dut newspaper, for instance, that is published weekly in Fiji, represent Indianness by using Hindi script in their publication. Scholars in ethnic media studies often highlight the use of ethnic language, i.e., Hindi, in the context of Shanti Dut newspaper for the Indo-Fijians. In Shanti Dut newspaper publication, those who cannot read Hindi script use the Roman script to write the Hindi language. Because of the publication of this newspaper in Hindi, they take more interest in reading contents related to India. The Shanti Dutnewspaper has various contents that disseminate and nurtures Indianness. Shanti Dutnewspaper is crucial for the Indo-Fijians as their social, cultural, and political issues are often neglected in the mainstream media in Fiji.

The ethnic media of the island of Fiji is very active. In terms of the consumption of electronic media in Fiji, radio channels such as Radio Mirchi and Navtarang, broadcast Indian music and programs. As the publication of the Shanti Dut newspaper is weekly, Indian news is disseminated through radio channels. The use of radio by the Fiji-Indians have increased in contemporary times as they can have easy access to news and

information related to India. Therefore, the ethnic media in Fiji continues to spread Indianness. Indian communities are taking advantage of the ethnic media and have a feeling of connectedness with their homeland.

Conclusion of the Study

This study attempted to analyse the contribution of the Indian diaspora in Fiji and its role in policy development for the India-Fiji relationship. This paper discusses how ethnic media plays an essential role in developing, and evolving, sense of Indianness in the hearts of Indian Diasporas in Fiji. This study asserts that integration should involve a process- that when the Indian Diaspora wants to be integrated into the host society, the host society must also be willing to assimilate them. Therefore, the immigrants must undergo cultural integration or acculturation, i.e., learning the daily norms of the host culture on dress, language, food, and sports. Further, this paper finds that media helps in nurturing cultural pluralism. The current study findings are particularly important for exploring the importance of ethnic media in enhancing cultural pluralism. It can also be relevant for building a strong relationship between India and Fiji.

Centre for Diaspora Studies
Central University of Gujarat
Sector 29, Gandhi Nagar-382030

References -

1. Karim, K. H. (2003). *Mapping diasporic mediascapes*. In *The media of diaspora* (pp. 16-32). Routledge.
2. Zheng, S. (2011). *Claiming diaspora: Music, transnationalism, and cultural politics in Asian/Chinese America*. Oxford University Press.
3. Scott, J. (2014). *A matter of record: Documentary sources in social research*. John Wiley & Sons.
4. Naidu, V., Matadradra, A., Sahib, M., & Osborne, J. (2013). *Fiji: The challenges and opportunities of diversity*.
5. Safran, W., Sahoo, A., & Lal, B. V. (2013). *Transnational Migrations: The Indian Diaspora*. Routledge.
6. Danner, H. G. (2014). *A thesaurus of English word roots*. Rowman & Littlefield.
7. Shi, Y. (2009). Re-evaluating the 'alternative' role of ethnic media in the US: the case of Chinese-language press and working-class women readers. *Media, Culture & Society*, 31(4), 597-616. <https://doi.org/10.1177/0163443709335219>
8. Georgiou, M. (2006). *Diaspora, identity and the media: Diasporic transnationalism and mediated spatialities*. Hampton Press.
9. Viswanath, K., & Arora, P. (2000). *Ethnic media in the United States: An essay on their role in integration, assimilation, and social control*. *Mass Communication & Society*, 3(1), 39-56.
10. Moorti, S. (2007). Imaginary homes, transplanted traditions: The transnational optic and the production of tradition in Indian television. *Journal of Creative Communications*, 2(1-2), 1-21.
11. Jeffres, L. W. (2000). Ethnicity and ethnic media use: A panel study. *Communication Research*, 27(4), 496-535.
12. Paicu, A. (2013). *Naipaul and Indianness*. *Annals Constantin Brancusi U. Targu Jiu, Letters & Soc. Sci. Series*, 74.
13. Bhatia, T. K. (2001). *Media, identity and diaspora: Indians abroad*. *Diaspora, Identity, and Language Community. Special Issue of Studies in the Linguistic Sciences* 31:1, PP. 269-287.
14. Kloth, S. T. (2016). *Fabrics of Indianness: The exchange and consumption of clothing in transnational Guyanese Hindu communities*. Springer.

Understanding the Life-style and Cultural Aspect of Sahariya Tribal Women : An overview (with special reference to Shivpuri district of M.P.)

Deepak Kumar Rajak

Introduction

India is one of the largest tribal populated country in the world. In layman's language, we can say that India is a vast country with a wide variety of cultures and diversity. The tribes have been the indigenous race of people living in India for centuries, and they were highly neglected, backward, and oppressed people. The people of India include a large number of primitive tribes who make their subsistence on the forest economy. The tribal people were familiar with an aboriginal tribe. The tribal groups were presumed to form the oldest ethnological sector of the national population. The term Adivasi has recently become current to designate these groups. These groups are the earliest inhabitants or indigenous people of our country (Bhowmik, K. I., 1971). There are apparent cultural differences between the life-style of Indian tribes. Still, historically, there is an essential unity in the thought and philosophy among these people, born and brought up in the atmosphere of diversity through the length and breadth of the country. The indigenous people thus took shelter in the mountain depths and thick jungles where a substantial sum of them are still found and considered to be about millions. Those who have left behind on the plains gradually disappeared either by absorption or by acculturation. These original tribes in India are separated and subdivided into many sub-tribes, all mutually exclusive. Each has the endogamous and exogamous clans with their names and their own culture, custom, and lifestyle. There are more than a hundred of the aboriginal tribe in India who are still living with their ancient lifestyle happily and joyfully (Bose, N.K., 1971). Sahariya tribe is a concern, one which sharply attracts the attention of anyone interested in tribal life and culture, or in social change perspective. In fact, the Sahariya's are the least explored. Otherwise, the Sahariya need urgent attention of those engaged in the massive socio-economic development task and the transformation of tribal communities. The Sahariya's occupy the last row of tribal existence. With almost a miserable living, they sink in poverty, ignorance, illiteracy, backwardness, etc. In addition to their traditional milieu, which continues to have

significant manifestations in many walks of life, the Sahariya living has imbibed many traits from the non-Sahariya population around (Mehta, P.C. and Kothari, S.R., 2014). The process got a special fillip after the development of communication channels. On the one hand, the cultural contact that caused acculturative influence on Sahariya life and culture, and on the other hand intimacy which caste Hindus enthused many of them make the latter as their reference group. Such a phenomenon generated pleasant conditions for the borrowing of cultural traits, more so when the caste people, especially those belonging to the twice-born category, were taken as the positive reference population. Such an incidence was reported in the past from most of the tribes of the Indian subcontinent (Vidyarthi, L.P., 1976). The Sahariya has also adopted certain traits from the neighboring tribal people, who are otherwise numerically dominant. In other words, the Sahariya stand at the lowest rung of social hierarchy except for the untouchable caste. It is not merely within the social dimension that these tribes' men are almost at the bottom, but equally valid is their utmost inferiority of economic status.

Sahariya Tribe

Sahariya is the most vulnerable and backward tribe of Madhya Pradesh, and they also come under the particularly vulnerable tribal group (PVTG). Sahariya tribe is one that sharply attracts the attention of anyone interested in tribal life. Sahariya tribe constitutes a prominent position in the tribal population of Madhya Pradesh. Traditionally, the Sahariya pursue their indigenous socio-cultural rules, custom, and norms. They have suffered due to land alienation, rehabilitation, and maximum death occurred due to pneumonia, malaria, tuberculosis, diarrhea, and gastric problems. The standard of living is not satisfactory because of inadequate food, hard work, insanitation, malnutrition, lack of pure drinking water. That's why; their overall condition is not acceptable. Significantly, every adult member of this community is a part of the council, headed by 'PATEL'. The commission decides disputes by a consensus. Sahariya's are generally quiet people and do not interact much with outsiders. They live in small hamlets. Their villages are situated in forests and rugged terrain without adequate road communication. Services like health and education have not reached them to any notable degree. For any health problem, their first referral point is the local healer and places of worship. Madhya Pradesh also knows for the largest tribal population in the country. Sahariya tribe is found in the northwest part of Madhya Pradesh. Sahariya tribe is mostly found in the Bhind, Morena, Gwalior, Sheopur, Shivpuri, Guna, Vidisha, Raisen, Sehore, Bundelkhand districts of Madhya Pradesh. The tribes of Madhya Pradesh belong to the Central Indian tribal stalk. There are as many as 46 different tribal ethnic groups with their unique culture and traditions. With their colorful and straight forward life-style, combining various shades of tribal culture, they constitute a microcosm of tribal life in India (TRI, 1986)

Sahariya Tribal Women

Sahariya tribal women are closed to their natural habitat, and its ecological & social surroundings very much influence their culture. The position of Sahariya tribal women is vulnerable in their community. They take up all household chore and cooks;

take care of the children and their elder family members and fetches water. They also go to forest to collect fire wood, tendu leaf, and fodder, etc., for their domestic need, and marks them susceptible to all kinds of assaults like sexual harassment, physical and mental, by the forest guard. Most of the Sahariya women get married at an early age and generally become mothers at an early age. Due to this, the no. of cases in infant mortality rate (IMR) and maternal mortality rate (MMR) is very high among the Sahariya tribal women. Many of them become widow after a couple of years of their marriage. They lose their spouse due to various diseases like tuberculosis among the Sahariya tribe, the mostly male works in stone quarries. Sahariya's are a Patriarchal society. Sahariya women face discrimination in every aspect of their life right from birth. They have no inheritance rights, and they don't have decision-making power within the family. In this process, Sahariya tribal women also suffer, and their lifestyle is poorly effective.

Social Life

In the absence of actual historical data, it could be surmised and state on the other ground that the Sahariya was one of the settlers of Madhya Pradesh. Although their manners and way of living are much nearer to those of Hindus. In the past, the Sahariya lived in the thick, isolated forest. During the British period, this segregation was smashed down, and other castes started settling in this area. Still, the Sahariya continued to maintain their isolation from different castes by paying their colonies outside the village, which is known as Sahrana. In physical structure, the Sahariyas are of medium stature, and their color of skin varies from brown to dark, and their hair is generally coarse straight, and dark. If we were talking about the language of Sahariyas, so they have no language of their own. Most of the Sahariyas speak Kadi Boli or the local language. Some of them speak the Brij language, while others have taken the regional dialects. They are Hindu by the caste, and they worship of Lord Shri Ram and goddesses Kali, Durga. Sahariya is very superstitious by nature. They are afraid of the spirits like a ghost and other evil spirits. Sahariyas have great faith in Tejaji, which is a serpent god. They have a belief that due to worship of Tejaji, Snake will not bite them. If, in any case, snake bites, they tie a knot on that particular affected part of the body in the name of Tejaji.

Like other primitive tribes of central India, Sahariya also follows a primitive form of religion, called 'Animism,' (Tylor E., 1871) which is a crude form of faith in which magic is predominant through a life surrounded by the company of power elements, mostly impersonal in their character. It is assumed that, the soul of the deceased convert into potential spiritual force which variously affects life on earth by causing trouble or by favoring relatives of the deceased. These spirits dwell everywhere, and a person should be at peace with them to keep away diseases and other disorders. Sahariyas are often found worshipping various ghosts and spirits, offering sacrifices, and engaging in various magical activities. They also believed in Jadu-Tona and black magic. In Sahariyas, festivals form a part of religious life. They celebrate all those festivals which are honored by the Hindus. They don't have their celebrations, but their ways of celebrating are peculiar. They mark some significant festivals like Makar-Sankranti, Diwali, Holi, Dashahera, Akha-Teej, Teja Dashmi, Raksha-Bandhan, Janma-Ashtmi, and many more.

In addition to the festivals mentioned above, Sahariyas also take part with great enthusiasm in fairs also. They make purchases of the items of their daily needs at the fairs. Mate selection is happening in the fairs. These fairs are so witnessed of Marriage by elopement if a woman throws a handkerchief, Bidi, or any other article before any man, which is a sign of her choice for that particular man and is considered a challenge to that man to accept her. Some famous fairs among Sahariyas like Kapil Dhara Fair, Sita Bari Fairs, Tejaji Fair, and Ghunghare Fair.

Sahariya family recognize as a Kutumb, and they have a patriarchal family system. They are not permissible to marry outside the community. After marriage, the Sahariyas, eldest son, live separately with his wife in a new hut constructed for him. After the father's death, the eldest son took the head of the family and performed religious rites of the funeral ceremony of a father. Still, the responsibility of the widowed mother is on the shoulder of the youngest son. Suppose any Sahariya family has a property or land later it will be distributed among the son after the father's death. In the distribution of property, some portion of property or land is reserved to maintain the widow mother (Joshi Vibha, 1987).

Dwelling, Food, and Dress :

Sahariya generally resides in separate basti in the village, which is known as Saharana. The Sahariya tribe has a definite pattern of settlement, which helps to differentiate their compensation from others. They usually live in a cluster of the hut on a hillock. Due to other castes' influence, most of the Sahariya have settled in plains and live with other caste groups.

Sahariya's life is very miserable due to poor economic condition, and their earning depends on daily wages, their main aim of life is to make their daily bread. Some of them are very lucky to have a two times meal. Those who can't afford a meal, so they eat Mahua flowers and other forest product for satisfying their hunger. Sahariyas are non-vegetarians, but they generally depend on maize, wheat, Jwar bread, and some inferior millets. Grain like wheat and jwar bread are their staple food of Sahariyas. They take rice mainly at festivals. They occasionally take a meal of goat and pig. Still, poor Sahariya families eat wild seeds, which they supplement with herbs and tubers. They usually take meals thrice a day, i.e., morning, afternoon, and night, when they get tired due to hard work in the field. The scarcity of food starts in the rainy season when they don't have a job. The Sahariyas generally use leaf cups known as "donas" for holding liquids and fluid preparation only. They hold roti in their hand and eat. Sahariyas are gradually addicted to tea, the smoke Bidi, Chillam, Ganja, and also smoke Tobacco in an earthen pipe called Sulphi. They are very fond of liquor. They distill their alcohol from the mahua flower, which is collected mainly in the summer season. They celebrate their social ceremonies and traditional rituals, along with the consumption of liquor. It has a religious value. Sahariya women also drink alcohol during festivals and ceremonies. Sahariya women also play a very prominent role in making mahua liquor. They prepare and dry a mixture of intoxicated bark, seeds, roots of some jungle plants, which can freely gather from the forest (Khan Yaqub, 2000).

Among the Sahariyas community, the boy and girls generally remain naked up to the age of seven years. The girls begin to wear a band of cloths to cover their lions, earlier than the boys. According to the study of Sahariya village, they are using an elementary type of traditional dresses. Sahariya men put on a dhoti, kurta, and turban (safa). Old age person in Sahariya using 'langot' just to cover a lower part only. The women wear colorful dresses and ornaments. Generally, apparel and garments vary with age and sex. In the past, the Sahariya used to cover their lower portion of the body only. But gradually they started to wear more clothes. At present, they began to wear Dhoti up to their knees, which are called Pancha, and a short white turban on their head, which is called 'Khapta', and sometimes they wear half sleeve Bandi which they called Saluka and used during festival days. It is customary for a man who gets married, uses a short length of safa. Nowadays, they are becoming forward, and some of them are keeping a modern style of hair and hair cutting.

The dress of women mainly consists of a long kirt (Ghaghra), upper garments (choli), Saluka (Blouse), and lugra (headdress) about two meters in length. There is no system of Saari. The dress of Sahariya women is comparable to Rajasthani women. Sahariya women, just like other women, are very fond of ornament according to their financial position using ornaments of silver, lead, bronze, etc. The widows wear all ornaments except the Bichia or toe rings. Tattooing is common in Sahariya women, but now it is decline day by day. It was considered a mark of beauty, and women get themselves tattooed on their forearms and a tiny cluster of dots on their chins, cheeks, and either side of the eyes.

Education and Health status

Sahariya tribe occupies the lowest rung in the education ladder. Education is an integral component of development and wellbeing. The education status of Sahariya women is not at all satisfactory because of the heavy workload. Most of the girls are not going to school; instead, they assist their mother and other family members. Yes, of course, because of various educational programs implemented by the central government and initiatives are taken by the state and even NGOs. There is a little change, and now the girls are going to school, but their percent age is deficient, directly influence the life style of Sahariya girls and women.

The over all health condition of Sahariya tribal women is directly affected by the poverty, lack of awareness and scientific knowledge, lack of proper food, hard labor, and repeated pregnancy; because of the factors, and they are mostly suffering from blood deficiency (anemia), Malaria, typhoid, Gynecological disease. So, their life style is directly influenced by their health condition. Like other tribes, their belief system toward their religion is robust. Their religion of this own, as well as they, are very much influenced by Hindu god and goddess so undoubtedly the life-style of Sahariya women is very much influenced the religion and belief system.

Conclusion

Like other tribal women, Sahariya women are innocent by nature and very much submissive in their practices. Their health condition, Education, Economic statuses are

still not satisfactory. They are suffering from acute poverty. But the belief system is very strong towards their religion and also neighboring religion because of belief system. The standard of living is not at all satisfactory. Various Developmental Programmes launched in recent years by the central government for their upliftment. Now they are being benefited in all respects like Ujjawala Scheme, Ayushman Scheme, Beti Bachao Beti Padhao scheme, Sarva Shiksha Abhiyan, Janani Suraksha Scheme, etc. is becoming very fruitful for the upliftment of Sahariya tribal women.

The lifestyle of Sahariya tribal women is of course influenced by these above factors. There is a little change in their life style like food habits, dress patterns, etc. their mindset is also changing. They are being exposed to many facets and forces of change. They are more aware towards the issues.

Deptt. Sociology & Social Work
Dr. Harisingh Gour Vishwavidyalaya, Sagar (M.P.)

References -

- Bhowmik, K.I. (1971), *Tribal India : A Profile in Indian Ethnology*. The World Press : Calcutta, page 39 - 47
- Bose, Nirmal Kumar, (1971), *Tribal Life in India* National Book Trust : New Delhi, page 9-13
- Joshi Vibha, (1987), *A Primitive Tribe of Madhya Pradesh : Social Organization and Religions of the Sahariya*. [M.Phil. thesis]. Department of Anthropology : University of Delhi, page 67- 78
- Khan, Yaqub Ali, (2000). *Tribal life in India*, RBSA Publication : Rajasthan, page 32-37
- Mehta, P.C. and Kothari, S.R., (2014), *Ethnographic Atlas of Primitive Tribes*, Discovery Publishing House, New Delhi, page 237-243
- Tribal Research Institution Report, (1986), *Report for 1986 by Tribal Research Institution [Bhopal]*. TRI, Publication : Bhopal, page 87
- Tylor E., 1871, *Primitive Culture*, Cambridge University Publication, (Online, 2012), page 7-9
- Vidyarthi, L.P. (1976), *Future of Traditional Primitive Societies : A Strategy for their Development*” paper presented in the workshop on the Marginal and Pre-farming Tribes of Eastern Central India, Ranchi, page 3-5

Comparison of Thumbprint of Office Workers and Mines Workers with the help of Trascan Imaging System

Chhote Raja Patle and Devasish Bose

Introduction

A fingerprint is one of the undisputed tool for positive identification not only in criminals cases but also in civil cases (Sharma, 2005; page 137-146). The fingerprint is said to be an elevated zone of fine ridges found on the surface of the skin of each finger. They can be identified by the presence of typical elevation and depression known as friction ridges. Friction ridges are normally found on the fingers, soles of the foot (Pawar et al. 2017; page 93-98). These friction ridges can be considered as the reason behind the appearance of a fingerprint (Sharma et al. 2017; page 17-31). Fingerprints are mainly of three types i.e., visible print, plastic print, and latent print. Fingerprints are also classified based on different patterns like arch, loop and whorl that helps in the identification of a person (Maltoni et al. 2009, page 30-34). Recent advances in automated fingerprint identification techniques, and their featured application for personal identification, resulted in an increased use of fingerprints in government, civilian and criminal applications. In government and private organizations, it is used for personal identification, maintain employee records, immigration access etc. (Peter et al. 2005, page 3-13). Fingerprint provides a unique identification for every individual as it retains a person's uniqueness for a lifetime. There are many examples where criminals have been identified by fingerprint found at the scene of crime (Brent T.C. 2012, page 4-9). During the recording of fingerprint, it was also observed that anomalies ranging from temporary (e.g. wounds and blisters) to permanent (e.g., amputated fingers, extra fingers, webbed fingers, arthritis, or palsy) might be present on one's fingers. The occupation of an individual might also affect the ability to obtain legible recordings. In such cases, the friction ridge detail may be destroyed or worn to the extent that a legible recording is not easily obtained.

Some occupations can also be linked to creating deformities in friction ridge skin. This could be attributed to those people who consistently work with their bare hands which tend to have worn, rough, dry or damaged friction ridges on their fingers and

palms. In these cases, the extent of damage is such that it is difficult to obtain legible recordings of friction ridge or fingerprint. In this context, following trade were identified where people show different degrees of deformities on their finger print patterns, namely peoples involved in farming, mining, earthenwork, tailoring, cobbler, mason, non-automated laundry and cleaning services, etc. At present, various schemes and policies are implemented by the Government of India like MNREGA, Pradhan Mantri AawasYojna (PMAY), Pradhan Mantri UjjwalaYojana (PMUY), pension schemes, ration etc., are based on verification by means of Aadhaar authentication. Aadhaar cards provide a unique identification number to the citizens of India, which contain personal data like iris pattern, fingerprint pattern of all the ten fingers with requisite details. Even in various private institutions, industries, firms along with government institutions where for the purpose of marking attendance patterns of thumb or other fingerprints is mandatory. The purpose of a finger is not only limited to identification it is now linked even with personal access, like access to office, home, car, lockers, mobiles etc.

The present research work is a pilot study aim with object to compare the distortion in right thumb fingerprint pattern of soft skill workers like persons involved in office work with that of the person involved in hard labor i.e., mine worker. For the ease of collection of data only male workers were selected for this study.

Research Methodology

Twenty-five people were selected on a random basis to represent the population. Before collecting the thumb impressions, the participants were informed about the nature, purpose and significance of the study and written consent for the same was also taken. The participants were also free to opt out of the study at any time, even after submitting the thumb impressions. Though the samples were collected with informed consent and only a fingerprint was taken, no ethical clearance was taken either from the institute or any other ethical committees. The thumb impressions were mainly collected from office workers and 25 mine workers aged between 20-40 years free from any disease, disorder or deformity of hand and fingers were selected for collecting thumb impressions with their consent. As it is prevalent in India for different work thumb impressions of the right hand for males are recorded. So in the present work, also thumb impressions involved in office work and mine workers were collected. Before proceeding with the collection of thumbprints, the persons were requested to wash and dry their hands clean to eliminate the possibility of contamination due to foreign substances, grease, dirt or dust. First of all, twenty-five individuals between the age groups of 20-40 yrs were requested for giving thumb impressions. The thumbprint was taken on a fixed format of A-4 size paper. As in various government and private organizations right-handed thumbprint is required, so in the present study also right-hand thumbprints of persons engaged in office work and mines were collected. The first step in the process of identification was to identify the pattern followed by the identification of delta and core for the purpose of ridge tracing or ridge counting and finally marking various ridge characteristics (**Figure 1**). The next step was directed towards those fringer

print patterns which show some form of work related deformities. In these cases, the fingerprint pattern was divided into four halves, identified as Upper left quadrant (ULQ) (A), Upper right quadrant (URQ) (B), Lower right quadrant (LRQ) (C) and Lower left quadrant (LLQ) (D) (**Figure 2**).



Figure 1. Analysis of fingerprint by Traso Scan laboratory Imaging System

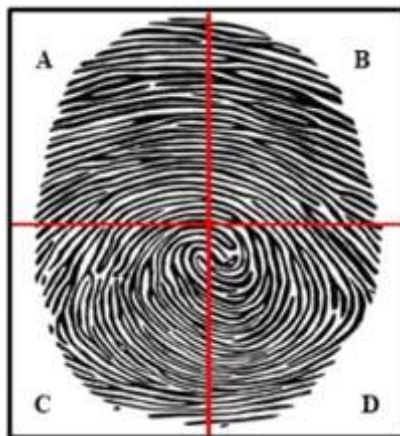


Figure 2. Schematic diagram of quadrant division of thumbprint

The minutiae (ridge characteristics) of fingerprint only in case of distorted print were studied on the basis of quadrant A, B, C and D for office workers and mine workers. The analysis of fingerprint was performed on an advanced TrasoScan Laboratory Imaging System, Czechoslovakia enabled by LUCIA Forensic Software (Laboratory Imaging s.r.o. CZ-10200, Praha 10 C 745, VAT Number CZ4890925, Czechoslovakia). Images were saved as files or in a database, compared and exported in reports for future reference. (Trasoscan manual, 2017, page 5-15, Lucia Forensic Manual, page 11-20).

Results

It is a well known fact that the fingerprint patterns of every individual and every individual finger of a person are different. This was the fascinating characteristic of the fingerprint which lead its use first towards criminal identification followed by personal identification. In the present work, the first step after collecting fingerprints was to check the percentage damage of the fingerprints obtained from both office workers and mines workers. It was observed that almost 100% of thumb impression obtained from office worker were free from any major deformities which could interfere with pattern identification or identifying ridge characteristics. But the scenario was somewhat different for the mineworkers, where the percentage of deformity ranged from around 10% to 100% in selected persons. Meaning that some of the fingerprints were badly deformed in which only ridge characteristics were options for individualization of the fingerprint.

Discussion

The collected thumb impressions were processed with TrasoScan to identify the pattern. During the study, it was found that some impressions were severely distorted, so ridge characteristics were used for personal identification purposes. In this case, the identification of patterns based on ridge flow, minutiae, delta and core position for the non-distorted patterns. For this purpose, with the help of Trasoscan first of all 25 fingerprints of office workers and mine workers were studied. Out of 25 prints for office workers 13 were loop, 10 whorls, 2 were arch, while in the case of mineworkers in 12 prints no patterns were identified i.e., in around 50% of workers the patterns were destroyed (**Figure. 3a-c**) if compared with office workers which were 100% identified (**Figure. 4a-c**).

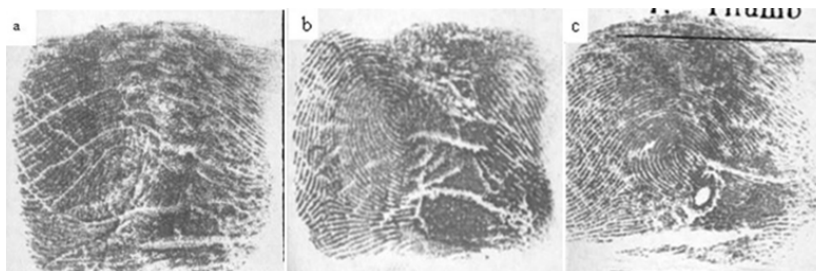


Figure 3. The thumbprints of the occupational engaged person (Mineworkers)



Figure 4. The thumbprints of the occupational engaged person (Office Workers)

If one compares the visible patterns between office workers and mine workers, more than 50% of office workers have loop while it is 30% for mine workers. Mineworkers have a slightly better ratio for whorl pattern, i.e., around 50% against 40% for office workers. Talking about an arch pattern, it was less than 10% for office workers and less than 20% for mine workers. After the identification of patterns, the next step was to identify delta and core for loop and left delta and right delta for whorl pattern. For loop pattern ridge counting was performed and for whorl pattern ridge tracing was performed. In the case of ridge counting, the delta and core of the loop were noted and intermediate ridges were counted. Based on the pattern identification and ridge characteristics, almost 100% (**Table 1**) of prints from office workers were identifiable. Thus it was decided to carry out further study only on mine workers. The identifiable loop pattern in mineworkers was four but ridge counting could only be carried out on a single print. Thus it could be concluded that only in 25% of loop pattern ridge tracing was performed.

Table 1. Thumb impression comparison for the office workers.

S.No.	Fingerprint identifiability	Type of pattern	Core/ delta/ core	Ridge tracing/ counting	Matching based on 9 points	In case of non -matching of 9 points, identification points on quadrants i.e. A, B, C and D			
						ULQ (A)	URQ (B)	LRQ (C)	LLQ (D)
1.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
2.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
3.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
4.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
5.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
6.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
7.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
8.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
9.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
10.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
11.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
12.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
13.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
14.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
15.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
16.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
17.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
18.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
19.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
20.	Yes	Arch	NN	NO	Yes	-	-	-	-
21.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
22.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
23.	Yes	Arch	Y	No	Yes	-	-	-	-
24.	Yes	Loop	Y	Yes	Yes	-	-	-	-
25.	Yes	Loop	Y	Yes	Yes	-	-	-	-

Y=Yes

Similarly, 7 whorl patterns were identified in mine workers, but ridge tracing was performed only on three patterns, whereas in four patterns, it was not possible. The ridge tracing was in the range of 1-3 (**Table 2**). Once identification of fingerprint pattern is not possible, there are remote chances of identifying delta and core or other ridge characteristics in fingerprint obtained from mine workers.

Table 2. Thumb impressions comparison for mines workers.

S.No.	Fingerprint identifiability	Type of pattern	Core/ delta/ core	Ridge tracing/ counting	Matching based on 9 points	In case of non -matching of 9 points, identification points on quadrants i.e. A, B, C and D			
						ULQ (A)	URQ (B)	LRQ (C)	LLQ (D)
1.	Yes	Loop	YY	Yes	Yes	-	-	-	-
2.	No	No	No	No	No	0	0	0	0
3.	Yes	Whorl	YYY	No	No	4	0	3	0
4.	Yes	Arch	NN	No	Yes	-	-	-	-
5.	Yes	Whorl	YYY	No	Yes	-	-	-	-
6.	No	No	NN	No	No	0	0	2	3
7.	Yes	Loop	NN	No	No	0	0	0	0
8.	No	No	NN	No	No	0	0	0	0
9.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
10.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
11.	No	No	NN	No	No	3	0	0	4
12.	No	No	NN	No	No	2	1	0	4
13.	Yes	Loop	YY	No	No	1	0	0	3
14.	No	No	NN	No	No	2	0	0	4
15.	No	No	NN	No	No	2	0	0	3
16.	Yes	Arch	NN	No	No	0	0	0	3
17.	Yes	Loop	NN	No	No	0	2	0	4
18.	No	No	NN	No	No	0	0	0	3
19.	No	No	NN	No	No	0	2	0	2
20.	No	No	NN	No	No	0	0	0	2
21.	Yes	Whorl	YNY	No	No	2	0	0	2
22.	Yes	Whorl	YYY	No	No	0	2	0	3
23.	No	No	NN	No	No	0	0	0	0
24.	Yes	Whorl	YYY	Yes	Yes	-	-	-	-
25.	No	No	NN	No	No	0	0	0	3

Y=Yes

The next step in the study was to identify fingerprints based on 9 points of identification. For this purpose, the matching points noted were dots, short ridge, ridge ending, bifurcation, island etc. In office workers counting of 9 points for matching could be performed easily, but in mines workers counting of 9 points for matching was possible only in 6 impressions. For those fingerprints where the identification of the whole fingerprint on 9 point matching was not possible, the pattern was then further divided into 4 quadrants, namely ULQ (A), URQ (B), LRQ (C) and LLQ (D). For this study, only 15 fingerprints were taken as the remaining prints were either identifiable or completely

distorted. Out of the 15 prints in 9 prints, the patterns were not identifiable, while in 6 prints patterns were identifiable, but ridge counting, tracing or 9 points identification was not possible. If one divides the fingerprint into 4 quadrants and identifies the ridge characteristics, it was observed that a maximum of 4 ridge characters was identified and could be used for matching. In the 15 studied fingerprints, only in 5 prints, 4 ridge characteristics were identified in a single quadrant. It is pertinent to mention here that there was no single print where two quadrants out of four had four matching points. In nine prints 3 ridge matching points in one quadrant, eleven prints with two matching points in one quadrant, and two prints with one matching point in one quadrant were observed. During the study, it was also observed that there was no single print where all the 4 quadrants had matching points, while only one finger had 3 quadrants with matching points. The maximum number of the quadrant with a matching point was two quadrants, found in 10 thumb impressions. In 4 thumb impressions, only one quadrant was there with legible matching points. In all four quadrants, quadrant LLQ (D) has the maximum probability of having matching points, while the quadrant with the least probability of matching points was quadrant URQ (B) and LRQ (C). Thus, for those prints where pattern identification, ridge counting or ridge tracing, 9 points matching is not possible, it is a good option to divide the fingerprint into 4 quadrants and set in the identification point.

Conclusions

With the advancement of science and the invention of new gadgets in the area of identification, the present scenarios of personal identification are now shifting towards biometric-based identification. Identification by fingerprint is one of the most preferred and used biometric-based techniques for identification. Often distortion in fingers either natural or accidental may cause problems with the biometric-based identification process. The present study is a simple pilot study carried out on a limited population by selecting a working class belonging to office workers and mine workers. This is important because many schemes are now available in India only by identifying the person through the thumb impression (right-hand in case of male). The results obtained were quite surprising, for all office workers the thumb impressions were easily identifiable. But this was not the case for mineworkers where it can be concluded that almost 50% of mine workers hand shows deformation in ridge charts due to their nature of work. Even with minutiae details, the pattern identification of mines workers very difficult because their friction ridges were significantly distorted. Based on the present study, it could be easily concluded that these mines workers will be unable to get all the benefits offered under various government schemes, where identification based on fingerprint is mandatory. The problem is not only with the identification in civil cases but also in criminal cases where any one of such person gets involved in crime.

References -

- Sharma, B.R. (2005) *Forensic Science in Criminal Investigation & Trials*. Universal Law Publishing Company, chap. 11, 137-146.
- Maltoni, D., Dario M., Jain A.K., & Prabhakar, S. (2009) *Handbook of fingerprint recognition*. Springer Science & Business Media, chap. 1, 30-34.
- Pawar, R.P., Sharma, G., & Bose, D. (2017) *Application of tube repair rubber patches for lifting of fingerprints and their preservation by trasoscan laboratory imaging system*. Ind J. of Criminology and Criminalistics 12: 93-98.
- Peter, K., Higgins, P.T., Higgins, K.M. & Fox, L.K. (2005) *Automated fingerprint identification systems (AFIS)*. Elsevier, chap 1, 3-13.
- Sharma, G., Pawar, R.P., Athar, M., & Bose, D. (2017) *Use of Geru powder as an Alternative Powder in Powder Dusting Method for Developing the Latent Fingerprints on Various Nonporous-Smooth Surfaces*; The Indian Police Journal 64(4):0537-2429; 17-31.
- Brent T.C. (2012) *The Fingerprint sourcebook published by National Institute of Justice*, Chap. 4, 4-9.
- *Trasoscan manual* (2017) 5-15,
- *Lucia Forensic Manual* (2017) 1-20.

पुस्तक-समीक्षा

चिन्मय भारत की जातीय अस्मिता और जयशंकर प्रसाद*

अम्बिकादत्त शर्मा

जातीय अस्मिता के प्रश्न और जयशंकर प्रसाद — नामधेय इस पुस्तक में जयशंकर प्रसाद केन्द्रित विजय बहादुर सिंह के अध्ययन, अध्यवसाय और अनुभव ने एक विस्तृत फलक पर अतीत को वर्तमान से जोड़ते हुए आकार और अर्थ दोनों ग्रहण किया है। इस किताब की अवधारणात्मक योजना का 'आकार' जयशंकर प्रसाद का सभ्यताबोध है और उसका 'अर्थ' भारत की जातीय अस्मिता पर आरोपित होती आ रही मिथ्या अस्मिताओं की पड़ताल और उनका अपवारण है। स्वाभाविक है कि ऐसी सुचिन्तित अवधारणात्मक योजना और अन्तर्दृष्टि के साथ जब कोई कृति अस्तित्व में आती है तो उसमें एक कवि/साहित्यकार महज एक लेखक नहीं होता बल्कि एक विचारक की भूमिका में प्रस्तुत होता है — अपने निजी अनुभवों और समझदारी के साथ। इस किताब में विजय बहादुर सिंह एक लेखक मात्र होने की सीमा का अतिक्रमण कर स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतीयता की पहचान और अस्मिता-संकट को केन्द्रीय प्रश्न बनाकर उस पूरे युग से संवाद करते हुए बतौर एक विचारक की भूमिका में प्रस्तुत हुए हैं। यही कारण है कि इस पुस्तक के सभी निबंधों में विचार-केन्द्रित अन्विति के बजाय विचारक-केन्द्रित अन्विति अधिक उभरकर सामने आई है। विचारों में विचारक-केन्द्रित अन्विति अनुप्रासयुक्त पदों से निर्मित एक वाक्य की तरह होती है, जिसके अलग-अलग पद आनुप्रासिक सौन्दर्य के साथ समेकित अर्थ का अभिधान करते हैं। इस किताब के सभी निबंधों में इसी प्रकार का आनुप्रासिक सौन्दर्य और एकवाक्यता है।

जयशंकर प्रसाद की रचना-संसार को केन्द्र में रखते हुए उस पूरे युग की ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक और पुराणपंथी चेतना की समालोचना में निबद्ध इस किताब के सभी निबंधों के माध्यम से विजय बहादुर सिंह ने मानो समीक्षा के सत्याग्रह का एक बड़ा आयोजन किया है। साहित्यिक समीक्षा का यह सत्याग्रह प्रसाद की कामायनी के बरक्स चिन्मय भारत के सभ्यता बोध और उसके सत्य तथा धर्म का पुनराविष्कार है। इस पुनराविष्कार की अपरिहार्यता को ही उन्होंने प्रसाद की सर्जना के मूलस्वर के रूप में पकड़ा है और सफलता पूर्वक यह दिखाया है कि किस प्रकार प्रसाद अपने समय से लड़ते हुए भारत की जातीय अस्मिता की हकियत को फिर से प्राप्त करने के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। इस किताब में संकलित-सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और

*समीक्ष्य पुस्तक : जातीय अस्मिता के प्रश्न और जयशंकर प्रसाद।

लेखक : विजय बहादुर सिंह, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2021 - मूल्य : 650/-

मध्य भारती-80, जनवरी-जून, 2021, ISSN 0974-0066, pp. 245-247

यूजीसी केयर लिस्ट, गुप-सी (मल्टीडिसिप्लिनरी), क्र.सं.-15

प्रसाद, सभ्यता का नवनिर्माण और प्रसाद, प्राचीन भारत और प्रसाद, प्रसाद और उनका भारत स्वप्न जैसे निबंधों के माध्यम से प्रसाद की वैचारिक लड़ाई को विजय बहादुर सिंह ने विदग्धता के साथ व्यंजित किया है। इन निबंधों के माध्यम से उन्होंने भारतीय पुनर्जागरण की उस चेतना के केन्द्रीय महत्त्व को भी उद्घाटित किया है जिसके माध्यम से ही भारत की प्रतिष्ठा भारतीय चित्त में हो सकती है। यह बात अलग है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत का इतिहास और उसमें बुना गया सामाजिक व्याकरण अधिकांशतः यूरोपीय चित्त में भारत की प्रतिष्ठा करने वाला रहा है। पुनर्जागरण कालीन सुदृढ़ वैचारिक भूमि के बावजूद आजाद भारत में हम 'स्वरूप-विस्मरण' के शिकार हुए, यही एक बड़ी विडम्बना है। परंतु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इसके लिए पश्चिमी आधुनिकता के उदारवादी-पूँजीवादी और समाजवादी-साम्यवादी विकल्पों के प्रति हमारी अविचारित आत्ममुग्धता जितनी जिम्मेवार है उतनी ही वह विचारधारा जो पश्चिम का प्रतिनायक विकल्प प्रस्तुत करने के दम्भ में भारतीय आत्मा का ही पुराणपंथी कायान्तरण कर देती है और अतीत के निष्क्रिय गौरव बोध के प्रति हम जातिस्मर बनकर ही रह जाते हैं। आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी यद्यपि प्रसाद के प्रारंभिक लेकिन प्रबुद्ध समीक्षकों में शुमार किये जाते हैं लेकिन वह भी भारतीय पुनर्जागरण की 'चिति' को प्रसाद की रचना-संसार में उस तरह पकड़ पाने से चूक गये जिस तरह विजय बहादुर सिंह पूरे आलोचनात्मक विवेक से देख पाये हैं। वास्तव में इन्होंने केवल देखा ही नहीं बल्कि प्रसाद के पूर्ववर्ती-अनुवर्ती समकालीनों की वैचारिकी में उसे सम्प्लवित होते दिखाया भी है।

विजय बहादुर सिंह की इस कृति की सबसे बड़ी विशेषता या यूँ कहें कि महत्त्वपूर्ण स्थापना गाँधी को, उनके हिन्द-स्वराज को, प्रसाद की कृतियों में और उससे भी आगे उनकी सर्जनात्मक चेतना में प्रतिध्वनित होते देखना है। केवल जयशंकर प्रसाद का 'मनु' ही गाँधी के हिन्दस्वराज का पूर्वपक्ष और 'श्रद्धा' उत्तरपक्ष नहीं बल्कि उन्होंने दो कदम आगे बढ़कर हिन्द स्वराज के पूर्वपक्ष (आधुनिक सभ्यता की आलोचना) और उत्तरपक्ष (सत्यान्वेषी भारत का अहिंसक सभ्यता बोध) को अपने-अपने तरीकों से साधते हुए उस युग के बहुतेरे इतिहासकारों समाजवैज्ञानिकों, नृतत्वशास्त्रियों और साहित्यकारों को इस विमर्श में शामिल किया है। इस तरह इस किताब में 'कामायनी' का एक पुनर्पाठ भी अन्तर्व्याप्त है जो गाँधी की हिन्दस्वराजी परियोजना की पूरक प्रतीत होती है। वह इस अर्थ में कि गाँधी के हिन्दस्वराज का मुखर पक्ष आधुनिक सभ्यता, शैतानी सभ्यता की कटु आलोचना है लेकिन उसके पार्श्व में जिस सभ्यता बोध का प्रस्ताव है, उसी का उद्घाटन कामायनी का मुखरित स्वर है। विजय बहादुर सिंह की यह समझ समझदारों के लिए भी एक चकित कर देने वाली सूझ से कम नहीं। वस्तुतः गाँधी का ऐसा उपजीव्य होना इसलिए संभव हुआ क्योंकि अहिंसक सत्यान्वेषी भारत के चिन्मय स्वरूप का एक विचारक के बतौर व्याख्याता एवं प्रतिस्मारक मात्र वह नहीं थे, बल्कि उसे अपने जीवन में उतारते- बरतते हुए जीते-जागते और जगाते उदाहरण थे।

यद्यपि गाँधी की हिन्दस्वराजी परियोजना का सम्प्लवन दिखाने में विजय बहादुर सिंह बहुत सफल हुए हैं परंतु इस सम्प्लवन के एक तार को इस पुस्तक में और भी जोड़ा जाता तो बहुत अच्छा होता। वह तार है — टैगोर, गाँधी और प्रसाद। टैगोर का 'गोरा' मानो रूमानी गाँधी है। उसके चाल-चलन और चरित्र में गाँधी की आहट सुनाई पड़ती है और प्रसाद की कामायनी में 'श्रद्धा' मूल्यबोध की वह जमीन है जिस पर खड़े होकर मानो गाँधी 'मनु' रूपी आधुनिक सभ्यता को सम्बोधित कर रहे हैं और अन्ततः 'मनु' का रूपान्तरण होता है — मानो 'मनु' की चेतना में आधुनिक सभ्यता के व्यामोह का पटापेक्ष। वास्तव में यही वह जमीन है जिस पर विजय बहादुर सिंह ने प्रश्नवाची आलोचनात्मकता के साथ 'मनु' के प्रसाद के अहम पात्र होने और न होने की समालोचना की है और मुक्तिबोध कृत कामायनी की समीक्षा को एक तरह से खारिज ही कर दिया है। मनु के

अहम पात्र होने का निहितार्थ यह है कि 'श्रद्धा' कामायनी का आदर्शभूत होते हुए भी स्थिर पात्र है जबकि 'मनु' गतिशील और विकसित होता हुआ पात्र है। कामायनी की परियोजना में आधुनिक सभ्यता के व्यामोह से निजात पाने के लिए चेतना में जिस रूपान्तरण की अपेक्षा है, वह भी 'मनु' में ही घटित होती है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि एक विकसित होता गतिशील पात्र आदर्शभूत लेकिन स्थावर पात्र की अपेक्षा लोक-चेतना को अधिक प्रभावित करता है। यदि कामायनी की आदर्शभूत पात्र 'श्रद्धा' को भी उत्तरोत्तर विकसित होते हुए पात्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता तो कामायनी की विचार-परियोजना अपनी उच्चतर प्रभावमत्ता को प्राप्त कर सकती थी। जयशंकर प्रसाद ऐसा क्यों नहीं कर पाये, इसका कारण भी बड़ा मार्मिक है। इस बात को जयशंकर प्रसाद के अनन्य स्नेही पंडित केशवप्रसाद मिश्र ने रेखांकित भी किया है। वह कामायनी की रचना प्रक्रिया के दौरान ही राज यक्ष्मा से ग्रसित हो गये थे। उन दिनों इस लाइलाज बीमारी के चलते उन्हें आसन्न मृत्यु का भय सताने लगा था। इस कारण वे जल्दबाजी में ही सही लेकिन कामायनी को पूरा कर लेने का संकल्प की ताकत पर मृत्यु को टाले जा रहे थे।

कुल मिलाकर इस किताब में भारत की जातीय अस्मिता की जाँच और उसके संकटग्रस्त होने की पड़ताल करते हुए विजय बहादुर सिंह ने औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक दुष्प्रभावों को परत-दर-परत खोलने का सफल प्रयास किया है। पश्चिमी आधुनिकता के सांभ्यतिक अभियान को ही असली शत्रु के रूप में समझना ही उनकी सफलता का मर्म है। वास्तव में भारत के सांस्कृतिक-संकट और अस्मिता-संकट के लिए पश्चिमी आधुनिकता की भूमिका वैसा ही रही जैसे कैकेई लांछित हुई, राम को वनवास हुआ, राजा दशरथ की मृत्यु हुई और क्या-क्या नहीं हुआ, लेकिन यह सब कुछ करने में मंथरा नाम की आधुनिकता चुपके से सफल होती रही। इसीलिए इस किताब में जयशंकर प्रसाद के बहाने एक साहित्यकार की सभ्यता समीक्षा के क्षेत्र में आवाजाही संभव हो पायी है। इस आवाजाही में विजय बहादुर सिंह प्रसाद के सपनों के सभ्यताबोध और चिन्मय भारत की जातीय अस्मिता की सुगंध लेकर बारंबार अपनी साहित्यिक जमीन पर लौट आते हैं और उसका एक मानस मानचित्र बनाने का सार्थक एवं समीचीन प्रयास करते हैं। ऐसा मानचित्र जिसके सहारे पश्चिमी आधुनिकता और पुनरुत्थानवादी पुराणपंथी देशज विचारधारा के दो पाटों के बीच पिसती हुई, जर्जरित होती जा रही सनातन भारत की सांस्कृतिक अस्मिता को फिर से पहचाना और आत्मसात् किया जा सके। भारत को भारतीय चित्त में प्रतिष्ठित करने वाले इस सारस्वत उपक्रम के माध्यम से विजय बहादुर सिंह ने स्वतंत्रतापूर्व और स्वातंत्र्योत्तर युग की साहित्यिक वैचारिक सर्जना की परिक्रमा करते हुए उस स्वर को फिर से केन्द्रीय विमर्श का मुद्दा बनाकर खड़ा किया है जो वास्तव में पश्चिमी आधुनिकता को ही भारतीय परिधान में प्रस्तुत करने वाली विभ्रमकारी वैचारिक बहुलता आज में कहीं गुम सा हो गया है।

दर्शन विभाग,

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.) 470003



आज़ादी का
अमृत महोत्सव